ग्रन्थ संख्या—१३८
प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती भंडार
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रथम-संस्करण
सं० २००६ वि०
मूल्य ५)

मुद्रक—
हरप्रसाद वाजपेयी,
कृष्ण-प्रेस, २६ द्विवेद रोड, प्रयाग।

अपने पाठकों से

जो पाठक मुझे एक गम्भीर कथा-लेखक अथवा नाटककार के रूप में जानते हैं, उन्हें यह संग्रह थोड़ा बहुत आघात अवश्य पहुँचायेगा। कहाँ 'पिंजरा', 'अंकुर', 'निशानियाँ' तथा 'दो धारा' की कटु-यथार्थ से ओत-प्रोत, रूमान में भी दर्द का पहलू रखने वाली, गम्भीर कहानियाँ और कहाँ यह 'छींटे'। परन्तु जो मित्र मेरे निकट हैं, उन्हें मालूम है कि मेरे जीवन का एक पहलू यह भी है। हँसना-हँसाना मुझे प्रिय है। कठिन से कठिन परिस्थिति में भी मेरी यह आदत नहीं जाती। पीड़ा से आह उठती है, पर कई बार परिस्थिति की विषमता अथवा हास्यास्पदता ओठों पर मुस्कान ला देती है और कराहट के साथ साथ अनायास ही ओठों पर व्यंग्य आ जाता है।

बीमारी के आरम्भिक दिनों की बात है। शूल-रोग के दोहरे आक्रमण से पीड़ित मैं पड़ा था। पत्नी लाहौर गयी हुई थी। मेरे पास हैदराबाद का एक मुसलमान युवक ठहरा हुआ था। वही मेरी सेवा-शुश्रूषा कर रहा था। आया तो बड़े श्रद्धा-भाव से था। उसकी सेवा में बड़ी निष्ठा थी। पर उसे यह जानकर बड़ा आघात पहुँचा कि मैं उतना आस्तिक नहीं और खुदा दुआ में मेरा कुछ ऐसा विश्वास नहीं! (वह बग़ल में मुसल्ला* लेकर हैदराबाद से चलने वाला था और मैं संध्या-बदन से विरत, नियम-निष्ठा *(Form)* के बदले धर्म के सार—सत्य का—विश्वासी!) उस समय जब दो बार अनीमा लेने के बाद, निष्प्राण सा मैं लेटा हुआ था, आँतें, लगता था, जैसे छुरे से कट रही हैं, उस अतीव पीड़ा के समय, वह मेरे निकट होकर बड़े भोलेपन से बोला, "क्यों अश्क जी, क्या आप

---

*दरी चटाई आदि जिस पर नमाज़ पढ़ते हैं।

अब भी खुदा में यकीन नहीं रखते !" मैं कराह रहा था, लेकिन जब मैंने उसकी ओर देखा, तो अनायास मुझे हँसी आ गयी।

और परिस्थितियों, पात्रों, अथवा घटनाओं की हास्यास्पदता सदैव मुझे हँसा देती है। यह अजीब बात है कि जब भी मैं बीमार अथवा दुखी होता हूँ तो मैं और भी अधिक हँसता-हँसाता हूँ। लिखता भी हूँ तो कई बार अनायास मेरी लेखनी में हास्य का पुट आ जाता है। पहले भावुकता बड़ी दर्दभरी कहानियाँ लिखा देती थी, अब प्रौढ़ता उसमें हास्य अथवा व्यंग्य का समावेश कर देती है। यह भी हो सकता है कि यह हँसना-हँसाना टीस को भुलाने का दूसरा नाम हो। कवि कॉलरिज ने कहा भी है :—

………Laughter oft is an art
To drown the out cry of the heart

इस अपनी बीमारी में भी मैं ने निरन्तर हास्य-व्यंग्य की कहानियाँ लिखी हैं। इस संग्रह में सभी नयी हों, यह बात नहीं। पिछले अठारह वर्ष में मैं ने जितनी भी इस प्रकार की छोटी बड़ी कहानियाँ लिखी हैं, वे सब इस संग्रह में संकलित कर दी हैं। दो-तीन कहानियाँ अन्य संग्रहों में भी छपी हैं, शेष सब नयी हैं।

इच्छा थी कि 'हिन्दी में हास्य रस' पर एक लेख भी इस संग्रह में दूँ, पर एक तो समय का अभाव है, दूसरे तबीयत भी ठीक नहीं, फिर लेख तो आलोचकों के काम की चीज़ है, पाठकों को यदि कोई कहानी पसन्द न आये तो लेख उनकी अधिक सहायता नहीं करता। यहाँ केवल इतना कहना चाहता हूँ कि जहाँ कुछ पुरानी कहानियों में हास्य अथवा व्यंग्य स्थूल है, वहाँ कुछ नयी कहानियों में बड़ा सूक्ष्म है। सभी पाठकों को सभी कहानियाँ पसन्द आयेंगी, ऐसी न आशा है, न आकांक्षा। हाँ, यदि सभी पाठक इसमें अपनी अपनी रुचि की कुछ सामग्री पा जायँ तो मैं अपना प्रयास सफल समझूँगा।

पुस्तक के अन्त में, कहानियों के लेखनकाल सम्बन्धी दो अनुक्रमणिका जोड़ दी हैं—ताकि जो पाठक अथवा आलोचक किसी कहानी का रचना-काल जानना चाहे उन्हें सुविधा हो।

देवदार होटल, अलमोड़ा
८ मई १९४९

उपेन्द्र नाथ अश्क

क्रम

तकल्लुफ़

"आयें जनाब शौक़ से घर आपही का है।"
(दिल में है यह मगर कि कहीं सच ही आ न जायें,
फंदे से इन जनाब के भगवान ही बचायें !)

अपनी पत्नी को चाय और नाश्ते की सामग्री के सम्बन्ध में सब-कुछ समझा कर, रशीद भाई बालकनी में आये। उन्होंने दरी की सिलवट निकाली; तिपाई के रंगीन कवर को झाड़ कर फिर बिछाया; बेंत की कुर्सियों की गद्दियाँ ठीक से रखीं; दीवार पर टँगे चित्रों के फ़्रेम साफ़ किये; तनिक पीछे हट कर बालकनी की उस सीधी-सादी लेकिन साफ़ और सुरुचि-पूर्ण सजावट पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डाल कर संतोष की साँस ली; कुर्सी में धँस कर पाँव रेलिंग पर पसार दिये और डायरेक्टर क़ादिर और उनकी बेगम के आने की प्रतीक्षा करने लगे।

छींटे

रशीद भाई मँझले क़द के मोटे आदमी थे। मोटे थे, लेकिन थल-थल, पिल-पिल नहीं। उनके गाल, गर्दन, बाजू, पेट, रान, पिंडलियाँ—सब उनके क़द को देखते हुए, मांस से भरी थीं, परन्तु मांस कहीं भी लटकता न था—न उनके फूले-फूले गालों पर, न गर्दन पर, न पेट पर, न और कहीं। कदाचित यही कारण था कि अपने मोटापे के बावजूद उनमें काम करने की अपूर्व शक्ति थी। वे फिल्मों के लिए गीत लिखते थे; कहानी, सम्वाद और सिनारियो लिखते थे; अवसर मिलने पर अभिनय भी कर लेते थे और इन सब के लिए जिस दौड़-धूप की आवश्यकता होती है, उससे भी जी न चुराते थे। लेकिन इस सब निष्ठा और परिश्रम के बावजूद (उनका गुज़ारा चाहे चलता रहा हो)उन्हें ख्याति पाने का कोई समुचित संयोग न मिला था। उनकी प्रतिभा (ऐसा उनका विचार था) स्टंट फ़िल्मों के दलदल में खत्म हुई जा रही थी और वे निरन्तर उसे बचाने के प्रयास में लगे रहते थे। उनकी बड़ी साध थी, कि उन्हें किसी 'सोशल पिक्चर' की कहानी (न हो तो सम्वाद ही) लिखने का अवसर मिल जाय। एक बार अवसर मिला, तो उन्हें आशा थी कि वे स्टंट के दलदल से सदा के लिए निकल जायँगे। फिर...फिर...उनके स्वप्न सिनेमा की दुनिया में काम करने वाले प्रत्येक व्यक्ति की भाँति डायरेक्टरी से होते हुए प्रोड्यूसरी के शिखर पर जा पहुँचते थे।

दरवाज़े पर दस्तक हुई। रशीद भाई उचक कर उठे, जैसे उन्हें स्प्रिंग लगा हो। ओंठों पर वे हल्की-सी अभिवादनोचित, खुशामद-भरी मुस्कान ले आये और धड़कते हुए दिल के साथ उन्होंने दरवाज़ा खोला। वे आदाब अर्ज़ कहते हुए, सिर को, झुकाने ही वाले थे कि उनकी नज़र फल वाले पर गयी, जिसने

उन्हें देख कर न जाने कंठ के किस भाग से आवाज निकाली—"संतरा, केला पाईजे साब ?"※

रशीद भाई की वह मुस्कान, जिसमें न जाने स्वागतकी कितनी चीनी और खुशामद का कितना मसका† मिला था, निमिष भर में उनके ओंठों से विलुप्त हो गयी। एकदम कठोर होकर गेलरी में से रसोई-घर की ओर देखते हुए, उन्होंने कर्कश स्वर में नौकर को आवाज दी—"छोकरा, मेम साहब से बोलो, फल वल माँगता हो, तो थोड़ा ले लें।" और दरवाजा बन्द करके, पूर्ववत् कुर्सी में जा धँसे।

डायरेक्टर क़ादिर से उनकी भेंट मिस शमीमके जन्म-दिवस के उपलक्ष में दी जाने वाली एक पार्टी में हुई थी। डायरेक्टर क़ादिर 'रत्न लिमिटेड' के सफल निर्देशक थे। उन्होंने जीवन का आरम्भ तो प्रोफेसरी से किया था, पर उन्हें सफलता फिल्म-लाइन में मिली थी। चार हिट फिल्में उनके क्रेडिट पर थीं, और अब उनकी माँग हर जगह थी। पिछले वर्ष अचानक यक्ष्मा से पीड़ित होकर वे मिराज के सेनेटोरियम में चले गये थे। अबकुछ स्वस्थ होकर लौटे थे तो उनके सामने एक बहुत बड़ा प्रोग्राम था, बीमारी-ही-बीमारी में वे तीन फिल्मों की कहानियाँ और सिनारियो लिख लाये थे और आते ही 'बम्बई टाकीज' से उनका कन्ट्रैक्ट भी हो गया था। पहली भेंटमें रशीद भाई ने उनके पहले फिल्मों की विवेचनात्मक-प्रशंसा करके उन पर इतना प्रभाव डाला कि वे अपनी पत्नी-सहित उनके यहाँ चाय पर

※ संगतरा, केला चाहिए सरकार

† मसका = मक्खन

आने को तैयार हो गये थे। डायरेक्टर क़ादिर की स्वीकृति पर रशीद भाई इतने प्रसन्न हुए थे कि उल्लास और आवेग के मारे उन्हें उस रात नींद न आयी थी। बार-बार वे अपनी पत्नी को चाय के सिल-सिले में आदेश देते रहे थे।

"अगर वे न आये, तो..." वहीं कुर्सी पर बैठे-बैठे सहसा रशीद भाई के मन में ख़याल आया, और उनका दिल धक से रह गया।

तभी दरवाज़े पर दस्तक हुई। रशीद भाई उठे। सम्भावित निराशा ने उनके ओंठों से मुस्कान छीन ली थी, पर अब भी उत्सुकता वहाँ बनी हुई थी। दरवाज़ा खोला, तो देखा, सामने डायरेक्टर क़ादिर और उनकी बेगम खड़ी हैं। रशीद भाई सहसा घबरा गये। सिर को झुका कर, 'आदाब अर्ज़' करना भूल गये। हाथों को मलते और दाँत निपोरते हुए, हिंहिं-हिंहिं करते "आइए, आइए" कहते, वे उन्हें बालकनी में ले आये और कुर्सियों पर प्रतिष्ठित कर दिया। फिर वे अन्दर गये, और अपनी बेगम को ले आये और एक-दूसरे से परिचय कराया। रशीद भाई की बेगम उन्हीं की तरह दोहरे शरीर की हँस-मुख स्त्री थी। हँसती हुई बेगम क़ादिर के सामने आ बैठी। रशीद भाई ने बात चलाने की ग़र्ज़ से पूछा—"कहिए, अब आपकी तबीयत तो ठीक है?"

"ठीक तो है," डायरेक्टर क़ादिर बोले—"लेकिन अगर मिस शमीम या हम जल्दी ही कहीं दूसरी जगह न गये, तो यक़ीनन फिर ख़राब हो जायगी।"

रशीद भाई ने आश्चर्य से मुँह बा दिया। क्षण भर बाद बोले—"पर शमीम वाला मकान तो आप ही का है?"

अपनी गम्भीरता के बावजूद डायरेक्टर क़ादिर हँस दिये। बोले—"वह तो है, पर उन्हें निकाला तो नहीं जा सकता। मकान की

कितनी क़िल्लत है, तुम जानते हो। मैं तो बीमारी में भी बराबर किराया देता और मकान में किसो को फटकने न देता, लेकिन शमीम मुझे देखने मिराज गयी थी। नयी-नयी लाहौर से आयी थी। मकान की उसे बड़ी दिक्कत थी। मैंने कहीं भूले से कह दिया, कि अगर तुम्हें कहीं मकान न मिला, तो तुम मेरे यहाँ ही रह लेना। बस उसी तकल्लुफ़ की सजा भुगत रहा हूँ। वह मिराज से मुझे देख कर लौटी, तो मेरे ही मकान में चली आयी, और आज तक वहीं डटी है।"

इस मरहले पर बेगम रशीद उठ गयीं कि मेहमानों के लिए चाय का आयोजन करें।

रशीद भाई ने पूछा—"लेकिन मिस शमीम ने आपके लिये कुछ इन्तज़ाम तो कर दिया होगा?"

अब-की उत्तर बेगम क़ादिर ने दिया। वे छरहरे बदन और मँझले क़द की गम्भीर लेकिन स्फूर्तिशील स्त्री थीं। बी० ए०, बी० टी० थीं। डायरेक्टर क़ादिर यदि अब भी प्रोफेसर दिखायी देते थे तो वे भी किसी स्कूल की हेडमिस्ट्रेस से कम न लगती थीं।

"इन्तजाम कर दिया!" उन्होंने व्यंग के तीखे स्वर में कहा—"तीन कमरों के फ़्लैट में से वे हमें क्या दे देती? एक कमरा है। उसमें क्या आराम मिल सकता है? ये तो बीमार हैं। इन्हें अलग एक कमरा चाहिए?"

"एक कमरे से ज़्यादा न भी हो" डायरेक्टर क़ादिर ने अपने गंजे होते हुवे हुए सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—"पर सुकून का अहसास तो होना चाहिए। वहाँ तो लगता है, जैसे आठों पहर मच्छली-मंडी में बैठे हैं!"

"हा-हा, ही-ही, हो-हो बारहो घंटे मची रहती है।" बेगम क़ादिर ने रद्दा जमाया—"शमीम ने तो यहाँ बम्बई आकर वह रंग जमाया है, कि सारा-का-सारा बम्बई उसका दिवाना दीखायी देता है। नाच, गाना, पार्टियाँ, फ़्लैश और रम्मी ड्राइवें!—किसी पल भी तो चैन नहीं। इन्हें काम भी करना हुआ। उसका क्या, सेट पर गयी और चार लफ़्ज ग़लत-सलत बोल आयी। मुसीबत तो इनकी है, जिन्हें कहानी, सिनॉरियो, शॉट, डायलाग, कैमरे और साउन्ड तक का ख़याल रखना पड़ता है। इन सब बातों के लिए कुछ तो सोच दरकार है। और सोचने लायक शान्ति वहाँ पल भर को भी मुयस्सर नहीं।"

डायरेक्टर क़ादिर चुप रहे। केवल उनकी आकृति पर विवशता की रेखाएँ और भी गहरी हो गयीं। उस समय रशीद भाई के जी में आयी कि क्या न कर दें, कि सम्भव हो तो इतना फूलें, इतना फूलें, कि एक मकान बन जायँ जिसमें कादिर साहब अपने कुटुम्ब समेत आ जायँ और उन की परेशानी दूर हो जाय। "मेरे पास तो यही अढ़ाई कमरे हैं," वे बोले—"अगर इस बारजे को कमरा कहा जाय, नहीं तो मैं आप से यही कहता, कि आप यहीं चले आयँ।"

"आपकी इस मेहरबानी का शुक्रिया!" मिसेज़ क़ादिर मुस्करा कर बोलीं—"बात जगह की नहीं, बात सुकून-इतमीनान की है। आदमी अच्छे हों, तमीज़ वाले हों, तो कमरा छोड़, कोठरी में गुज़ारा किया जा सकता है। पर इसका क्या किया जाय, कि ऊँट की कोई भी कल सीधी नहीं! (मिस शमीम लम्बी, ढीली-ढाली युवती थी। ऊँट से उसकी उपमा देने पर श्रीमती क़ादिर मुस्करायीं।) यों तो कहने को जनाब ने डाइनिंग-टेबिल सजा रखा है,

पर टेबिल-मैनर्ज की अबजद* का भी इल्म नहीं। कपड़े पहनती हैं, तो मालूम होता है, जैसे अभी कॉलेज से डिग्री लेकर निकली है, पर खाने के मेज पर देहातनों को भी मात करती है। पानी पीते और खाते समय वह आवाज करती है, कि .खुदा की पनाह। सालन से हाथ और मुँह खराब कर लेती हैं। और फिर जाने कौन-कौन तबलची, सारंगी-सितार वाले और नौदौलतिए सेठ खाने के मेज पर आ बैठते हैं, और इस तरह खाते हैं कि मतली होने लगती है। कभी-कभी तो वह हूहक़ मचती है कि जी चाहता है— दीवार से सिर फोड़ लें!"

तभी बेगम रशीद के पीछे-पीछे नौकर चाय और नाश्ते का सामान लेकर आया और बेगम रशीद अपनी सहज-सरल मुस्कान के साथ अतिथियों को चाय पिलाने लगी। रशीद भाई ने इस अवसर का लाभ उठाते हुए, अपनी बात छेड़ी, कि स्वयं उन्हें मकान की कैसी दिक्कत थी, किस तरह जब बम्बई में जहाज फटा और जापानी आक्रमण के भय से लोग भागने लगे, तो समुद्र के किनारे यह सुन्दर .फ्लैट उन्हें मिल गया। .फ्लैट की बात करते-करते, उन्होंने फ़िल्म-सम्बन्धी अपने अनुभवों की बात चला दी और बताया कि उन्होंने किस-किस फ़िल्म में काम किया, किस-किस की कहानी, सम्वाद तथा गीत लिखे। बेगम क़ादिर इस विषय को दिलचस्प न पाकर, एक प्याली चाय पीने के बाद, बेगम रशीद के साथ उनका .फ्लैट देखने चली गयीं। और एकांत को उपयुक्त समझ, डायरेक्टर क़ादिर की प्रतिभा के प्रति अपनी श्रद्धा का बखान करते हुए, रशीद भाई ने अपना मन्तव्य प्रकट किया कि यदि डायरेक्टर .क़ादिर उन्हें अपने साथ काम करने

---

* अबजद = अलिफ़, बे, जीम, दाल (हिन्दी में क, ख, ग)।

का अवसर दें, तो उनका फ़िल्मी जीवन सफल हो जाय। आदि···
आदि।

डायरेक्टर क़ादिर बड़ी गम्भीरता से, एक अगम-सी मुस्कान ओंठों पर लिये, रशीद भाई की बातें सुनते रहे। और अन्त में उन्होने "क्यों नहीं, क्यों नहीं, मैं जरूर आपकी मदद करूँगा, आप कोई कहानी लिख कर मुझे दिखाइएगा"—जैसा अनिश्चित-सा वादा किया और अपनी बेगम को आवाज़ दी, कि देर हो रही है, प्रोड्यूसर वाडीलाल मिलने के लिए आने वाले हैं, जल्द चलना चाहिए।

बेगम क़ादिर वापस बालकनी में आयीं, तो उनका मुख खिला पड़ता था। "वाह! आपका फ़्लैट तो बड़ा सुन्दर और खुला है!" उन्होंने रशीद भाई से कहा—"जी खुश हो गया देख कर!"

रशीद भाई ने दोनों हाथ फैला कर एक्टरों के से अन्दाज़ में कहा, "कहिए क्या इरशाद है?"

निमिष-भर के लिए बेगम क़ादिर चुप उनकी ओर देखती रहीं, और फिर उनकी बात का मतलब समझ कर हँसी। "यह सब आपकी मेहरबानी है!" उन्होंने कहा—"मैं तो सिर्फ़ फ़्लैट की तारीफ़ कर रही थी।"

"नहीं, आपको पसन्द हो, तो आ जाइए। हम तो आपके साथ बालकनी में रह कर भी खुश होंगे। और यहाँ आपको और तकलीफ़ चाहे हो, दिमाग़ी परेशानी नहीं होगी।। सच!"

बेगम क़ादिर, उत्तर में केवल कृतज्ञता से हँसीं। सीढ़ियाँ उतरते-उतरते, उन्होंने अपने पति से कहा, कि अपनी नयी पिक्चर में रशीद भाई से डायलाग क्यों नहीं लिखवाते। और जब

डायरेक्टर क़ादिर टैक्सी में सवार हुए, तो हाथ मिलाते हुए, उन्होंने रशीद भाई से वादा कर दिया कि अभी जब वे प्रोड्यूसर वाडी लाल से मिलेंगे, तो डायलाग के लिए रशीद भाई का नाम तजवीज़ करेंगे।

रशीद भाई जब उन्हें छोड़ कर वापस आये, तो एक-एक के बदले, दो-दो, तीन-तीन सीढ़ियाँ चढ़ गये। जाते ही, उन्होंने उल्लास के मारे अपनी बेगम को आलिंगन में लेकर भींच लिया और फिर यह ख़बर देते हुए कि ख़ुदा ने चाहा तो डायरेक्टर क़ादिर की आगामी पिक्चर के डायलाग वे ही लिखेंगे, उन्होंने अपनी इस कार्यपटुता की दाद चाही।

"तुम सोच ही नहीं सकतीं, किस सफाई से मैंने डायरेक्टर क़ादिर से काम का वादा ले लिया। फ़िल्मी-दुनिया में सिर्फ़ क़ाबलियत को कोई नहीं पूछता। यह राज़ मैंने बरसों की ठोकरें खाने के बाद जाना है। क़ाबलियत के साथ चतुराई और चाबुकदस्ती की ज़रूरत है। बल्कि कई तो ऐसे भी हैं, जो क़ाबिल नहीं, पर होशियार और चतुर हैं। अब तुम्हीं कहो, अगर मैंने बेगम क़ादिर को यहाँ आकर रहने की दावत न दी होती, तो क्या मुझे यह काम मिल जाता? कभी नहीं! लेकिन मैं जानता हूँ, कहाँ, किस वक्त, क्या कहना चाहिए! वे लोग अपना इतना अच्छा फ्लैट छोड़ कर यहाँ क्या आयेंगे, लेकिन मेरी इस पेशकश ने उन पर असर तो किया और इस का फल तो मुझे अभी मिल गया ... ..

और रशीद भाई अपनी बेगम को अपनी इस कार्य-पटुता और चाबुकदस्ती पर विस्मित छोड़ कर, अपने जोश में अपनी कम्पनी के प्रोड्यूसर से मिलने चल दिये कि उस पर इस बात का रौब

ग़ालिब करके अगली पिक्चर के लिए उस से अच्छा कन्टट्रैक्ट प्राप्तकर लें।

रात को रशीद भाई लौटे, तो हल्की-सी पिये हुए थे। अपने प्रोड्यूसर से उनकी भेंट न हुई, तो उन्होंने अपने स्टंट फ़िल्म के हीरो शहबाज़ को जा पकड़ा था। उन्हें कुछ साधारण से अधिक प्रसन्न देख कर, जब शहबाज़ ने कारण जानना चाहा, तो उससे इस बात की शपथ लेकर, कि वह किसी को न बतायेगा, उन्होंने उसके कान में कहा कि वे डायरेक्टर .क़ादिर की आगामी पिक्चर के लिए डायलाग लिखने वाले हैं। और फिर बिना शहबाज़ के कहे, उन्होंने उसे वादा दे दिया, कि वे उसे अपनी पिक्चर में अव्वल तो हीरो, नहीं तो सेकिंड-हीरो अथवा विलेन का रोल अवश्य दिलाने की कोशिश करेंगे। इसी ख़ुशी में शहबाज़ उन्हें दादर-बार में ले गया, और स्कॉच के दो-दो 'छोटे पेग' दोनों ने चढ़ाये। शाहबाज़ का हाथ तंग था, नहीं तो रशीद भाई मित्रों के सहारे घर पहुँचते। लेकिन उसने रशीद भाई को एक सप्ताह बाद दादर-बार ही में दावत दी थी और विश्वास दिलाया था, कि इस बीच में वह अव्वल तो स्कॉच नहीं तो ड्राई-जिन की एक बोतल का अवश्य ही प्रबंध कर लेगा।

समुद्र में ज्वार आ रहा था। लहरें बढ़ी चली आतीं और तट से लौटने वाली लहरों से टकरा कर, दोनों ओर दूर तक झाग की दीवार-सी बनाती चली जाती थीं। आकाश पर तारों में चाँद की एक फाँक अपने प्रकाश से समुद्र की विशाल छाती पर आकाश-गंगा-सा ज्योति-पथ बना रही थी। रशीद भाई के मस्तक में हल्का

हल्का सरूर छा रहा था। उनका जी चाहता था, कि उस धीमे-धीमे उजियाले में सागर-तट पर घूमें; भीगे, रेतीले किनारे पर खड़े दृष्टि-सीमा तक समुद्र को आलोकित करते उस ज्योति-पथ को निहारें; दादर के पानी को समुद्र में गिराने वाले ढके हुए नाले की पक्की गोलाई पर जा बैठें और नीचे बढ़े आते समुद्र की लहरों के ऊपर पाँव पसार लें—यहाँ तक कि नाले की गोलाई से टकराने वाली लहरों के छींटे कभी-कभी उनके पैरों पर आ पड़ें। तभी सागर-तट से ठंडी हवा का एक झोंका आया। रशीद भाई को अपने नर्म-गर्म बिस्तर की याद हो आयी। बिस्तर के साथ ही उन्हें अपनी बेगम के नर्म-गर्म, गदराये, शरीर का ख़याल आया और समुद्र-तट पर घूमने का मोह छोड़, वे एक-एक के बदले दो-दो, तीन-तीन सीढ़ियाँ चढ़ते हुए ऊपर पहुँचे। और उन्होंने एक अँगुली बढ़ा कर, शरारत से लम्बी घंटी बजायी।

उनका ख़याल था, कि फ़र्श पर लटकते हुए घाँघरे-ऐसे गुजराती ड्रेस को फरफराती और यौवन के ज्वार को दुपट्टे की तहों से रोकने का विफल प्रयास करती, झींकती पर मुस्कराती, उनकी पत्नी आकर किवाड़ खोलेगी, और मीठे, रोष-भरे स्वर में कहेगी—"बस करो, बस करो! क्यों बच्चों की तरह घंटी बजाये जा रहे हो? बहरी तो नहीं हूँ!" लेकिन रशीद भाई भौंचक्के-से एक क़दम पीछे हट गये, जब उनकी पत्नी के बदले बेगम क़ादिर ने दरवाज़ा खोला, और नंगी तलवार-की-सी दृष्टि से उन्हें चीरते हुए से, मृदुल होने का असफल प्रयास-सा करते हुए, कर्कश स्वर में कहा—"ओह, आप! मैं तो समझी, कोई आवारा छोकरा परेशान कर रहा है! क्या रोज़ इसी तरह घंटी बजाते हैं आप?" और फिर स्वर को मृदुल बनाकर, रशीद भाई को अंदर आने का मार्ग

देते और हँसते हुए, उन्होंने कहा—"हम तो आ गये। स्टूडियो में प्रोड्यूसर वाडीलाल से आपके बारे में तय करते हुए घर पहुँचे, तो एक बेपनाह शोर मचा हुआ था। जाने कहाँ-कहाँ के लोग मिस शमीम को उसकी साल-गिरह पर ('देर आयद दुरुस्त आयद' पर यकीन रखते हुए) मुबारकबाद देने आये हुये थे। ये ठहरे बीमार। और फिर मेरा तो हूहक में दम घुटने लगता है। मैंने टैक्सी मँगायी, उसमें जरूरी सामान रखा, और यहाँ आ गयी। आपको तकलीफ़ तो होगी लेकिन........."

लेकिन इसी बीच में रशीद भाई का सरूर खत्म हो चुका था। सोचने की शक्ति वापस आ गयी थी; पीछे हटा हुआ कदम आगे आ गया था और कल्पना की उड़ती हुई पतंग ने यथार्थ का झटका खा कर धरती को छू लिया था। खिसियानी-सी हँसी हँसते हुए, उन्होंने कहा—"हिं-हिं, तकलीफ़ कैसी? मैंने तो सुबह ही कहा था, कि आपका घर है। हिं-हिं, आपही का घर है। सुरैया कहाँ है (सुरैया रशीद भाई की पत्नी का नाम था)? खाना-वाना खाया आप लोगों ने?"

"हम तो देर तक आपकी राह देखते रहे। लेकिन (यहाँ बेगम कादिर ने बड़े धीमे स्वर में कहा) आप जानते हैं, वे बीमार आदमी हैं, उन्हें समय पर खाना और सोना चाहिए। हमने तो खा लिया। बेगम रशीद किचन में होंगी।" और रशीद भाई का मुँह किचन की ओर मोड़ कर, उन्होंने कहा—"अभी हम इसी कमरे में जम गये हैं आप खाना खाइए, मैं जरा उनके सोने का इन्तजाम करूँ फ़िक्र न कीजिए मैं तकल्लुफ़ में यकीन नहीं रखती। मैंने जरूरत की सब चीजें ले ली हैं, ले भी लूँगी और आपको तकलीफ़ देने से हिचकिचाऊँगी भी नहीं।"

और यह कह कर, वे अन्दर के कमरे में चली गयीं।

एक ही सप्ताह में रशीद भाई को मालूम हो गया, कि बेगम क़ादिर उन लोगों में से कदापि नहीं, जो कहते कुछ हैं, और करते कुछ हैं। वे जो कहती हैं, अक्षरशः वही करती हैं। उन सात दिनों में उन्होंने ज़रा भी तकल्लुफ़ से काम नहीं लिया और रशीद भाई और उनकी बेगम को कष्ट देने में तनिक भी नहीं हिचकिचायीं। दोनों कमरों में से जो बड़ा था, वह तो उन्होंने आते ही, रशीद भाई की अनुपस्थिति में, सँभाल लिया था। रशीद भाई का सामान और बिस्तर आदि उन्होंने अपनी देख-रेख में मध्य के कमरे में, जो बेगम रशीद का शृङ्गार-गृह था, सजा दिया था। उस कमरे को इस तरह सजाने में, कि उसमें दो पलंग भी आ जायँ, और ज़नाना और मरदाना ड्रेसिंग-टेबिल भी और वह बुरा भी न लगे, उन्होंने बेगम रशीद की पूरी पूरी सहायता की थी। रशीद भाई की प्रतीक्षा किये बिना, बड़ी बेतकल्लुफ़ी से खाना पकवाया था। कितने अंडों का आमलेट और हलवा रहे, और गोश्त के साथ कौन-सी तरकारी सालन में रहे, यह सब बताने में किसी संकोच से काम न लिया था। बल्कि अगले दिन से उनके पति को कितनी बार दूध, अंडे, सूप चाहिए, इसका 'मीनू' भी बना दिया था (फेफड़े के कष्ट में खाने ही का महत्व जो है, इसलिये!) नौकर को आदेश देकर अपने कमरे ही में खाना मँगाया, खाया, और पति के सोने की व्यवस्था करने में निमग्न हो गयीं थीं।

यहाँ तक तो खैर रशीद भाई को कुछ अधिक कष्ट नहीं हुआ। पहले झटके के बाद जब वे सँभले, तो डायरेक्टर क़ादिर को अपने

घर में पा कर और यह जान कर कि उन्होंने न केवल अपने प्रिय डायरेक्टर को भारी मानसिक कष्ट से छुटकारा दिलाया है, बल्कि स्वयं भी वह अवसर पाया है, जिसकी सुखद कल्पना वर्षों से वे करते आ रहे थे, उन्हें गौरव और गर्व की अनुभूति हुई और उन्होंने रसोई-घर में घुटनों में सिर दिये बैठी अपनी बेगम को बीसियों युक्तियाँ देकर समझा दिया, कि डायरेक्टर क़ादिर का उनके घर में आना उनके लिये हर तरह से लाभदायक है।

लेकिन यहीं से वह मानसिक कष्ट, जिससे उन्होंने डायरेक्टर क़ादिर की जान बचायी थी, उनकी जान का लागू हो गया।

वे रात में अपनी पत्नी के साथ लेटे हुए थे। समझते थे, कि उन्होंने अपनी कार्य-पटुता से डायरेक्टर क़ादिर को फाँसा है, पर अब उन्हें मालूम हुआ, कि बेगम क़ादिर ने अपनी कार्य-पटुता से उनको फाँस लिया है। यह ख़याल आते ही, अपनी मूर्खता पर वे एक ठहाका मार कर हँस दिये। तभी अन्दर के कमरे में टिक-टिक हुई। उचक कर, बेगम रशीद अपने पलंग पर जा बैठीं, और उन्होंने कहा—"आइए!"

तभी ओंठों पर अँगुली रखे, बेगम क़ादिर दबे पाँव अन्दर दाखिल हुईं। सरगोशी के स्वर में उन्होंने कहा—"ख़ुदा के लिये, धीरे हँसिए। अभी बड़ी मुश्किल से सिर पर तेल मल कर मैंने उन्हें सुलाया है!" और किवाड़ धीरे से बन्द करके, वे वापस चली गयीं।

इसके बाद बेगम रशीद को फिर अपने पति की चारपाई पर आने का साहस न हुआ।

दूसरे दिन बेगम क़ादिर ने बड़ी बेतकल्लुफ़ी से रशीद भाई के

कमरे से एक चारपाई उठवा कर बालकनी में डलवा दी और वहाँ क़ादिर साहब की मेज लगवा दी (क्योंकि काम के लिये सोने का कमरा उपयुक्त न था, फिर छोटी-सी बच्ची भी उनके थी, जो रशीद भाई के लड़के के साथ हिल-मिल गयी थी और शोर में काम न हो सकता था।) "रात को फिर चारपाई यहीं कर लेंगे," उन्होंने रशीद भाई को समझा दिया, "अभी आप लोग इस मेज पर बैठ कर काम करें।" यह कह कर वे अपने कमरे में चलीं गयीं और उसे ठीक करने में लगी रहीं।

रशीद भाई ने उसी मेज़ पर बैठ कर, डायरेक्टर क़ादिर के साथ चन्द मिनटों के लिए सम्वादों के सिलसिले में बातचीत की। बस, यही तसल्ली उन्हें रही। शेष सारा दिन तरह-तरह के लोग डायरेक्टर क़ादिर से मिलने को आते रहे। रशीद भाई बालकनी में उठ आये, और वहीं बैठे अपने मित्रों से बातें करते रहे और बेगम रशीद दिन भर किचन में बैठी रहीं। यह कहने की जरूरत नहीं, कि कादिर साहब से जो लोग मिलने आते रहे, उन्होंने दूसरी चारपाई से सोफ़े का काम लिया, और सुबह बेगम रशीद ने जो धुला-धुलाया पलंग पोश उस पर बिछाया था, वह शाम होते-होते बीसियों सिलवटों से भर गया।

फ्लैट में दो बाथ-रूम थे, जिनमें से एक में स्नानादि होता था, और दूसरे में घाटन आकर बर्तन आदि मलती थी। इस दूसरे बाथ-रूम को, पूर्णरूप से निस्संकोच होकर, बेगम क़ादिर ने तीसरे दिन सँभाल लिया और घाटन से कह दिया, कि वह बर्तन रसोई ही में मले।

चौथे दिन रशीद भाई ने सोच-साच कर यह तरकीब निकाली, कि दूसरा पलंग भी बालकनी में लाकर सजा दिया जाय और

बालकनी का सामान मध्य के कमरे में लगा कर, उसे साझा ड्रायंग-रूम बना दिया जाय। बेगम क़ादिर ने इस सूझ के लिए उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। परिणाम इसका यह हुआ, कि वह कमरा भी उनके हाथ से निकल गया, और बेगम रशीद पूर्ववत् दिन का अधिक समय रसोई में बन्द रहीं, क्योंकि जब क़ादिर साहब अपने मिलने वालों से बात कर रहे हों, तो रशीद भाई का अपने मिलने वालों से बात करना तो दूर रहा, उन्हें वहाँ बैठाना अथवा स्वयं बैठना भी असम्भव था। सो रशीद भाई को पूर्ववत् बालकनी में में बैठ कर काम करना और मुलाक़ातियों से मिलना पड़ा और बेगम रशीद ने दिन रसोई-घर में काटा।

पाँचवें दिन शृङ्गार का मेज भी बालकनी में आ गया। इस तरह बाकनी उनका सोने, बैठने और शृङ्गार करने का स्थान बन गयी और डायरेक्टर ादिर से उन्होंने जो कहा था, कि "यदि आप आयें, तो हम बलाकनी में रह कर भी सुख पायेंगे," सो वह सुख उन्हें अधिक-से-अधिक मात्रा में पहुँचाने के लिए बेगम क़ादिर ने किसी प्रकार की कंजूसी से काम नहीं लिया।

छठे दिन उन्होंने किसी प्रकार की हिचकिचाहट के बिना स्टोर से रशीद भाई का सामान निकाल कर, वहाँ अपना रसोई-घर बना लिया। "इनको तो तुम जानती हो" बेगम रशीद से उन्होंने कहा, "फेफड़े की तकलीफ़ है। आज 'निगेटिव' हों तो क्या, कल 'पाजि-टिव' हो सकते हैं। मैं तो अपने और नाजली के बरतन भी अलग रखती हूँ। तुम्हारे फूल-सा बच्चा है। सो, भाई, रसोई तो मैं अलग पकाऊँगी।"

इस तरह स्टोर का जो सामान गेलरी में आ पड़ा, उसे सजाने और गेलरी में अस्थायी स्टोर बनाने में उन्होंने बेगम रशीद की

पूरी-पूरी सहायता की और निस्संकोच अमूल्य-परामर्श दिया।

यह कहने की ज़रूरत नहीं कि रसोई-घर बनते ही उन्होंने रशीद भाई के बावरची और घाटन पर अपना अधिकार जमा लिया और नये नौकर के आने तक बेगम रशीद को अपने हाथ से खाना पकाने के लिए विवश होना पड़ा।

सातवें दिन जब शहबाज़ के निमन्त्रण पर रशीद भाई दादर-बार में पहुँचे, तो शहबाज़ ने देखा, सात दिन पहले उनके मुख पर जो प्रसन्नता थी, उसका सौवाँ हिस्सा भी वहाँ नहीं। दाढ़ी उनकी बढ़ी हुई थी और कपड़े भी नासाफ़ थे। चेहरा भी, जो मांस के बाहुल्य के बावजूद, भरा, तना और चमचमाता लगता था, उसे लटकता-सा दिखायी दिया।

शाहबाज़ को यह तो मालूम ही हो गया था, कि रशीद भाई डायरेक्टर क़ादिर की नयी पिक्चर के सम्वाद लिख रहे हैं, इस-लिए वह स्काच की एक पूरी बोतल लिए उनकी प्रतीक्षा कर रहा था, कि आयें तो पूछे कि उन्होंने उसके लिए भी कुछ किया है या नहीं, पर रशीद भाई का मूड देख कर, वह चुप ही रहा। बैरे को बुला कर, उसने मटन-चाप और कबाब के लिए आर्डर दिया और गिलासों में पेग उँडेले। सोडे की बोतलों के कार्क उड़ा, उसने गिलासों में सोडा डाला और एक गिलास रशीद भाई की ओर बढ़ाया।

रशीद भाई इस बीच में बराबर कुहनियाँ मेज़ पर टेके, हथेलियों पर सिर रखे, सामने दीवार पर भागती हुई हिरनी का पीछा करते रहे, जो न जाने कुलाँच भर रही थी, अथवा अँगड़ाई ले रही थी, क्योंकि कुलाँच भरने में उसकी अगली और पिछली टाँगों में उतना ही अन्तर था, जितना अँगड़ाई के समय होता। चित्रकार

ने हिरनी की अँगड़ाई में कदाचित अपनी ही प्रेयसि की अँगड़ाई को देखा था। कौन जाने? साधारण आदमी के मन की बात भी नहीं जानी जा सकती, फिर यह तो कलाकार के मन की बात ठहरी। जहाँ तक रशीद भाई का सम्बन्ध था, उनका मन अँगड़ाई की बिल्कुल उल्टी स्थिति में था। ऐसा सिकुड़ गया था कि शायद कुछ सोच ही न रहा था। उनकी आँखें इस प्रकार हिरनी पर टिकी थीं, जैसे दृष्टि के ज़ोर से उसे सचमुच कुलाँच भरने पर विवश कर देंगी। न कुलाँच भरेगी, तो उसमें बड़े-बड़े दो छेद कर देंगी।

शहबाज ने कुछ क्षण इस बात की प्रतीक्षा की, कि रशीद भाई की निगाहें आप-से-आप गिलास में उमड़े हुए उस उफान को देख लें, पर जब झाग उठ कर बैठने लगी और रशीद भाई की अन्य-मनस्क दृष्टि हिरनी पर से न हटी, तो उसने कहा—"क्या बात है? उठाइए न गिलास! देखिए, शीशे में उतरी परी आपके ओंठों से लगने को बेचैन है!" और वह एक खोखली, बनावटी हँसी हँसा।

"हटाओ, यार! आज मन नहीं। पी जाओ यह भी तुम्हीं! मैं तो चला आया, कि तुम फोकट में मेरी राह न देखो।" और उन्होंने गिलास को शहबाज के गिलास के साथ रख दिया।

"पर बात क्या है? डायरेक्टर क़ादिर से मामला नहीं पटा क्या?"

रशीद भाई पहली बार कुछ मुस्कराये। "पटा क्या, चक्की का पाट बन कर गले में पड़ गया! सोचता हूँ, किस तरह उससे नजात हासिल करूँ।"

"क्या मतलब आप का?"

उत्तर में रशीद भाई ने अपनी बिपदा की सारी कहानी सविस्तार कह सुनायी।

बैरा मटन-चाप और कबाब रख गया।

शराब गिलास में पड़ी हो, गर्म-गर्म मटन-चाप की प्लेट दावत दे रही हो, शहबाज़ को इस सुख के सामने सभी दुख अकिंचन दिखायी देते थे। उसने कहा—"हटाइए! आप भी क्या ज़रा-ज़रा सी बात को मन में जगह देते हैं! इतनी बड़ी आपकी ख्वाहिश पूरी हो गयी। उठाइए, इस ख़ुशी में दो-एक पेग उड़ जायँ।"

लेकिन रशीद भाई के ओंठों पर मुस्कान की जो रेखा उदय हुई, उसमें बड़ी वेदना थी।

"तुम्हें यह ज़रा-सी बात लगती है? यहाँ तो मालूम होता है, कि जन्नत में बैठे-बैठे जहन्नुम में जा पड़े। अगर डायरेक्टर क़ादिर अथवा मिस शमीम को और दो महीने मकान न मिला, तो अपना तो बन्टाढार हो जायगा।"

"अजी आप गिलास उठाइए! ज्यादा तकलीफ़ हो, तो मेरे यहाँ चले आइएगा।"

और उसने स्वयं गिलास उठा लिया।

रशीद भाई ने बड़े अनमने भाव से गिलास उठाते हुए, कहा—"लेकिन तुम्हारे पास तो सिंगिल-फ्लैट है। तुम कहाँ जाओगे?"

गिलास को रशीद भाई के गिलास से टकराते और एक ही घूँट में ख़त्म करते हुए, शहबाज़ ने कहा—"हम फक्कड़ों का क्या है? बाहर सीढ़ी पर बिस्तर जमा लेंगे!"

दूसरे दिन ग्यारह-बारह के लगभग जब शहबाज़ ने अपनी ख़ुमार-भरी आँखें खोलीं, तो उसने देखा, कि कमरा सामान से

आटा पड़ा है, और वही जगह खाली है, जिसमें कि वह सोया हुआ है। उसने दो-एक बार आँखों को झपकाया, कि सपना तो नहीं देख रहा। तभी दरवाजे पर रशीद भाई नमूदार हुए। बोले— "तुम भी, यार, खूब पीते हो, और खूब सोते हो! उठो हाथ-मुँह धोओ, और खाना खा लो। फिर सामान को लगाने में हमें मदद दो। तुम्हारी भाभी किचन में खाना पका रही है। तुम्हारा नौकर बड़ा अच्छा है। वह न होता, तो इतना सामान इस तीसरे महाल† पर कभी न चढ़ता।" और वे रह-रह कर हँसने लगे।

रात को चौथे महाल पर रहने वाला क्लर्क जब जरा देर में अपने घर आया, तो सीढ़ियाँ चढ़ते हुए उसने देखा, कि तीसरी महाल का नौकर ही सीढ़ियों पर नहीं सो रहा, बल्कि उसका साहब भी बिस्तर बिछाये लेटा हुआ है और मुटर मुटर छत की ओर तक रहा है।

---

†महाल = मंज़िल

आ लड़ाई आ, मेरे आँगन में से जा

गाड़ी जब लाहौर से चली तो जल्दी में सवार हुए एक हृष्ट-पुष्ट सिख मुसाफ़िर ने यह देख कर सुख की साँस ली कि ऊपर की एक बर्थ पर काफ़ी जगह खाली है। कमीज की बाहें चढ़ा, बिस्तर उठा उसने उधर फेंका। शेष सामान इधर-उधर जमा कर वह बिस्तर खोलने ही लगा था कि उसके मन में आशंका पैदा हुई—कहीं यह डिब्बा कट न जाता हो, नहीं मेल में इतनी भी जगह कैसे खाली हो सकती है?—और बिस्तर खोलना छोड़ उसने निचली सीट पर बिस्तर बिछाये, आराम से लेटे दूसरे मुसाफ़िर से पूछा :

"क्यों जी यह डिब्बा भटिंडा कट जाता है, या सीधा दिल्ली तक जाता है?"

"जी भटिंडा कट जाता है" दूसरे ने, जो रंगरूप में

मच्छीहट्टा, लाहौर का कोई कसरती लाला दिखायी देता था, लेटे लेटे उत्तर दिया।

सामने की बर्थ पर लाहौर ही के एक मुसलमान युवक का बिस्तर बिछा था, पर वह अभी लेटा न था और आराम से बैठा सिगरेट पी रहा था। कश खींच कर बोला :

"नहीं जी ये ग़लत कहते हैं, डिब्बा सीधा दिल्ली तक जाता है !"

लाला को जैसे बिजली का तार छू गया। उचक कर उठा और बोला, "दिल्ली क्या कलकत्ता जाता है! आपको कुछ मालूम भी है। महीना भी नहीं हुआ मैं स्वयं गया था और यह डिब्बा भटिंडा कट गया था।"

"महीना," युवक व्यंग्य से हँसा, "मैं हफ़्ता पहले की बात करता हूँ। दिल्ली तक सोया गया था।"

"सोये गये थे।" लाला ने एक 'ऊँह' करते हुए व्यंग्य से सिर को झटका दिया, "क्यों एक भले आदमी को परेशान करते हो।" और फिर जैसे दूसरे यात्रियों को सुनाते हुए व्यंग से बोला:

"फ़ीरोजपुर से कभी आगे बढ़े नहीं और ख़बर दिल्ली की देते हैं।"

युवक का ख़ून खौल उठा। सिगरेट खिड़की से फेंकते हुए बोला, "वाह रे रोज़ कलकत्ता जाने वाले! शक्ल से तो घसियारा दिखायी देता है।"

लाला झुंझला कर उठा, "क्या कहा, घसियारा तेरा बाप होगा।"

युवक ने उत्तर में घूँसा फेंका।

कुछ क्षण हवा में गालियों और मुक्कों का आधिपत्य रहा। लाला यद्यपि नित्य महावीर व्यायामशाला में कसरत करने वाला

था, किन्तु युवक का सा साहस उसमें न था, इसलिए वह कुछ ज्यादा पिट रहा था। तभी जब युवक के एक घूंसे से वह डिब्बे की दीवार से जा लगा तो उसने वहीं पास पड़ी किसी मुसाफिर की सुराही उठा कर युवक के सिर पर दे मारी। सिर फट गया। ख़ून बहने लगा। किसी ने पुलिस को रिपोर्ट कर दी। फ़ीरोज़पुर पहुँचते ही थानेदार गाड़ी में आ धमके और उन्होंने दोनों को वहीं उतरने के लिये कहा।

पुलिस की शक्ल देखते ही लाला का जोश कुछ ठंडा हो गया। लोगों ने भी समझाया कि आप लोग पहले ही कम परेशान नहीं हुए। अब आपका प्रोग्राम अलग खराब होगा, झूठा सच्चा कोई भी सिद्ध हो, ख्वार दोनों होंगे। घायल युवक मात्र सैर के लिए जा रहा था। उसे कोई जल्दी न थी। वह उतरने को तैयार था, पर लाला के काम का हर्ज होता था। ग़लती भी उसी की थी। उसी ने ताना दिया था और उसी ने सुराही मारी थी। उसने युवक से क्षमा माँगी। सिर आगे किया कि यदि सुराही मार कर ही उसे संतोष होता हो तो उसकी अपनी सुराही उसके सिर पर मार कर संतोष कर ले। युवक का गुस्सा दूर हो गया। उसने कपड़े बदले। लाला ने अपनी धोती फाड़ कर उसके पट्टी बाँधी। पुलिस चली गयी। गाड़ी भी चल पड़ी।

"क्यों साहब यह डिब्बा भटिंडा कट जायगा या सीधा दिल्ली तक जायगा।"

फ़ीरोज़पुर से चलती गाड़ी में बिस्तर फेंक कर ख़ासी अफ़रातफ़री में एक व्यक्ति सवार हुआ। सूरत शक्ल से वह यू॰पी॰ का कोई

सुसंस्कृत मुसलमान लगता था। जब उसकी सांस दुरुस्त हुई तो डाढ़ी पर हाथ फेरते हुए उसने सिख मुसाफिर से यह प्रश्न किया,जो बिस्तर खोलना भूल कर यह कौतुक देखने लगा था।

पुनः बिस्तर खोलने का प्रयास करते हुए सिख मुसाफिर ने कद्रे हँस कर लाला की ओर संकेत किया, जो पिट पिटा कर फिर लेट गया,और बोला,"मुझे खुद मालूम नहीं,इनसे पूछिए।"

लाला पहले ही जला बैठा था। सांप की भाँति फुंकारा, "क्यों अब तेरा सिर फोड़वाने का इरादा है।"

बिस्तर बिछाना छोड़ कर सिख ने कहा, "क्या मुझे भी नामर्द समझ लिया है जो सिर फोड़वाकर लेट जाऊँगा। उठा कर गाड़ी के बाहर न फेंक दूँगा सिर फोड़ने वाले को।"

"नामर्द युवक" सिर के घाव की परवाह न करके उठा और "ज़रा आ तो देखूं तेरी मरदुमी" कहता हुआ सिख की ओर लपका।

अब के तीनों उलझ गए। हवा में फिर गालियाँ, घूंसे और थप्पड़ तैरने लगे।

डिब्बा भटिंडा नहीं कटा, किन्तु वे तीनों पंजाबी कट गये। लाला और युवक अस्पताल पहुँचे और सिख मुसाफ़िर हवालात गाड़ी चली तो ऊपर की बर्थ बिस्तर बिछाये वह यू-पी का मुसलमान बड़े आराम से सो रहा था और उसके हल्के हल्के खर्राटों की आवाज़ डिब्बे की नीरवता में एक मधुर सा शोर पैदा कर रही थी।

चपत

किसी ने मेरे कन्धे को जोर से थपथपाया—"अरे चलो भी, यहाँ क्या व्यर्थ में समय नष्ट कर रहे हो !"

मैं डैश के इर्द-गिर्द बने हुए जंगले पर कुहनियाँ टिकाये, लोगों को अधिक पाने की इच्छा में थोड़ा भी गँवाते देख रहा था। धड़ाधड़ लोहे के कड़े बिक रहे थे और जंगले के बाहर से फेंके जा रहे थे। आता किसी विरले ही को था, जाता सब का था—एक मेज, उस पर लाल कपड़ा और उस पर जुड़े हुए सिक्के—दुवन्नियाँ, चवन्नियाँ, अठन्नियाँ, रुपये इत्यादि। जो भी कड़ा ऐसे फेंके कि सिक्के पर पड़े तो सिक्का उसे मिल जाय। परन्तु मिल कैसे जाय? यदि इस प्रकार डैश वाले सिक्के देने लगें तो मिनटों में घर की राह न लें! सिक्के लगाये ही ऐसे गये थे कि दर्जनों कड़े फेंकने

पर भी उन पर कोई न अटकता, अधिकांश मेज़ से उछल कर परे जा पड़ते। लेकिन लोगों के असफल रहने पर भी कड़े और बिकते। कभी सौ में से एक जीत जाता, तो वह उतने ही अधिक कड़े ख़रीद लेता और उस समय तक पीछे न हटता, जब तक कि जेब खाली न हो जाती। उसका बस चलता तो उधार लेकर भी फेंकता, किन्तु डैश वाले उधार कड़े न देते।

मैंने मुँह फेर कर देखा—बलवन्त है। मैं खीझ उठा और मुँह मोड़ कर फिर यह कौतुक देखने लगा।

वह चीख़ उठा—"कैसे सिड़ी हो। अरे कम्बख्त, वह 'चीज़' हाथ लगी है कि देखी न होगी, सौ में से सौ नम्बर दे दो!"

"भाड़ में जाय तुम्हारी चीज़!" मैंने जल कर कहा।

"पछताओगे, कहे देता हूँ!"

"पछता लूँगा"

"आखिर यहाँ रखा क्या है?" यह कह कर उसने मेरा हाथ पकड़ा और ज़ोर से खींचने लगा। भीड़ में मेरा हैट गिरते-गिरते बचा, पतलून की क्रीज़ टूट गयी। वह बलिष्ठ था, मैं घिसटता चला गया।

"बड़े गधे हो!"

"वह तो हूँ ही, लेकिन चलो तो सही, वह 'चीज़' है कि आँखें खुली की खुली रह जायँ—फिर है भी हाथ ही में!"

"लॉनत है तुम्हारी 'चीज़' पर!"

वह मेरा हाथ पकड़े भीड़ में मुझे घसीटता ले चला।

लाहौर में उन दिनों नुमायश थी। 'पटियाला हाऊस' में। खूब चहल-पहल रहती थी। नुमायश थी भी अखिल भारतीय। भारत

भर के व्यापारियों ने अपनी वस्तुएँ बिकने के हेतु वहाँ भेजी थीं—फैशन की चीजें, नुमायश की चीजें और आरायश की चीजें। फिर इस के साथ डैश भी। सौ फीट की ऊँचाई से छलाँग, तार पर बाइसिकिल चलाना, कपड़ों में आग लगा कर पानी में कूदना, और भाँति भाँति के अन्य आश्चर्यजनक कौतुक—जैसे मौत का कुँआ, लड़की का बोलता सिर इत्यादि इत्यादि। यों तो सारा दिन भीड़ रहती, पर संध्या को लोग आग लगा कर पानी में कूदने वाले अँग्रेज का खेल देखने को धड़ाधड़ चले आते। ऐसी भीड़ हो जाती कि खवे से खवा छिलता। बड़ी मुश्किल से हम खेलों के मंडप से निकल कर तनिक खुले में आये। बलवन्त ने अपने दोनों हाथ मेरे कन्धे पर रख दिये और भेद-भरे स्वर में कहना आरम्भ किया :

"पाठशाला में पढ़ाती है। लड़कियों के साथ आयी हुई है। कुछ सामान खरीदा जा रहा है। मुझ से दो एक बार आँखें भी चार हुई हैं। मैंने सोचा, चलो तुम्हें बुला लाऊँ। बस तुम चुपचाप देखते जाओ, कैसे चिड़िया को जाल में फँसाता हूँ। लो, वह दुकान से चलने को तैयार है। तुम देखते जाना और हमारे पीछे रहना, लेकिन ऐसे कि उन्हें मालूम न हो।"

वह दुकान की ओर तेजी से बढ़ा। मैं भी धीरे-धीरे चल पड़ा। वे सब छः थीं—दो छोटी लड़कियाँ, तीन बड़ी और एक वह स्वयं। अच्छी सुन्दर युवती थी—बाइस-तेईस वर्ष की आयु, गोरा रंग, बड़ी-बड़ी आँखें और सुगठित शरीर! धोती यद्यपि श्वेत ही थी, पर उसके चौड़े हरे किनारे ने अजीब शान पैदा कर दी थी। सामान से भरे लिफ़ाफ़े उसके दोनों हाथों में थे। तभी एक लड़की ने कहा—"लाइए बहिन जी, मुझे दे दीजिए।"

"नहीं-नहीं" कहती हुई 'बहिन जी' वहाँ से निकल कर दूसरी दुकान में दाखिल हो गयीं और वहाँ से कपड़ा खरीदा जाने लगा। बलवन्त भी बेपरवाही से दुकान में दाखिल हुआ और उनके समीप जाकर कपड़ा देखने लगा। मैं भी मूक-दर्शक की भांति चुपचाप स्टाल के एक कोने में जा खड़ा हुआ।

एक दो बार उन 'बहिन जी' ने दुकानदार से कपड़ों का भाव पूछा, किन्तु वह दूसरे ग्राहकों की ओर निमग्न था।

बलवन्त ने फुर्ती से उसका ध्यान उनकी ओर आकृष्ट किया। इतने में छोटी लड़कियों में से एक को प्यास लगी। बलवन्त भाग कर लेमोनेड ले आया। 'बहिन जी' ने कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा, "यह आपने योंहीं कष्ट किया।" और बलवन्त ने ज़रा-सा मुस्करा कर हँसने का प्रयास करते हुए कहा, "नहीं जी, कष्ट क्या! बच्ची को प्यास लगी थी, यहाँ पानी था नहीं।"

सर्दियों के दिन थे, वह छोटी लड़की भरा गिलास कैसे पीती, एक-दो घूँट उसने पीकर कह दिया—'बस'! बलवन्त ने वह गिलास दूसरी बच्ची के हाथ में दे दिया। 'बहिन जी' फिर कपड़ा देखने लगीं। एक-दो घूँट उस बच्ची ने भी पिये। शेष पानी बलवन्त ने फेंक दिया और गिलास वापस दे आया। उसके जाने के बाद 'बहिन जी' चौंकीं, और उसके आते ही उन्होंने कहा—"आप पैसे तो ले जाते।"

बलवन्त केवल मुस्काया और फिर उसने धीरे से कहा, "यह भी तो आप ही के पैसे हैं।"

इतनी देर में दुकानदार ने कपड़े बाँध दिये। सारे सामान की छोटी सी गठड़ी बन गयी। पैसे देकर 'बहिन जी' इधर-उधर

देखने लगीं, जैसे देख रही हों कि यहाँ कोई कुली मिल जायगा या नहीं।

बलवन्त ने उनका तात्पर्य जान लिया, बोला—"इतनी सी गठड़ी के लिए कुली की क्या आवश्यकता है, चलिए मैं ले चलूँगा।"

"नहीं-नहीं, आप क्यों उठाइएगा।"—यह कह कर उन्होंने बड़ी लड़कियों में से एक की ओर देखा जो कदाचित् उनकी बहिन थी। उसने झट बढ़कर गठड़ी उठा ली।

सब दुकान से निकलीं।

बलवन्त से और कुछ न हुआ तो छोटी बच्ची ही को गोद में उठा लिया और उनके पीछे पीछे चलने लगा।

इसके बाद और दो दुकानों से भी उन्होंने सामान खरीदा। बलवन्त ने इस बीच में उन दोनों बच्चियों से खासी घनिष्टता पैदा कर ली। उन्हें रुपये-दो-रुपये के खिलौने भी ले दिये। और जब एक स्थान पर अपनी छोटी बहिन का हाथ बटाने के लिए स्वयं 'बहिन जी' ने सामान उठाना चाहा तो बलवन्त ने लड़की को उतार कर उनके हाथ से गठड़ी लेते हुए कहा—"लाइए न, कुछ दूर मैं ले चलता हूँ। मुझे भी उधर ही जाना है।"

"नहीं, नहीं, आप क्यों कष्ट करें!"

"वाह, इसमें कष्ट की कौन-सी बात है!" यह कहते हुए उसने गठड़ी ले ली।

'बहिन जी' केवल मुस्करा दीं।

वे आगे-आगे, बलवन्त कभी आगे कभी पीछे और मैं तनिक अन्तर से, परन्तु साथ-साथ—इस प्रकार सारी प्रदर्शिनी में घूमे।

उन्होंने और भी वस्तुएँ खरीदीं। उनकी भी एक-दो छोटी-छोटी गठड़ियाँ बनीं। वे भी बलवन्त ने हँसते-हँसते उठा लीं। जितनी देर वे छलांग देखने के लिए खड़ी रहीं, उतनी देर बलवन्त त्याग, सेवा और परोपकार की मूर्ति बना खड़ा रहा। कभी-कभी 'बहिन जी' मुस्करा कर कह देतीं—"आपको बड़ा कष्ट हो रहा है। लाइए न, एक चीज़ मुझे दे दीजिए।" और बलवन्त कहता—"नहीं-नहीं, कोई कष्ट नहीं, कौन बहुत बोझ है!" परन्तु इसके साथ ही गठड़ियाँ बदल लेता—भारी इस हाथ में और हल्की उस हाथ में।

कोई नौ बजे के लगभग वे लोग प्रदर्शिनी से निकले। एक लड़की को कृष्ण-गली जाना था, दूसरी को अर्जुन-नगर तीसरी को परी-महल, दो छोटी-छोटी लड़कियों को लोहारी मण्डी और स्वयं 'बहिन जी' और उनकी छोटी बहिन जी को बच्छोवाली। वे सब लड़कियाँ उनके साथ ही आयी थीं, इसलिए उनको सकुशल घर पहुँचाने का उत्तर दायित्व भी उन्हीं का था। वे पहले कृष्ण-गली, फिर अर्जुन-नगर, फिर परी-महल, फिर लोहारी मण्डी और फिर बच्छोवाली गयीं। एक बजने को हो गया, सड़कों पर सन्नाटा छा गया। मेरे ओवरकोट को चीर कर सर्दी अन्दर पहुँचने लगी, परन्तु बलवन्त एक शलवार, कमीज़ और कोट ही में मस्त चलता गया। उसकी भुजाएँ ऐंठ गयीं, पर क्या मजाल जो माथे पर बल आया हो, बल्कि ज्यों-ज्यों लड़कियों की संख्या घटती गयी, उसका मुख प्रफुल्लित होता गया। और जब 'बहिन जी' तथा उनकी बहिन ही रह गयीं तो वह उनके तनिक समीप हो गया। पर वे कुछ ऐसी बातों में निमग्न हुईं कि उन्हें

बलवन्त के साथ-साथ चलने का भी ज्ञान न रहा। एक-दो बार उसने बातचीत आरम्भ करने का प्रयास भी किया, लेकिन उन्होंने ध्यान ही न दिया। दूर किसी घड़ियाल ने एक बजाया, उस समय 'बहिन जी' ने वच्छोवाली की एक छोटी-सी गली के एक दो मंजिले मकान की सीढ़ियों का दरवाजा खटखटाया।

कोई न बोला।

'बहिन जी' ने फिर जोर से किवाड़ खटखटाया और आवाज दी।

कोई न बोला।

बलवन्त का मुख दूर से आने वाले बिजली के क्षीण प्रकाश में चमक-सा उठा।

'बहिन जी' ने तीसरी बार पूरे जोर से दस्तक दी और एक साथ दो आवाजें लगायीं।

बलवन्त आगे बढ़ कर कोई प्रस्ताव करने ही वाला था कि किसी ने किवाड़ खोल दिये। 'बहिन जी' सीढ़ियाँ चढ़ीं। बलवन्त से उन्होंने सब सामान ले लिया, एक बार कहा "धन्यवाद!" और किवाड़ बन्द कर लिये।

किसी ने जोर से कहा—"तुम भी कमला कितनी देर कर देती हो, कौन तुम्हारे लिए इतनी देर तक बैठा रहे?"

"इतनी लड़कियों को भी तो छोड़ना था।"

"और ये कौन थे, जो इतना सामान उठा कर लाये?"

"मुफ्त के नौकर!" एक मादक अट्टहास गूंज उठा, "इतने ही में न न आते थे; लड़कियाँ साथ, कोई सिर हो जाता—मैंने कहा, चलो इनसे कुली ही का काम ले लो।"

उस समय दूसरा ठहका भी गूंज उठा।

बलवन्त के ऐंठे हुए बाजू कदाचित् दुख उठे उन्हें सिकोड़ते हुए उसने मेरी ओर देखा और मैंने उसकी ओर और बिजली का क्षीण प्रकाश मानो उसकी करुण-दृष्टि को देख कर मुस्करा पड़ा।

लेरिंजाइटिस*

जब हिन्दी-मंत्री ने प्रधान का नाम 'प्रस्तावित' किया और उर्दू-मंत्री ने उसकी 'ताईद' की, तो प्रधान साहब कुर्सी पर आ विराजे। क्षण भर की मिस्कोट के बाद कवियों की नामावली हाथ में ले, पहले कवि का नाम पुकारते हुए उन्होंने अनायास उर्दू में कहना आरम्भ किया—"अब मैं जनाब अचिंत बहादुर सिंह से दरख्वास्त करूँगा"...कि सहसा उनकी दृष्टि कवि के नाम के आगे लिखे हुए शब्द 'हिन्दी' पर गयी और कुछ अटक कर उन्होंने अपना वाक्य यों समाप्त किया—"कि...कि वे अपनी कविता आप मित्रों के समक्ष प्रस्तुत करें !"

एक पतला-दुबला-सा युवक चश्मे को नाक के बाँसे पर दुरुस्त करता हुआ माइक के सामने आ बैठा।

---

* लेरिंजाइटिस = कंठावरोध का रोग

प्रो० न्याज़ कंधाईपुरी ने कुर्सीपर पैंतरा बदला, अपनी ब्याज़* में एक उँगली रख कर उन्होंने उसे क्षण भर को बन्द कर दिया और गर्दन तनिक आगे को बढ़ा कर कविता सुनने लगे।

परन्तु प्रोफेसर साहब के पल्ले कुछ नहीं पड़ा। अचिंत बहादुर 'नवीन लेखक समाज' के प्रधान-मन्त्री थे, लेकिन कविता हिन्दी और प्रायः कठिन हिन्दी में करते थे। नामावली के अनुसार उनको आठवें स्थान पर कविता पढ़नी थी। पर कवि-सम्मेलन का समय कब हो चुका था, छात्र बेसब्र हो रहे थे और अब तक श्री अचिंत बहादुर के अतिरिक्त केवल एक और हिन्दी कवि आया था। उर्दू में भी प्रो० न्याज़ कंधाईपुरी के अतिरिक्त शेष सब ग़ायब थे। इसलिए उन्होंने पहले स्वयं ही कविता पढ़ने का निर्णय किया था। उनकी इच्छा के अनुसार प्रधान ने उनका नाम घोषित कर दिया था।

श्री अचिंत बहादुर माइक के सामने तो आ गये, पर इस जल्दी में तय न कर पाये कि कौन-सी कविता पढ़ें। लड़के हाल में आ-जा, बैठा-बैठा रहे थे, शोर मचा रहे थे, पर उन्हें कुछ भी न सूझ रहा था। वे संकेतवादी (इम्प्रेशनिस्ट) कवि थे। एक बार सुन पढ़ कर उनकी कविता को समझ लेना पाठकों अथवा श्रोताओं के लिये कठिन था। आसान कविताएँ उन्होंने लिखी न हों, यह बात न थी, पर इस जल्दी में वे सोच न पा रहे थे कि कौन-सी कविता पढ़ें, जो आसान हो, अवसर के उपयुक्त हो और श्रोता जिसे सुन कर अनायास करतल-ध्वनि कर उठें। जल्दी में उन्होंने अपनी कविता "वाम दिशा" पढ़नी आरम्भ की।

---

*ब्याज़ = कविताओं की कापी

न्याज़ क़ंधाईपुरी ने एक बार गौर से सुना। उनकी समझ में ख़ाक भी न आया। कविता चल रही थी—

'वाउँ वाउँ वाउँ दिशा
समाँ साईं आ ई:
पृष्ठ पूम शार शीर पा मिपो,
पा मिपो!

पृष्ठ कार चीं परीन चीं परीन
पान पीन
पान पीन

पा मिपो!
वाउँ वाउँ वाउँ दिशा
समाँ आईं आ ई:'

कुछ यही स्वर न्याज़ साहब के कानों में पड़ते रहे। बेज़ारी से सिर को झटका देकर उन्होंने अपनी ब्याज़ फिर खोल ली। दूसरे ही नम्बर पर उनकी बारी आ जायगी, इसकी सम्भावना न थी, इसलिये शेष कविता सुनने का मोह छोड़, तल्लीन होकर वे मन-ही-मन अपनी कविताओं की रिहर्सल करने लगे।

न्याज़ कंधाई पुरी उर्दू के प्रसिद्ध कवि थे। चन्द दिन के लिए इलाहाबाद आये हुए थे। बेंक रोड पर अपने एक प्रोफेसर मित्र के यहाँ ठहरे थे। जब इस समाज के उर्दू-मन्त्री की ओर से उन्हें निमंत्रण मिला था तो वे बड़े चकराये थे। कवि-सम्मेलन 'नवीन लेखक समाज' की ओर से था। इसमें हिन्दी, उर्दू दोनों कवि भाग ले रहे थे, पर कवि-सम्मेलन का उद्देश्य बाढ़-पीड़ितों की

सहायता करना था। और यह सहायता 'साहित्य संस्थान' नामक किसी संस्था द्वारा दी जा रही थी।

यह 'साहित्य संस्थान' क्या बला है, यह बात वे निमंत्रण-पत्र को एक बार पढ़ने पर समझ न पाये थे। उन्होंने दो-तीन बार उसे पढ़ा और दिमाग़ पर ज़ोर डाला, तो मालूम हुआ कि साहित्य शब्द तो उन्होंने सुना है। मतलब होता है, अदब। और संस्थान? अटकल-पच्चू उन्होंने इसका मतलब 'सभा' लगा लिया और यह सब मतलब लगाने के बाद वे और भी चकराये।

सोचने लगे कि उन्हें इस कवि-सम्मेलन में कौन-सी कविता पढ़ने को ले जानी चाहिए। कवि-सम्मेलन केवल 'नवीन लेखक समाज' की ओर से होता, तो कोई चिन्ता न थी। उनके पास कई कवितायें थीं, जिनकी भूरि भूरि प्रशंसा नये आलोचकों ने की थी। पर सम्मेलन किसी 'अदबी अंजुमन'* की ओर से बाढ़-पीड़ितों को दी जाने वाली सहायता में योग दे रहा था। यह अदबी अंजुमन कैसी है? इसमें कैसे अदीब† हैं? सभी तरह के हैं अथवा नये और प्रगतिशील? इस सम्बन्ध में उन्हें कुछ भी ज्ञात न था। 'फिर वे कैसी कविता ले जायँ,' उन्होंने सोचा, 'दुखियों की सहायता के लिए तो यहाँ कंसर्टें भी होती हैं। नाच-गाना भी होता है। यदि रोमेंटिक कवि भी सम्मेलन में आये और उन्हें किसी रोमेंटिक कवि के बाद कविता पढ़ने को कहा गया, तो किसी प्यारी-प्यारी, मीठी-मीठी रूमानी कविता के बाद, जो साधारण छात्रों को पसन्द होती है, वे कैसे रंग जमा पायेंगे?'

---

* अदबी अंजुमन = साहित्यिक सभा ;

† अदीब = साहित्यिक

इसके अतिरिक्त न्याज साहब के असमंजस का एक और कारण था। यह कवि-सम्मेलन हो रहा था यूनिवर्सिटी यूनियन के हाल में। और इलाहाबाद के छात्रों का अनुभव न्याजसाहब को रत्ती भर भी न था। वे पंजाब के छात्रों की रम्ज पहचानते थे, जो सूट-बूट में लैस होकर आते थे और बड़े-बड़े कवियों को उखाड़ने में मजा पाते थे, जिन्हें वशीभूत करने को हास्य रस अथवा गलेबाजी की जरूरत थी। वे दिल्ली के छात्रों को जानते थे, जो मिले-जुले लिबास में होते और मिली-जुली भावनाओं से मुशायरे में आते। वे अलीगढ़ के छात्रों को जानते थे, जिनकी शेरवानियाँ, पायजामे और शेर को सुनते ही कुर्सी से उठ-उठ कर दाद देना उन्हें याद था। उन मजलिसों पर, वे जानते थे, क्या पढ़ना है और कैसे पढ़ना है। पर इलाहाबाद के छात्रों से वे एक दम अपरिचित थे। सुबह वे बरामदे में बैठे थे कि उनके मित्र से एक युवक मिलने आया। साधारण कुर्ता, पायजामा पहने किसी खाते-पीते घर का साधारण नौकर मालूम होता था। परिचय मिलने पर पता चला कि एम० ए० का छात्र है। अधिकांश छात्र, छात्र दूर प्रोफेसर, लगता ही न था कि किसी यूनिवर्सिटी में पढ़ते अथवा पढ़ाते हैं। तो क्या ऐसे सीधे-सादे पर विद्वान छात्रों के आगे वे गम्भीर कविता पढ़ें—गम्भीर, दार्शनिक और सोद्देश्य!

न्याज कंधाई पुरी कुछ भी तय न कर पाये। आखिर सोच-सोच कर उन्होंने यही निर्णय किया कि वे सारी ब्याज साथ ले चलें। वहाँ जैसा अवसर देखें, कविता पढ़ें।

श्री अचिंत बहादुर कविता पढ़ चुके थे। मंच से लगी एक दरी बिछी थी, जिस पर पायजामा-कमीज अथवा कुर्ता-धोती

पहने कुछ छात्र आ बैठे थे। लगता था, जैसे सड़क पर सैर करते-करते अथवा अपने हॉस्टलों के बरामदों में बैठे-बैठे वे उठ कर कवि-सम्मेलन का आनन्द लेने चले आये थे। परन्तु दरी अभी काफी खाली थी। प्रधान ने पीछे बैंचों पर और दरवाजों में खड़े हुए छात्रों से कहा कि वे आगे आकर बैठ जायँ। फिर उन्होंने दूसरे कवि का नाम पुकारा।

न्याज कंधाईपुरी ने एक बार दरी पर बैठे हुए उन छात्रों की ओर देखा। वे अभी तक तय न कर पाये थे कि उनके समक्ष कौन-सी कविता पढ़ेंगे। अपनी व्याज में लिखी हुई दो नयी कविताएँ उन्होंने दो-तीन बार मन-ही-मन पढ़ डाली थीं। एक में उन्होंने उन दिनों का जिक्र किया था, जब उन्हें पहली बार मुहब्बत हुई थी और अपनी प्रेयसि से पूछा था कि यदि कवि का जीवन उसकी ज़ुल्फों की छाया में गुजर सकता, तो कितना अच्छा होता! दूसरी कविता में सड़क कूटती हुई एक मजदूर स्त्री की भावनाओं का वर्णन था। रूमान और यथार्थ का सम्मिश्रण उन्होंने बड़ी खूबी से उस कविता में किया था।

छात्र अभी तक बैठ-उठ रहे थे। दूसरा कवि क्या पढ़ गया, न्याज कंधाईपुरी अच्छी तरह समझ न पाये। अपनी कविता को उन्होंने पुनः पढ़ लिया। 'अभी तीसरे नम्बर पर यदि उन्हें बुला लिया जाय,' उन्होंने मन-ही-मन सोचा, 'तो वे ऐसा रंग बाँध दें कि वाह!' और दूसरे कवि के जाने पर वे आशाभरी दृष्टि से प्रधान की ओर देखने लगे। परन्तु उनको बुलाने की अपेक्षा प्रधान स्वयं माइक के आगे आ गये।

हुआ वास्तव में यह कि कवि और कोई भी न आया था और प्रधान महोदय सोच रहे थे कि यदि न्याज साहब को भी वे बुला

लेंगे, तो उनके बाद कौन पढ़ेगा। इसलिए माइक के सामने आकर उन्होंने कहा कि अभी एक दिन पहले एक उर्दू-पत्र से उन्हें मालूम हुआ है कि उर्दू के प्रसिद्ध रूमानी कवि श्री अख़्तर शेरानी का देहान्त हो गया है। यह सूचना देने के बाद वे अख़्तर शेरानी के गुणों का विवेचन करने लगे कि किस प्रकार अख़्तर ने उर्दू में रूमानी कविता का सूत्रपात्र किया। काफ़ी समय उसमें बिता कर उन्होंने अख़्तर शेरानी की एक कविता सुनानी आरम्भ की।

न्याज़ साहब ने यह सब नहीं सुना। अख़्तर शेरानी का नाम सुनते ही उन्होंने त्वरित गति से अपनी ब्याज़ के पृष्ठ पलटे और एक कविता खोज निकाली, जो उन्होंने उस ज़माने में लिखी थी, जिन दिनों उर्दू में रूमानी शायरी का ज़ोर था।

'मुझे तो कुछ उन्हीं बीमार आँखों से मुहब्बत है।'

उनकी कविता का शीर्षक था। एक ज़माने में यह बड़ी जोरदार कविता समझी गयी थी। और मुशायरे इसके संगीत से गूंजा करते थे। जितने समय में प्रधान अख़्तर शेरानी के गुणों की बखान करते रहे, न्याज़ साहब इस कविता को मन-ही-मन में दोहराते रहे। जब प्रधान ने अख़्तर की एक रूमानी कविता पढ़नी आरम्भ की, तो न्याज़ साहब अपनी कविता को कंठस्थ कर उसे पढ़ने के लिए पूर्ण रूप से तैयार थे। लड़के अपनी-अपनी सीटों पर जम चुके थे। हाल में प्रधान का स्वर गूंज रहा था और अख़्तर शेरानी की कविता का जादू अपना रंग ला रहा था। न्याज़ साहब कल्पना कर रहे थे कि इस ठहरी-निथरी फ़िज़ा में जब वे अपनी कविता पढ़ेंगे, तो किस प्रकार वातावरण के जादू को और भी गहरा कर देंगे और किस प्रकार उनकी कविता छात्रों के मानस-पट पर अंकित हो जायगी। इसके पश्चात् कोई भी कवि क्यों न आय, उसे वहाँ

से हटा न पायगा और जब युवक अपने-अपने बिस्तर पर जा सोयेंगे और बाहर शुक्ल-पक्ष का चाँद अनवरत चाँदी की वर्षा कर रहा होगा, तो उनमें से हर एक मन-ही-मन गुनगुना उठेगा।

'मुझे तो कुछ उन्हीं बीमार आँखों से मुहब्बत है !'

लेकिन प्रधान ने कविता समाप्त कर क्षण भर इधर-उधर देखा; मन्त्री ने उनके आगे एक परचा बढ़ाया; प्रधान का मुख चमक उठा और उन्होंने जो नाम पुकारा वह न्याज कंधाईपुरी का नहीं, किन्हीं चौबे जी का था।

नाम सुनते ही एक हृष्ट-पुष्ट युवक स्टेज पर आया। माइक की अवज्ञा कर, हाल के अंतिम बेंच पर पहुँचने वाले अपने स्वर में उसने एक अभियान गीत गाना आरम्भ कर दिया।

न्याज साहब को प्रधान की वज्र-मूर्खता पर बड़ा क्रोध आया। पर चौबे जी का मार्च-गीत हाल में गूंज रहा था और लड़के ताल दे रहे थे। 'इसके बाद उनकी—बीमार आँखों से मुहब्बत—क्या जमेगी ?' न्याज साहब ने सोचा, और जल्दी-जल्दी वे अपनी ब्याज के पृष्ठ पलटने लगे। सहसा उनका मुख चमक उठा। 'यह मारा !' उन्होंने दिल-ही-दिल में कहा। अपनी ब्याज में उन्हें एक मार्च-गीत लिखा हुआ मिल गया, जो उन्होंने १९३० के कॉंग्रेस आन्दोलन में लिखा था। गीत यों था—

'चलो, चलो !
बढ़ो, बढ़ो !
कि आज देश की पुकार में बला का जोर है।
कि आज खामुशी के दिल में बेपनाह शोर है।

जो ज़लज़ले ज़मीं में सो रहे थे, आज उठ पड़े।
जो ज़लज़ले तैयार हो रहे थे, आज उठ पड़े।
उन ज़लज़लों के साथ तुम भी आज क़दम बाँध लो!
चलो, चलो!
बढ़ो, बढ़ो!'

देश तो आज़ाद हो गया था, इसलिए इस गीत में 'देश' शब्द उन्हें खटका। झट उसके बदले उन्होंने 'खेत' कर दिया। खेत तो अभी आज़ाद नहीं। उन पर तो अभी ज़िमींदारों का अधिकार है। खेत की पुकार, किसानों की पुकार, ज़मीं में सोये भूकम्प! वाह, कैसी चीज़ बन गयी! और उन्होंने जल्दी-जल्दी उसे मन-ही-मन दोहरा लिया।

'चलो, चलो!
बढ़ो, बढ़ो!
कि आज खेत की पुकार में बला का ज़ोर है।
कि आज ख़ामुशी के दिल बेपनाह शोर है।
जो ज़लज़ले ज़मीं में सो रहे थे आज उठ पड़े।
जो ज़लज़ले तैयार हो रहे थे आज उठ पड़े।
उन ज़लज़लों के साथ तुम भी आज क़दम बाँध लो।
चलो, चलो!
बढ़ो, बढ़ो!'

कविता दोहराकर कल्पना-ही-कल्पना में न्याज़ साहब ने देख लिया कि किस प्रकार उन्होंने चौबे जी के उस मार्च-गीत को उठा कर हाल के बाहर पटक दिया है। पर प्रधान ने चौबे जी के बाद 'रहबर' साहब का नाम लिया और छात्रों ने ज़ोर-ज़ोर से तालियाँ पीटीं।

'रहबर' साहब स्थानीय कवि थे। उनकी कविता तो कुछ महान न थी, पर उनकी आवाज़ में बला का नग़मा था। लगता था कि माधुर्य्य की नदी बह रही है और सब उसके साथ बहे जा रहे हैं। कविता देश की वर्तमान दशा पर थी, पर कवि उसमें क्या कहना चाहता था, कदाचित यह कोई सुन-समझ न रहा था। जैसे सांप बीन के गीत को समझे बिना, उसके स्वर अथवा गति से, झूमता रहता है, वैसे ही छात्र भी उनकी नज़्म के हर पेचोख़म को समझे बिना झूमे जा रहे थे! नज़्म लम्बी थी, बढ़ती ही जा रही थी, पर श्रोता चाहते थे कि वह बढ़ती ही चली जाय, कि वह मधुर स्वर निरन्तर उनके कानों में रस उँडेलता रहे।

न्याज़ साहब उस स्वर को सुनकर चिन्तित हो उठे थे। यदि रहबर साहब के बाद उनको आवाज़ पड़ गयी, तो? रस में डूबे हुये श्रवणों को तो कोई भी दूसरा स्वर कर्कश लगेगा। तब उन्होंने सारी ब्याज़ को फिर जल्दी-जल्दी पलटा। अपनी एक नयी कविता निकाली, जो देश की वर्तमान दशा पर फ़िट बैठती थी और फिर उसे पढ़ कर तय किया कि संगीत के उस जादू को तोड़ने के लिए वे किस नाटकीय ढंग से उसे पढ़ेंगे; किस-किस पंक्ति पर ज़ोर देंगे, किस-किस पंक्ति को दो बार पढ़ेंगे; किस-किस की ओर छात्रों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करेंगे। और कल्पना-ही-कल्पना में उन्होंने जान लिया कि कहाँ-कहाँ उन्हें दाद मिलेगी और वे इस प्रशंसा के उत्तर में सिर को झुका कर, ओठों पर स्मिति की हल्की-सी रेखा लाकर हाथ को मस्तक तक ले जाते हुए विनम्र भाव से 'आदाब' कहेंगे......

रहबर साहब के जाने पर श्रोता 'एक और' 'एक और' का

शोर मचा रहे थे और न्याज़ साहब का दिल बेतरह धड़क रहा था कि प्रधान ने किन्हीं डाक्टर साहब का नाम लिया। श्रोताओं के उस शोर में न्याज़ साहब ने प्रत्यक्ष देखा कि डाक्टर साहब का रंग उड़ गया है। डाक्टर साहब ने कहा कि वे हिन्दी की कुछ रुबाइयाँ सुनाएँगे।

रुबाइयाँ! न्याज़ साहब के मस्तिष्क में अपनी कई रुबाइयाँ घूम गयीं। पर जब डाक्टर साहब एक ही रुबाई पढ़ कर (जो लड़कों के उस शोर में किसी ने नहीं सुनी) फिर अपनी जगह जा बैठे, तो न्याज़ साहब ने निमिष भर में तय किया कि यदि उनका नाम पुकारा गया, तो अपनी किस रुबाई से शुरू करेंगे और इस तरह अपना रंग जमा कर कौन-सी कविता पढ़ेंगे। पर प्रधान ने एक दूसरे उर्दू कवि का नाम पुकारा, जिसने श्रोताओं के ज़ोर देने पर अपनी प्रसिद्ध कविता, 'जवाब इसका कौन दे' पढ़नी आरम्भ की, जो उसने महात्मा गाँधी की हत्या पर लिखी थी। कविता चल रही थी :—

"जवाब इसका कौन दे?
किसे अब इतना होश है?
कि आज हिन्द किसके सोग में सियाह-पोश है!

और न्याज़ साहब जल्द-जल्द ब्याज़ के पृष्ठ पलट रहे थे। उन्होंने महात्मा गाँधी की हत्या पर दस कविताएँ लिखी थीं, जो बड़ी लोक-प्रिय हुई थीं। वे अभी तय ही कर रहे थे कि यदि उन्हें बुलाया जाय, तो उनमें से कौन-सी पढ़ें, कि वे साहब चले गये और एक दूसरे साहब आकर पंजाब के हत्या-कांड पर कविता पढ़ने लगे।

पंजाब का हत्या-कांड तो न्याज़ साहब ने देखा न था। उन्होंने

उस हत्या-कांड की शिकार एक युवती की बेबसी का बड़ा करुण चित्र एक नयी कविता में उपस्थित किया था। वह कविता उन्होंने किसी मुशायरे में आजमायी न थी, पर मित्रों ने उसे बड़ा पसन्द किया था और महिलाओं की एक सभा में तो एक खातून की घिग्घी बँध गयी थी। परन्तु प्रधान ने उनको नहीं बुलाया, बल्कि किन्हीं 'शोख़' साहब का नाम लिया।

न्याज़ साहब का ख्याल था कि 'शोख़' के भेस में कोई कालेज का छोकरा अपनी हास्य-रस की कविता पढ़ेगा, पर 'शोख़' के स्थान पर एक पचपन-साठ वर्ष के बुड्ढे खूसट हज़रत स्टेज पर कुछ इस तरह नमूदार हुए कि उनकी सूरत देखते ही हाल में ठहाका पड़ा। श्रोताओं की ओर से बेपरवाह, माइक को दायें हाथ हटा कर, कुर्सी को कुछ और आगे खिसका कर, उन्होंने कुछ इस प्रकार हाथ-पाँव हिला कर एक रुबाई पढ़ी कि बिना सुने ही, 'वाह! वाह!' कहते और क़हक़हे लगाते हुए छात्र उछल पड़े। इस पर क्रोधित होकर और भी जोर से गर्जते हुए और कुछ विचित्र प्रकार से कुर्सी पर लगभग क़लाबाज़ी खाते हुए 'शोख़' साहब ने एक शेर पढ़ा, जिसका मतलब था कि शेर को समझने के लिए 'दिल' चाहिये! पर श्रोताओं के पास उस समय केवल 'आँखें' थीं। इसलिये 'वाह!' 'क्या कहने हैं!' 'आप ही का हिस्सा है!' कहते हुए वे ठहाके पर ठहाके लगाने लगे।

तब न्याज़ साहब ने देखा कि प्रधान महोदय हाथ जोड़ कर उन बुज़ुर्ग से कुछ कह रहे हैं और वे बुज़ुर्ग आँखें तरेरते हुए स्टेज से उतर रहे हैं और लड़के ठहाके पर ठहाके लगा रहे हैं।

तभी आशंका से न्याज़ साहब का हृदय धड़क उठा, 'कहीं साहबे-सद्र उनका नाम न ले दें !'

लेकिन खुदा का हज़ार-हज़ार शुक्र है कि इस हुल्लड़ को राम करने के लिए उन्होंने मार्च का गाना गाने वाले सज्जन को बुलाया।

चौबे जी ने स्टेज पर आते ही घोषणा की कि वे दूसरा अभियान गीत युवकों को सुनायँगे। परन्तु ज्यों ही उन्होंने माइक को हटाते हुए, पंचम में अपना स्वर उठाया कि पिछली बेंच पर बैठे हुए किसी मनचले ने, उनके स्वर के साथ ऐन-मैन स्वर मिलाते हुए, पंचम ही में ऐसे "कीं—ीं—ीं !" बुलायी कि सारा हाल ठहाकों से गूंज उठा। इसके बाद उन सज्जन ने दायें हाथ की मुट्ठी हिला-हिला कर क्या सुनाया, यह न्याज़ साहब की समझ में नहीं आया। वे हाल के विभिन्न कोनों से भाँति-भाँति की आवाजें सुनते रहे।—आखिर इलाहाबाद के छात्र कवियों का मजाक उड़ाने में पंजाब अथवा अलीगढ़ के छात्रों से किसी प्रकार भिन्न न थे ! अपनी ब्याज और उसमें लिखी हुई कविताओं को भूल कर न्याज़ साहब भी श्रोताओं के साथ कवि महाशय की परेशानी का आनन्द लेने लगे। जब अपना 'मार्च-गान' डबल-मार्च से समाप्त कर कवि महाशय अत्यन्त क्रोधित हो, छात्रों को अपने पीछे ठहाके लगाते हुए छोड़ कर, स्टेज ही से नहीं, वरन् हाल से अभियान कर गये, तो सहसा प्रधान महोदय ने जनाब न्याज़ कंधाईपुरी को स्टेज पर तशरीफ़ लाने की दावत दी।

न्याज़ साहब का दिल धक से रह गया।

समीप ही दरी पर बैठे हुए किसी छात्र ने पूछा—"कौन पुरी ?"

और जब प्रधान ने माइक में उत्तर दिया "कंधाईपुरी," तो

किसी ने ज़ोर से कहकहा लगाया—"कंधाईपुरी, क्या नाम है ? वाह !"

न्याज़ साहब के मस्तिष्क से उनकी समस्त कविताएँ हवा हो गयीं। आँखों में एक विचित्र धुँधलाका-सा छा गया। उन्होंने वहीं अपनी कुर्सी पर खड़े-खड़े गले की ओर संकेत किया।

प्रधान महोदय ने मन्त्री को उनकी ओर भेजा।

न्याज़ साहब के मस्तिष्क ने सुझाया, 'कह दो, मेरा गला ख़राब है।' और उन्होंने मन्त्री महोदय से पूर्ववत गले की ओर संकेत करते हुए कहा कि उनका गला ख़राब है। मन्त्री चकित-सा उनकी ओर देखने लगा, क्योंकि अभी डेढ़-दो घंटे पहले जब वह उन्हें बुलाने गया था, तो उसने उन्हीं के मुँह से आध घंटे तक उनकी नयी कवितायें सुनी थीं। यहाँ तक कि सुनते-सुनते वह ऊब उठा था। उसने पूछा—"क्या बात है ?"

बिजली की-सी तेज़ी से न्याज़ साहब के दिमाग में 'सुरक्षा समिति' में भारत के प्रतिनिधि श्री० गोपाल स्वामी आयंगर का वाक्य घूम गया, जो उन्होंने एसेम्बली के आगे भाषण देने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा था। न्याज़ साहब ने उन्हीं का वाक्य दोहराते हुए कहा—"मुझे लेरिंजाइटिस हो गया है।" लेकिन यह बात उन्होंने घबराहट में इतने ज़ोर से कही कि प्रधान मुस्करा दिये। और उन्होंने माइक में कहा—"दुर्भाग्य की बात है कि आप लोगों के मूड को देख कर जनाब न्याज़ कंधाईपुरी को लेरिंजाइटिस हो गया है !"

हाल में क़हक़हे गूंज उठे। लेकिन यह सब सुनने से पहले न्याज़ साहब हाल से निकल चुके थे और लेरिंजाइटिस की बात भूल कर ज़ोर-ज़ोर से एक रिक्शावाले को आवाज़ें दे रहे थे।

जब सन्त राम ने बेलना उठाया

सन्त राम मेरा नौकर न था, बस सलाम-दुआ ही का नाता था। मेरे कमरे के ऊपर की मंजिल में एक सिन्धी सेठ के यहाँ काम करता था। कांगड़े का रहने वाला था। कभी खत-पत्र पढ़ाने मेरे पास आ जाता और इसी नाते मेरे कुछ छोटे मोटे काम भी कर देता। साढ़े पाँच हाथ का गौर-वर्ण, हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति था, किन्तु विनम्र इतना कि जब तक बातें करता, ध्यान नीचे ही रहता।

एक दिन पड़ौस में कुछ शोर सुन कर मैं अपने दरवाज़े की चौखट पर आ खड़ा हुआ। तभी सन्त राम मेरे सामने से भागता हुआ सा गया।

"क्या बात है?" मैंने पूछा।

"जी कुछ झगड़ा हो रहा है, अभी आकर बताता हूँ" जाते जाते उसने कहा।

चन्द मिनट बाद वह वापस आ गया। मालूम हुआ कि पड़ोस के सेठ की जो नयी दूसरी पत्नी आयी है, वह नौकर छोकरे को बड़ा तंग करती है। उसने नौकर को गाली दी। छोकरा जवान है, उससे सहन नहीं हुई। उसने विरोध किया तो 'बुड्ढे पति की उस लाडली' ने दड़ से थप्पड़ उसके मुँह पर जमा दिया। उसने अपना हिसाब माँगा तो कहने लगी कि बिना नोटिस दिये तू कैसे जा सकता है? छोकरे ने ज़िद की तो बुढ़ऊ भी अपनी पत्नी की सहायता को आ गये और उन्होंने भी चार छः थप्पड़ लड़के को जड़ दिये। शोर सुन कर पड़ोसी इकट्ठे हो गये। परन्तु समझौता हो गया है। छोकरे ने पन्द्रह दिन काम करना स्वीकार कर लिया है और सेठ ने पन्द्रह दिन के बाद उसे छुट्टी देने की बात मान ली है।

"साला छः हाथ का गबरू जवान है" झगड़े की रिपोर्ट देकर सन्त राम ने अपनी ओर से वृद्धि की, "थप्पड़ और गालियाँ खाकर यदि उत्तर न दे सकता था तो काम तो छोड़ सकता था।"

उसकी आँखें ऐसे लाल हो रही थीं, जैसे अपमान छोकरे का नहीं, उसका हुआ हो।

"अब तो साहब, बीवी है, दो बच्चे हैं और घर की ज़रूरतों ने खून की गर्मी निकाल दी है। चार बातें सुन कर भी चुप रहना सीख गये हैं," सन्त राम कह रहा था "नहीं जब मैं इस छोकरे की उम्र का था, एक मालकिन ने मुझे गाली दी थी। मैं खाना पका रहा था। बेलना उठा कर भागा। यदि वे किवाड़ बन्द न कर लेतीं तो मैं सिर फोड़ देता।"

अफ़लातून ने कहा है, "बाहर से देख कर भीतर की बात नहीं जानी जा सकती।" लोकोक्तियाँ घढ़ने में दक्ष किसी लेखक ने इसी को दोहरा कर लिख दिया-'सभी जो चमकता है, सोना नहीं होता'—मैं जिस व्यक्ति को विनम्रता की प्रतिमूर्ति समझे हुए था, वह इतना बर्बर भी हो सकता है, इसकी कल्पना मैंने कब की थी? बेलने की बात सुन कर कुतूहल बढ़ा। पूछा, "क्या बात थी सन्त राम?"

"कुछ नहीं साहब," सन्त राम अपनी बलिष्ठ देह लिये हुए मेरे बैठक खानेके सामने दूसरे मकान की सीढ़ी पर ऊकडू बैठ गया और बोला, "मैं उन दिनों नया नया एक बड़े साहब के घर नौकर हुआ था। बीस बरस की उम्र थी, खून गर्म था, काम से कभी जी न चुराता था और सोना भी सामने पड़ा हो तो कभी हाथ न लगाता था। मेरा चचा उन साहब के दफ़्तर में चपड़ासी था। उनको अच्छे रसोइये की ज़रूरत थी और एक बड़े होटल में काम करने के कारण मैं बहुत बढ़िया खाना पका लेता था। अपने चचा के जोर देने पर मैं उनके यहाँ नौकर हो गया।

साहब बारह तेरह सौ पाते थे और बड़े अच्छे स्वभाव के थे। मेम साहब उमर में भी उनसे बहुत कम थीं और स्वभाव की भी बड़ी गुसैल थीं। नौकरों को बहुत तंग करती थीं। जब से आयी थीं, कई नौकर बदल चुकी थीं। मैंने साहब से कह दिया कि साहब हम काम देंगे, पर इज्जत नहीं देंगे। खाने की बात है, आप को कैसा पसन्द है, यह जानने में कुछ दिन लग जायँगे। एक बार पता चल जाय, फिर काम बिगड़े तो कहिए; पैसे पाई का नुकसान हो जाए तो गर्दन मारिए, पर बेक़सूर गाली हम न सुनेंगे। पचीस नहीं, चाहे पचास रुपया पगार दीजिए।

साहब को मेरा खाना बड़ा पसन्द था और मुझे उनसे कोई

शिकायत न थी। पर मेम साहब उनकी तीसरी पत्नी थीं। थीं भी किसी छोटे खानदान की। गाली देना उनका स्वभाव था। एक दिन मैं बैठा रोटी बेल रहा था कि उनसे पाँच का नोट कहीं रखा गया। मुझसे पूछा तो मैंने कहा, "मैंने नहीं देखा"। इस पर बड़ा बिगड़ीं और लगीं अंट-संट बकने।

मैंने कहा, "यह तो पाँच रुपया है, पाँचसौ भी हो तो मैं थूकता नहीं······"

चिल्ला कर बोलीं, "हमारे रुपये क्या थूकने के लिए हैं ? क्या बकता है हरामी······"

लेकिन अभी गाली उनके मुँह ही में थी कि मैंने कहा, "क्या गाली दी आप ने ?" और बेलना उठा कर भागा।

उन्होंने डर कर दरवाजा बन्द कर लिया और तब तक नहीं खोला जब तक साहब नहीं आ गये। खाना खाने भी वे नहीं निकलीं।

सन्त राम चुप हो गया। पर मेरी उत्सुकता मुखर हो उठी। मैंने पूछा—"तो साहब कुछ बोले नहीं ?"

"मैंने उनसे आते ही कह दिया," सन्त राम बोला, "कि साहब मेम साहब ने हम पर चोरी लगायी और बड़ी बड़ी भारी गाली दे डाली। हमारे हाथ में बेलना था। क्रोध में जाने क्या हो जाता ? आप दया कर हमको छुट्टी दीजिए। जितने दिन काम किया है उसका वेतन देना चाहें दीजिए, न देना चाहें, न दीजिए। अपना घर सम्हाल लीजिए, हम चले जायँगे।"

साहब दफ्तर से आये थे। थके हुए थे। उन्होंने सुन लिया और कुछ नहीं बोले। जब मेम साहब ने उनके जाने पर दरवाजा

खोला और मेरी शिकायत की तो उन्होंने मुझे बुलाया। बोले, "बेलना लिये तुम क्या कर रहे थे?"

"रोटी बेल रहा था।"

तब वे अपनी पत्नी को समझाते हुए बोले, "बेलना तो उसके हाथ में था ही, वह उससे तुम्हें मारने थोड़ा ही आया था। यही बात है न सन्तराम?" उन्होंने मुझसे पूछा।

"जी!" मैंने कहा। और क्या उत्तर देता? वे किवाड़ बन्द न कर लेतीं तो मैं सिर तोड़ देता, पर सच्ची बात कह कर साहब की बात मुझसे रद न हुई। नया-नया आया था और फिर सत्य तो मैंने उनसे एक तरह कह ही दिया था।

सन्त राम फिर चुप हो गया। बैठा बैठा जाने किन विचारों में खो गया और मैं सोचने लगा विचित्र अफ़सर थे वे। मैं नौकरों के साथ न्याय का भारी पक्षपाती हूँ, पर यदि ग़लती करने पर भी कोई नौकर मेरी पत्नी पर हाथ उठाये तो अपनी समस्त न्याय-प्रियता के बावजूद मैं उसका सिर तोड़ कर रख दूँ।

सन्त राम जाने लगा था मैंने फिर पूछा, "तो उसी दिन नौकरी छोड़ दी तुमने?"

"जी नहीं, साहब ने मुझे नहीं छोड़ा। फिर तो मैंने वहाँ छः वर्ष काम किया।

"मेम साहब ने कुछ नहीं कहा?"

"उन्होंने दो चार बार तंग करने की कोशिश की। शिकायत भी की, लेकिन फिर तो वे ऐसी राम हुईं कि......कि......अब मैं आप से क्या कहूँ!"

अन्तिम वाक्य कहते-कहते सन्तराम अपनी अधेड़ उमर के

बावजूद शरमा गया। ओंठों पर आयी मुस्कान को रोक और आँखों में कौंदने वाली चमक को दबा, सिर झुकाये हुए ऊपर भाग गया।

और जहाँ सन्त राम ने अपनी कहानी समाप्त की, वहीं से एक वैवाहिक ट्रेजेडी धीरे-धीरे मेरे सामने खुल गयी।

रस पान

भाग कर अपने कमरे की कुंडी बन्द करते ही नन्द किशोर बिस्तर में धँस गया। यह उससे क्या हो गया? इसका परिणाम क्या होगा? मस्तिष्क जोर से चक्कर खाते साइकल के उस पहिये सा हो रहा था, जिसकी एक भी तीली दिखायी न पड़ रही हो।

बार बार उसे यही ख्याल आता—यह ट्यूशन उसने क्यों ली? क्यों भाई का परामर्श नहीं माना? और ली ही थी तो जब पहले-पहल उसे संकट की आशंका हुई थी, उसने तत्काल इसे क्यों न छोड़ दिया।

नन्द किशोर मैट्रिक ही में था, जब उसके माता पिता का देहान्त

हो गया था। मैट्रिक के बाद चार वर्ष तक बड़े भाई की सहायता से वह बी० ए० तक पढ़ा था। लेकिन यह चार वर्ष का समय भाभी की संकीर्णता और तानों के कारण उसने बड़े-मानसिक कष्ट में गुज़ारा था। इसीलिये जब बी० ए० की परीक्षा का परिणाम निकलते ही उसे लाला शंकर दयाल की पुत्री रेणु को पढ़ाने की ट्यूशन मिली तो वह बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने तत्काल उसे स्वीकार कर लिया।

लेकिन उसके बड़े भाई इस ट्यूशन के पक्ष में न थे। वे कभी लाला जी के दफ़्तर में क्लर्क थे। यद्यपि क्लर्की छोड़ कर अब उन्होंने व्यापार आरम्भ कर दिया था, पर लाला जी के प्रति उनकी कृतज्ञता कम न हुई थी। अब लाला जी उनके प्रमुख ग्राहकों में से थे। उनके उग्रस्वभाव से भी वे भलीभाँति परिचित थे। फिर रेणु की वयस यद्यपि ग्यारह बारह वर्ष ही की थी, पर उसके यौवन की कली समय से पहले ही खिल उठी थी। उसके निखरते हुए सौन्दर्य्य के चरचे कालोनी भर में घर घर थे। और नन्द किशोर के बड़े भाई को अपनी मान-प्रतिष्ठा ही की नहीं, नन्द के भविष्य की भी चिन्ता थी।

"लड़की सुन्दर है जवान है और रंग-ढंग से लगता है कि उड़ने को आतुर है," उन्होंने ट्यूशन की बात सुनकर नन्द से कहा था, "तुम कितने भी साधु-चरित्र क्यों न बनो हमारे ऋषि-मुनियों से बड़े नहीं हो। लाला शंकर दयाल बड़े क्रूर स्वभाव के आदमी हैं। मैंने सुना है कि इस लड़की के कारण कई ट्यूटर पिट चुके हैं। क्यों जान बूझ कर मुसीबत मोल लेते हो। कुछ दिन ठहर जाओ। रोटी तो घर में रूखी-सूखी मिल ही जाती है। आराम से कोई अच्छी सी नौकरी देखो। क्यों उतावली करते हो? आबरू

का महल उमर भर की मेहनत से बनता है, पर ढहते उसे क्षण भी नहीं लगता।"

आबरू के महल की बात नन्द किशोर न समझता हो, यह बात न थी, पर घर में जो 'रूखी-सूखी' मिलती थी, उसकी वास्तविकता से भाई साहब अनभिज्ञ थे। भाभी के व्यंग-विष से बुझी वह चुपड़ी रोटी (जिसे भाई साहब ने विनम्रता-वश 'रूखी-सूखी' कहा था) अब नन्द को एक दिन को भी असह्य थी। इसलिए भाई के परामर्श के बावजूद उसने ट्यूशन स्वीकार कर ली थी।

ऋषि-मुनियों से उसकी तुलना कर भाई ने जो व्यंग किया था, उसको ध्यान में रख, ट्यूशन पर जाने से पहले, नन्द ने अपने व्यवहार की रूप-रेखा बना ली थी—पढ़ाते समय वह कभी अपनी शिष्या से आँख न मिलायगा, कभी इधर-उधर की बात न करेगा, और हँसना मुस्कराना छोड़, गुरु-सुलभ-गम्भीरता को अपना स्वभाव बना लेगा।

उसने ऐसा ही किया था। अपने इस व्यवहार में उसने रंचमात्र भी अन्तर न आने दिया था। हल्की फुल्की रुई के ढेर ऐसे अपने हृदय को उसने हिम सी ठंडी और लौह सी दृढ़ चट्टान सा बना लिया था। इस चट्टान की ठंडक और दृढ़ता में किसी प्रकार की कमी न आयी थी, पर आग पहले दूसरी ओर लगी।

पढ़ाते-पढ़ाते एक दिन उसने अपनी गुरु-सुलभ-गम्भीरता और कठोरता में एक चपत अपनी उस शिष्या के मुँह पर जमा दी। पाँचों अंगुलियों के निशान उसके गोरे गाल पर बन गये और आँखों में आँसू उमड़ आए।

लेकिन तत्काल नन्द को अपनी इस भूल का भान हुआ। कुछ ही दिन पहले लाला जी ने उसे एक ट्यूटर की बात सुनायी थी जिसने प्यार से एक हल्की सी चपत रेणु के गाल पर लगायी थी और जवाब में न केवल अपनी उस सुयोग्य शिष्या से, बल्कि उसके सुयोग्य पिता से भी जूते खाये थे।

इस बात का ध्यान आते ही नन्द ने अधीर होकर कहा, "मुझे क्षमा करना रेणु, क्रोध में मुझसे भूल हो गयी। लाला जी ने तुम्हे चेता भी दिया था, पर इतनी बार मैंने तुम्हें यह प्रश्न समझाया है, फिर भी तुमने गलत किया। खैर अब ऐसा नहीं होगा। मुझे क्षमा कर दो।"

"आप सौ चपत लगा लीजिए मास्टर जी, मैं क्या कहती हूँ।"

और नन्द ने देखा कि आँसुओं के बावजूद मुस्कान की एक क्षीण सी रेखा रेणु के ओंठों पर फैल गयी।

नन्द का माथा ठनका। वही पहला दिन था जब उसने ट्यूशन छोड़ने की बात सोची थी। परन्तु उसकी दशा उस व्यक्ति की सी थी, जिसके पीछे हिंस्र पशु हो और आगे ठाठें मारती हुई नदी और जो अपनी दुविधा में पीछे हटने के बदले आगे बढ़ता जाय।

नदी के वेग से अपने आपको बचाने के लिए उसने हृदय की चट्टान को और भी दृढ़ बना लिया था। अपनी इस शिष्या से, जिसे उसने छोटी सी लड़की समझा था, उसे डर लगने लगा था। आँखों को नीचे कर (बिना यह देखे कि लड़की पढ़ने की अपेक्षा उसके मुँह की ओर देख कर अपने ट्यूटर के शर्मीलेपन पर मुस्कराया करती है) बिना इधर उधर की कोई बात किये, वह समय

पर आता, दत्त-चित्त होकर पढ़ाता और समय खत्म होने पर उठ जाता। घर की न बाहर की, किसी भी बात के चलने का अवसर न आने देता।

तभी एक दिन जब बार बार समझाने पर (ध्यान उसमें न होने के कारण) प्रश्न लड़की की समझ में न आया, या वह जान बूझ कर शरारत से 'जी मैं समझी नहीं' कहे गयी तो हताश होकर, अपने समस्त संयम के बावजूद, आँखें ऊपर उठा, क्रोध से नन्द ने कहा, "इतना तंग करती हो तुम कि यदि लड़कियों को पीटना बुरा न होता तो मार मार कर तुम्हार गाल रंग देता।"

"रंग दीजिए यदि आपका क्रोध उतर जाय" अपने गाल को तनिक आगे बढ़ा कर मुस्कराते और अपनी आँखों को नन्द के हृदय की गहराईयों में उतारते हुए रेणु ने कहा।

इस दृष्टि में, स्वर में, मुस्कान में न जाने क्या था कि नन्द की समस्त झुंझलाहट एक मुस्कान से बदल गयी।

यह मुस्कान पहली दर्ज़ थी जो नदी के निरन्तर आक्रमणों से चट्टान में पैदा हो गयी थी। इसके बाद वह दर्ज़, दरार और दरार शिगाफ़ बनी और वह चट्टान टुकड़े टुकड़े होकर बह चली।

इसके पश्चात प्रयास करने पर भी उस बढ़ते हुए तूफ़ान का मुकाबिला करने की शक्ति उसमें न रही। कई बार उसने रुकने का यत्न किया, पर उसके समस्त यत्न नदी में बहते हुए एक अकिंचन पत्थर के टुकड़े के यत्न बन कर रह गये।

किन्तु जिस प्रकार वह बरबस बहे जा रहा, उसी प्रकार उसे बरबस रुकना पड़ा। वह रेणु के आलिंगन में था, जब उन्हें देख लिया गया। रेणु उछल कर परे जा खड़ी हुई और नन्द भाग कर साथ के कमरे में जा छिपा।

दिल उसका धक-धक कर रहा था। माथे पर पसीना आ गया था। क्या करे, क्या न करे! कुछ सूझ न रहा था। मस्तिष्क का पहिया था कि निरन्तर घूमे जा रहा था।—वह क्यों श्मशान छोड़ कर चला न गया?—बार बार यही ख्याल उसके दिल में आता। परन्तु अपने आपको को कोसने का समय न था। आगत का भय उसकी नस-नस पर छाया जा रहा था। वह लाला जी के क्रोध से भली-भाँति परिचित था। वे गुस्से में होते तो परिणाम को भूल जाते। एक दिन नन्द के देखते देखते उन्होंने अपनी पत्नी का सिर फोड़ दिया था, रेणु को जरा सी बात पर इतना पीटा था कि वह कई दिन तक पढ़ने को न आ पायी थी। जो व्यक्ति अपनी पत्नी और पुत्री के साथ, सबके सामने, इतनी निर्दयता का व्यवहार कर सकता है, वह उसे कब सस्ते दामों छोड़ेगा? फिर अपमान, निरादर, जुगुप्सा और निन्दा! वह भाई के सम्मुख क्या मुँह लेकर जायगा? मित्रों के सम्मुख कैसे होगा? इस अपमान और निन्दा से तो मौत अच्छी!

किन्तु मृत्यु क्या उसके हाथ में है?

उसने सुना—लाला जी गरज रहे हैं, उसे गालियाँ दे रहे हैं। बदहवासी में उसने कमरे इधर-उधर देखा। कुछ भी दिखायी न दिया। पिंजरे में बन्द चूहे सा वह छटपटाने लगा।

बाहर शोर प्रतिक्षण बढ़ रहा था। लाला जी उसके कमरे की ओर आ रहे थे। उसके जी में आया—दरवाजा खोल कर उनके चरणों में जा पड़े। पर इससे लाभ? क्या वह मार से, अपमान से, निन्दा से, निरादर से बच जायगा। अपने बर्बाद कैरेट के साथ वह क्या करेगा? और यदि लाला जी ने उसे पुलिस में दे दिया........

भय-क्रान्त हो उसने फिर चारों ओर दृष्टि डाली। टेबल पर तेज़ाब की शीशी रखी थी। वह स्वयं उसे लाला जी की पत्नी के लिये बाहर से लाया था। वे कपड़े धोने में उसे प्रयोग में लाती थीं। लाला जी उसे गालियाँ देते हुए दरवाजा तोड़ रहे थे। नन्द ने बढ़ कर शीशी उठा ली और आँखें बन्द करके पी गया।

पोस्ट-मार्टम और आत्महत्या के फ़तवे के बाद जब नन्द के शव को लड़कियों के हवाले करके लोग लौट रहे थे तो अलग अलग टोलियों में उसी का चर्चा था। जब एक गली के मोड़ पर रामलाल और गोविन्द, अलग होने से पहले, क्षण भर को रुके तो रामलाल ने लम्बी सांस लेकर कहा।

"कुछ भी हो यार, था वह भाग्यवान। जिस फूल तक पहुँचने में देवताओं के भी पंख जलते, वह भौंरा बना उसके रस का पान करता रहा। मुझे तो यदि क्षण भर को भी यह सौभाग्य प्राप्त हो तो उसके पश्चात शौक से प्राण त्याग दूँ।"

"इसमें क्या शक है" गोविन्द ने दिल की सांस को दिल में दबाकर कहा।

और दोनों मित्र हाथ मिलाकर, कल्पना जगत में नन्द बने, उस फूल के सौन्दर्य्य का पान करते हुए, अपने अपने घरों को चल दिये।

नमक ज़्यादा है।

मैं उन दिनों एक दैनिक के दफ़्तर में ४० रुपये पर एक सहायक-सम्पादक था और दफ़्तर के पास एक तन्दूर पर खाना खाया करता था।

एक दिन मैं अपने तन्दूर पर खाना खाने गया तो अभी जाकर मैं दीवार के साथ लगी लोहे की कुर्सी पर बैठा ही था कि एक साहब के पीछे-पीछे एक भिखारी आया।

उन साहब ने चवन्नी तन्दूर वाले के आगे फेंकी और भिखारी की ओर संकेत करके बोले—"इसे दो रोटियाँ दे दो।"

मैंने भिखारी की ओर देखा—रंग तवे सा काला, टाँगें घुटनों तक नंगी, जूते और कपड़े तार तार और मालूम होता था जैसे हफ़्तों का भूखा है।

सस्ता ज़माना था। एक आने में दो रोटियाँ मिल जाती थीं। तन्दूर वाले ने शेष तीन आने के पैसे उन साहब को दिये और वे अपनी राह चले गये।

भिखारी रोटी के लिए शोर मचाने लगा।

"उधर खड़े रहो।" तन्दूर वाले ने बड़ी सी लोहे की सलाख से सिंकी हुई रोटियाँ तपते तन्दूर से बाहर निकालते हुए कहा। "जो लोग पहले आये हैं, उन्हें दे लेने दो।" और तन्दूर को ढक कर दाल तथा तरकारी रख, उसने मेरे लिए थाली परोस दी।

मैंने यों ही बात चलाने के लिए भिखारी से पूछा, "क्यों भाई, तुम कोई काम क्यों नहीं करते ?"

"मुझे तो माँगते बड़ी शर्म आती है बाबू जी" भिखारी बोला, "बीस रुपये महीना पाता था, दुर्भाग्य से मेरे जोड़ों में दर्द होने लगा और मुझे नौकरी से हटा दिया गया। अभी अभी अस्पताल से आ रहा हूँ। ये हमारे पुराने बाबू थे। इन्होंने चार पैसे की रोटियाँ ले दीं, नहीं आज कल किसके मन में दया रह गयी है जो हमें रोटियाँ खिलाता।"

"कौन होते हो ?" मैंने पूछा।

"वाल्मीक !"

मैं दाल में रोटी तर करके खाने लगा। तन्दूर वाले ने बड़ी बड़ी दो रोटियों पर दाल डाल कर उसे भंगी के हाथों पर रख दिया।

"सालन क्यों नहीं दिया ?" वह बोला।

"पहले दाल खा लो, फिर सालन ले लेना।"

भिखारी ने दो कौर दाल में तर करके खाये और फिर उसे नाली में बहा दिया और चिल्लाया :

"मुझे सालन दो !"

मैंने चौंक कर पूछा, "क्या बात है ?"

"ज़रा नमक ज्यादा है" भिखारी ने उपेक्षा से नाक चढ़ाते हुए दाल की ओर देखा और सालन के लिए हाथ आगे बढ़ा दिये।

वीतरागी

चेतन के बड़े भाई रामानन्द को माँ ने यों ही 'बुढ़ऊ' की उपाधि न दे रखी थी। चेतन के बाबा उनके विषय में कहा करते थे—'इसके सामने घी का घड़ा भी लुढ़क रहा हो तो यह हिलने का नाम न ले!' घर के सुख-दुख तो दूर रहे, अपनी परेशानियाँ भी उन्हें छू न पाती थीं। पिता की डाँट-डपट, मार-पीट, माँ के गिले-शिकवे, कोसने-उलाहने, पत्नी के ताने-मेहने और रोना-रूठना—कोई वस्तु कभी उनकी उदासीनता को भङ्ग न कर पाती। एक विचित्र ढङ्ग की, शुष्कता की सीमा को पहुँची हुई, वीतरागता उनकी आकृति से सदैव टपका करती।

यह वीतरागता उस ढीठपने ही का दूसरा रूप थी जो प्रायः रोज-रोज की डाँट-डपट या मार-पीट के कारण बच्चों में पैदा हो जाया करती है। चेतन के ये बड़े भाई, न केवल बचपन ही में अधिक पिटे थे, वरन् युवावस्था में भी उनकी खूब 'आव-भगत'

हुई थी। बचपन में पिता के निर्दयता के भय से माँ ने उन्हें अपने पीहर भेज दिया था। वहाँ मार-पीट से तो मुक्ति मिल गयी, किन्तु नानी सौतेली थी, इसलिये डाँट-डपट, ताने-मेहने आठों पहर उनके गले का हार रहे। चेतन के पिता रेलवे में थे। जब वे 'रिलीविंग' में हुए, माँ ने सब बच्चों को जालन्धर दाखिल करा दिया और नानी इस 'डहूस'† से तंग आ गयी तो माँ ने भाई साहब को भी जालन्धर बुलवा लिया। यहाँ नानी के सौतेले व्यवहार और नाना की रूखी-फीकी डाँट-डपट से पिंड छूटा तो पिता के तूफ़ानी दौरे और तूफानी मार-पीट से पाला पड़ने लगा। चेतन के पिता पं० शादीराम किसी दूरस्थ स्टेशन से किसी दूरस्थ स्टेशन को (छुट्टी पर जाने वाले किसी स्टेशनमास्टर का स्थान लेने के हेतु) जाते हुए जालन्धर से गुजरते तो अपने इस आगमन की स्मृति के रूप में अपने इस बड़े लड़के को सौ-पचास थप्पड़ और दस-बीस पटखनियाँ दे जाते।

चेतन या उसके छोटे भाइयों की अपेक्षा उसके ये बड़े भाई ही क्यों अधिक पिटते ? इसका कारण सम्भवतः उन दो उपाधियों में निहित है जो माँ और नानी ने उन्हें दे रक्खी थीं—'बुद्धू' और 'डहूस' !

वे बड़े थे, इसलिए शायद पंडित जी की दृष्टि सबसे पहले उन्हीं पर पड़ती और प्रायः उन्हें ही पंडित जी अपनी 'कृपाओं' का पात्र बनाते।

या फिर नानी की उपाधि के अनुसार उन्होंने ऐसा मन-मस्तिष्क और शरीर पाया था कि न उन पर उस मार-पीट का प्रभाव पड़ता और न वे इससे बचने के उपाय ही सोच पाते। पंडित शादीराम

† डहूस = बैल जैसा मनुष्य, कम-अक्ल।

भी, जिन्हें मार-पीट की कला में अपूर्व दक्षता प्राप्त थी, कई बार अपने बड़े बेटे की इस सहनशीलता से हार कर कह उठते—'पीटते पीटते मेरे हाथ दुखने लगते हैं, लेकिन इस डहूस के कान पर जूँ भी नहीं रेंगती।' और उनके इस ढीठपने से चिढ़कर वे पंजाबी भाषा की एक लोकोक्ति सुनाते :

दो पइय्याँ, विस्सर गइय्याँ
सद्का मेरी टूई दा*

पंडित जी साधारणतः पढ़ाई के सिलसिले ही में पीटते। यदि वे अपने किसी बेटे के हाथ में पुस्तक देख लेते तो पहले मामूली तौर पर, बड़े स्नेह से, हँसते-हँसते पुस्तक लेकर उसके दो-चार पृष्ठ उलटते। फिर सहसा उसकी परीक्षा लेने के लिए (जैसी भी पुस्तक हो, उसके अनुसार) कोई अंग्रेज़ी, गणित, भूगोल अथवा इतिहास का प्रश्न पूछ बैठते। यदि उत्तर ठीक होता तो लड़के की पीठ ठोंकते, उसे उठाकर चूम लेते और प्रसन्नता से उसके भविष्य के सम्बन्ध में कई उत्साह भरी भविष्यद्वाणियाँ करते हुए अपने उस जोश में और भी कठिन प्रश्न पूछते।—परिणाम सदैव ठुकाई होता।

चेतन भी बचपन में दो-तीन बार पिटा था, इस बुरी तरह कि वह बहुत देर तक बीमार रहा था; किन्तु बचपन में पिटा सो पिटा, उसके पश्चात् यथाशक्ति उसने ऐसा अवसर न आने दिया। वह सदा उनकी मार-पीट से बचने; उनके सामने न पड़ने; जिस समय वे घर में हों, उस समय घर से बाहर गायब हो जाने के बीसों बहाने सोच लेता। उसका छोटा भाई, छोटा होने पर भी उसकी इस 'दूरदर्शिता' के लाभ उठा लेता और पिता की मार-पीट से

*इस पीठ के सदके जिसके कारण भूल गये जो खाये मैंने मुक्के।

बचने के उपाय सोचने और उन्हें कार्य-रूप में परिणत करने में सदैव उसकी सहायता करता—वह बीमार पड़ जाता कि चेतन उसे डाक्टर के पास ले जा सके; पीड़ा से कराहने लगता कि चेतन उसका सिर दबा सके; गुम हो जाता कि चेतन उसे ढूँढ़ने का बहाना कर सके।

जब पंडित जी घर में होते तो दोनों छोटे भाई सदा उनके सामने जाने से बचने के बीस बहाने सोच लेते। वे इस बात का भी विशेष ध्यान रखते कि पंडित जी आयें तो उनके हाथ में तो क्या, घर के किसी कोने में भी उन्हें पुस्तक का कोई पृष्ठ तक न दिखायी दे। बाहर मुहल्ले ही से उनकी आवाज़ सुनकर वे पुस्तकें छिपाना प्रारम्भ कर देते। पंडित जी नीचे होते तो वे तुरन्त ऊपर की पुस्तकें छिपा देते और जब वे ऊपर आते तो बहाने से नीचे जाकर, वहाँ यदि कोई पुस्तक पड़ी हो तो, उसे उड़ा देते। अपनी समस्त सतर्कता और चाबुकदस्ती के बावजूद यदि उन्हें पण्डित जी के कमरे में जाना पड़ जाता तो न केवल वे कभी हाथ में पुस्तक न ले जाते, वरन् पण्डित जी जिस कमरे में हों, वहाँ यदि भूले से भी कोई पुस्तक पड़ी रह गयी हो, तो बातों बातों में उसे बड़ी कुशलता से, उनकी दृष्टि बचाकर, उड़ा देते। यदि पण्डित जी को गर्मी लग रही हो तो उन्हें इस जोर से पंखा करते कि उनका मन लेट जाने को चाहे—वे लेट जाते तो उनके पांव तथा पिंडलियाँ इस निष्ठा से दबाते कि वे खुर्राटे लेने लगते।

यदि इस समस्त सावधानी के बावजूद दुर्भाग्य उनका कोई वश न चलने देता। उनमें से कोई पण्डित जी के चंगुल में फँस जाता और पण्डित जी उसकी परीक्षा लेने लगते तो दूसरा सदैव इस बात का प्रयास करता कि पण्डित जी के किसी घनिष्टतम मित्र

को उनके आने का समाचार इस भाँति पहुँचा दे कि वह भागा भागा पण्डित जी से मिलने चला आये और भाई का गला छूटे।

किन्तु चेतन के ये बड़े भाई (यों चाहे सारा दिन उपन्यास पढ़ते या आवारा-गर्दी करते) जब पंडित जी घर आते तो तुरन्त पुस्तकें ले बैठते। न केवल वे घर से गुम रहने या पंडित जी के समक्ष जाने से बचने के उपाय न सोचते, वरन् जब पंडित जी घर आते तो वे सदैव घर ही में बने रहते—सम्भवतः अपनी आवारा-गर्दी का हाल छिपाने और पढ़ने में अपनी निष्ठा उन्हें बताने के लिए। फिर चेतन और उसके छोटे भाई की-सी सतर्कता और चाबुकदस्ती भी उनके यहाँ न थी। वे न हाज़िर-जवाब थे, न जल्दी बहाने सोच सकते थे। पिटने पर भी वे सदा अपने पिता के साथ चिपके रहते और इसी लिए प्रायः घर तो घर, बाज़ार में भी वे पिटते।

पंडित जी पुस्तक देख कर ही प्रश्न पूछते हों, यह बात न थी। कई बार सहसा वे ऐसे समय और ऐसा प्रश्न पूछते जिसकी रत्ती भर भी सम्भावना न होती।

......एक बार वे एक दावत के सिलसिले में (पूर्व-वत भाई साहब साथ थे) सड़क की ओर से जाने के बदले लाइन-लाइन थानेदार के यहाँ जा रहे थे कि सहसा एक सिगनल की ओर संकेत करके उन्होंने पूछा—"इसे अंग्रेज़ी में क्या कहते हैं?"

भाई साहब ने तुरन्त उत्तर दिया—"सिंगल।"

और तड़ से एक थप्पड़ उनके मुँह पर पड़ा—"साले, यह पंजाबी भाषा का नहीं, अंग्रेज़ी का शब्द है। स्टेशन मास्टर का

लड़का होकर गँवारों की भाँति 'सिंगल सिंगल' बके जा रहा है।"

दो और थप्पड़ जड़ते हुए उन्होंने ऐसे ही और शब्द पूछे। थानेदार बेचारे बढ़िया पुरानी देशी शराब रखे उनकी प्रतीक्षा करते रहे, किंतु पंडित जी भाई साहब की मरम्मत करते हुए रास्ते से ही लौट आये।

......चीचोकी-मलियाँ स्टेशन के सामने एक मिलेट्री का डिपो था। चेतन के बड़े भाई उस समय आठवीं श्रेणी में पढ़ते थे और चेतन छठी में। वह पहली बार अपने बड़े भाई के साथ चीचोकी-मलियाँ आया था। एक दोपहर जब अपने पिता के साथ वे दोनों डिपो के सामने से जा रहे थे, चेतन ने सहसा अपने भाई से प्रश्न किया—"यह बैरक-सी क्या है, भरा जी ?"

भाई साहब ने बोर्ड पढ़ते हुए बताया—"चीचोकी-मलियाँ मिलेट्री डिपोट..."

अभी उन्होंने वाक्य पूरा भी न किया था कि पूरे जन्नाटे के साथ एक थप्पड़ उनकी कनपटी पर पड़ा और उनकी आँखों के आगे तारे नाचने लगे—"आठवीं श्रेणी में पढ़ता है और यह भी मालूम नहीं कि शब्द 'डिपो' है 'डिपोट' नहीं।"

और पंडित जी ने कांटे वाले से वहीं कुर्सी मंगायी और भाई साहब से पुस्तक लाने को कहा। चेतन पानी पीने के बहाने खिसक गया। पीछे भाई साहब की जो दशा हुई उसका अनुमान लगाया जा सकता है।

......उन दिनों चेतन स्वयं आठवीं श्रेणी में पढ़ रहा था उनका नया मकान अभी पूरा नहीं बना था और वे सब मुहल्ले के साथ ही खोसलों की गली में एक विधवा का मकान किराये पर लेकर रहते थे। उसकी गणित की परीक्षा थी और घर पर पंडित जी (मकान बनवाने के हेतु छुट्टी लेकर) आये हुए थे।

चेतन को गणित से तनिक भी लगाव न था। वह सदैव सौ में से एक दो नम्बर ही पाता ये एक दो नम्बर भी उसकी योग्यता की अपेक्षा अध्यापक की उदारता ही का प्रमाण होते। वार्षिक परीक्षा में रेखागणित उसकी सहायता करता।

बात यह थी कि बचपन ही से उसका गणित कमज़ोर और अंग्रेज़ी अच्छी थी। पंडित शादीराम ने उसका गणित सुधारने की ओर कभी ध्यान न दिया था और उस समय जब उसे दूसरी का गणित भी न आता था, तीसरी श्रेणी में दाख़िल करा दिया था। उन्हें विश्वास था, कि वह एक ही वर्ष में दो कक्षाओं का गणित सीख लेगा। इसीलिए स्कूल ही के एक अध्यापक की ट्यूशन भी उसे रख दी थी। यद्यपि वे महाशय वर्ष भर उसे गणित पढ़ाते रहे और चेतन उन महाशय के कारण तीसरी श्रेणी में पास भी हो गया, फिर भी गणित में वह कोरे का कोरा ही रहा। रहता भी क्यों न, जब कि वे अध्यापक उसे गणित का अभ्यास कराने की अपेक्षा हुक्का भरवाते और पाँव दबवाते। गणित में यह कमज़ोरी धीरे-धीरे उससे अरुचि और फिर घृणा में परिणत हो गयी—और फिर ऐसा हुआ कि गणित की पुस्तक देख कर ही चेतन एक विचित्र प्रकार की उदासीनता और उकताहट अनुभव करने लगा।

उस दिन यद्यपि परीक्षा चार बजे ही समाप्त हो गयी थी, किन्तु चेतन बड़ी देर से घर पहुँचा—इस आशा से कि उसके पिता अपने

अभिन्न-हृदय मित्र देसराज के साथ बाज़ार शेखाँ* की शोभा बढ़ाने चले गये होंगे, पर कदाचित उस दिन देसराज आया न था, या पंडित जी की जेब में मदिरा के लिये पर्य्याप्त पैसे न थे, या कोई और कारण था—नियम के विरुद्ध पंडित जी घर ही पर थे। चेतन के जाते ही उन्होंने डाँट कर पूछा—"कहाँ मर गये थे ? अब परीक्षा समाप्त हुई है तुम्हारी ?"

चेतन का गला सूख गया। उसकी आँखों में धुँधियाली सी छा गयी। हकलाते हुए उसने जो बहाना बनाने की चेष्टा की, उसे पंडित जी ने बीच ही में काट दिया और उससे प्रश्न-पत्र माँगा।

काँपते हाथों से चेतन ने पेपर अपने पिता की ओर बढ़ा दिया।

झटके के साथ पेपर उसके हाथों से छीनते हुए उन्होंने पूछा:

"कितने प्रश्न ठीक हैं ?"

यद्यपि चेतन का एक भी प्रश्न ठीक न था, तो भी उसने कहा कि उसके पाँच प्रश्न ठीक हैं। सहपाठियों से सुने हुए ठीक उत्तर उसने अपने पिता को बता दिये और अपने इस झूठ को सत्य का रंग देते हुए उसने यह भी कहा कि केवल 'काम और वक्त' और सूद-दर-सूद के प्रश्न उसकी समझ में नहीं आये।

इससे पूर्व कि पंडित जी ठीक प्रश्नों के विषय में उसके सत्य की जाँच करते, उन्होंने 'काम और वक्त' का प्रश्न पढ़ा और बोले, "इसमें मुश्किल क्या है ?—कौन सी बात तुम्हारी समझ में नहीं आयी ?"

चेतन मुँह ही में कुछ बड़बड़ा कर रह गया।

"जाओ अपनी पुस्तक लाओ।"

उस समय भाई साहब ने, जो उन दिनों मैट्रिक में पढ़ते थे,

---

*बाज़ार शेखाँ जालन्धर का वह बाज़ार है जहाँ मदिरा के ठेके हैं।

अपने पिता से पेपर लिया और प्रश्न पढ़ कर बोले, "यह तो बिलकुल आसान है।"

चेतन ने एक क्रोध भरी दृष्टि अपने भाई पर डाली और धीरे धीरे उस व्यक्ति की सी चाल से लड़खड़ाता हुआ पुस्तक लेने चला जिसके भाग्य का निर्णय, मृत्यु के रूप में, जज ने सुना दिया हो।

भाई साहब ने इस बीच में प्रसन्नता-पूर्वक लैम्प लाकर उसकी चिमनी को साफ़ किया, बत्ती काटी, तेल भरा और उसे चौकी पर रख कर जला दिया। इस ओर से निश्चिंत होकर वे अपने पिता के लिए हुक्का भर लाने को चले गये। जब इतने पर भी चेतन पुस्तक लेकर न आया तो उसके पिता गरजे। तब माँ ने आकर रूँआँसे स्वर में कहा कि भूखा था, खाना खा रहा है......

चेतन ने बैठे बैठे यह बात सुनी। उसके पेट से एक गोला सा उभर कर उसके कंठ तक आ गया। यदि नीचे न जाना होता तो वह फूट-फूट कर रो उठता, किन्तु किसी प्रकार अपनी समस्त शक्ति से अपने आपको संयत रख, दो कौर किसी न किसी प्रकार निगल कर वह उठा। उसके पाँव मन मन भर के हो रहे थे। उसे कुछ दिखायी न दे रहा था। पुस्तक यद्यपि ताक ही में पड़ी थी, फिर भी उसे ढूँढने में उसे काफ़ी देर लग गयी। इतने में उसके पिता की गरज फिर सुनायी दी। काँपते हुए रुआँसे स्वर में "आया जी"—कह कर, पुस्तक स्लेट और पेंसिल लेकर वह चींटी की सी चाल से नीचे को चला। उस समय उसे ऐसा लग रहा था जैसे प्रत्येक सीढ़ी उसे किसी गहरे अँधेरे गर्त में लिये जा रही है—उसका शरीर रेंगते हुए उस गरीब घोंघे की भाँति अपने आप में सिकुड़ा सा जा रहा था जिसने संकट की गन्ध पा ली हो।

जब वह जाकर पंडित जी के सामने बैठ गया तो उन्होंने स्लेट

पेंसिल और पुस्तक लेकर उसे एक उदाहरण समझाया कि यदि पचीस मजदूर एक खेत को पाँच दिन में काटते हैं तो पाँच मजदूर उसे पचीस दिन में काटेंगे। और उन्होंने उसे समझाया कि काम करने वालों की संख्या अधिक हो तो समय कम हो जाता है और कम हो तो अधिक।

चेतन का वह भय जो मार-पीट की निकट-सम्भावना से उत्पन्न हुआ था, कुछ दूर हो गया। भय के दूर होने के कारण घोंघा फिर खोल से बाहर निकलने लगा। चेतन फिर सम्हल कर बैठ गया और ध्यान से समझने लगा। उस समय उसे न जाने कैसी एकाग्रता प्राप्त हो गयी कि वह प्रश्न जो गणित से घृणा होने के कारण कभी उसकी समझ में न आया था, अपनी समस्त सूक्ष्मता के साथ तुरन्त उसकी समझ में आ गया। वास्तव में उसने कभी सोचने का प्रयास ही न किया था। उस समय मार के भय से या समझाने वाले के सामीप्य के कारण प्रश्न की समस्त जटिलता बिलकुल स्पष्ट होकर उसकी समझ में आ गयी।

जब चेतन के पिता ने उससे पूछा कि प्रश्न उसकी समझ में आ गया है या नहीं तो उसने 'हाँ' सूचक सिर हिलाया।

तब पंडित जी ने उसे योंही एक मौखिक प्रश्न पूछा। चेतन ने झट उसका उत्तर बता दिया। फिर वे उससे प्रश्न करते गये और चेतन उत्तर देता गया। हर बार वे प्रश्न को जटिल करते गये—यहाँ तक कि उन्होंने एक खासा मुश्किल प्रश्न उससे पूछा।

चेतन का साहस बँध गया था। उसने कहा, "जी मैं तनिक सोच कर बताता हूँ।"

चेतन की मेधा-शक्ति से प्रसन्न होकर उसके पिता ने उसे सोचने की आज्ञा दे दी और जब सोचने पर भी उसने डरते डरते कहा, "जी

यह मेरी समझ में नहीं आया।" तो सहसा पंडित जी की दृष्टि मूर्खों की भाँति मुँह बाये बैठे अपने बड़े लड़के पर चली गयी। और उन्होंने जैसे बन्दूक दागी, "तू बता।"

भाई साहब सिटपिटाये। काफी सोचने के बाद उन्होंने जो उत्तर दिया उसकी दाद में एक ज़ोर का थप्पड़ उनके गाल पर पड़ा।

"मैट्रिक में पढ़ता है और आठवीं श्रेणी का प्रश्न नहीं आता।"
और पंडित जी ने अपनी कृपा-दृष्टि को चेतन के बदले भाई साहब की ओर मोड़ दिया।

मैट्रिक तक मार-पीट के बल पर किसी न किसी भाँति पढ़ कर भाई साहब कालेज में दाखिल तो हो गये; किन्तु परीक्षा में सफल होना उन्होंने उतना आवश्यक नहीं समझा। वे अंग्रेज़ी में कमज़ोर थे, किन्तु संस्कृत से तो जैसे उनके प्राण जाते थे। यह बात वे कभी न समझ पाते कि यह क्लिष्ट भाषा, जो न किसी सरकारी नौकरी में काम आती है, न किसी व्यापारिक दफ़्तर में, जो आर्यों के समय में भी जनसाधारण की भाषा न थी, आजकल क्यों पढ़ायी जाती है? क्या ज़रूरत है कि संस्कृत या अरबी-फ़ारसी में से एक विषय अवश्य लिया जाये? इसके स्थान पर किसी ललित कला या शिल्प की शिक्षा क्यों नहीं दी जाती? और एक दिन गर्मी की छुट्टियों से पहले, तीन महीने की फ़ीस लेकर वे दिल्ली भाग गये थे और वहाँ एक पेंटर की दुकान पर शिष्य हो गये थे। दुर्भाग्य से पंडित शादीराम के एक पुराने मित्र ने उन्हें देख लिया और इस

प्रकार भाई साहब को न केवल विवश होकर लौट आना पड़ा, बल्कि उसी कालेज में फिर से शिक्षा पाने के लिए बाध्य होना पड़ा।

पिता की कठोरता से भाई साहब घबराये नहीं। मार के भय से कालेज में वे प्रविष्ट तो हो गये, किन्तु क्लास में बैठ कर प्रोफेसरों के शुष्क लैक्चर सुनने की अपेक्षा कालेज के सुहाने उपवन में किसी घने वृक्ष की छाया में बैठ कर नित्य नये मनोरंजक उपन्यास पढ़ने लगे। ये सब उपन्यास भाई साहब 'महन्तराम बुक सैलर' की दुकान से, दो पैसे प्रतिदिन के हिसाब से, किराये पर ले आते। महन्तराम की दुकान भैरों बाजार में थी और उसमें फ़ज़ल बुक डिपो लाहौर से लेकर नवलकिशोर प्रेस लखनऊ तक—सभी प्रकार की संस्थाओं से छपी हुई पुस्तकों के ढेर लगे रहते थे। भाई साहब ये राशि-राशि पुस्तकें दीमक की भाँति चाट गये थे और साहित्य के उस महान् कोष को चाट जाने पर भी वे दीमक ही की भाँति कोरे के कोरे थे।

उपन्यास वे केवल मन-बहलाव या समय काटने के लिए पढ़ते थे, मनन-चिन्तन के लिए नहीं। इसी कारण जिस उल्लास और उत्सुकता से वे 'बेगुनाह कैदी,' 'नीली छतरी,' 'बहराम डाकू,' 'चन्द्र कान्ता संतति,' 'भोलानाथ' और तीरथराम फ़ीरोज़पुरी के अनुवाद आदि पढ़ गये थे, उतने ही आनन्द से वे बंकिम चन्द्र, टैगोर, शरत् और प्रेमचन्द के उपन्यास निगल गये थे।

परिणाम वही हुआ जिसकी उन्हें आशा थी। उनकी हाज़रियां कम हो गयीं और यद्यपि पंडित शादीराम ने अपने सिद्धान्त—तेल तमा जिसको मिले तुरत नरम हो जाय—के अनुसार प्रोफेसरों

को रिश्वत देने का प्रयास भी किया और दूसरे विषयों में किसी न किसी प्रकार भाई साहब के लैक्चर पूरे भी हो गये; किन्तु संस्कृत के प्रोफेसर को वे किसी भाँति राम न कर पाये। भाई साहब परीक्षा में न बैठ सके और जब एक बार नहीं बैठे तो फिर नहीं बैठे।

कालेज से पिंड छूटा तो भाई साहब ने जीविकोपार्जन की चिन्ता करने की अपेक्षा ताश और शतरंज को अपना साथी बनाया। इसमें कुछ उनका दोष था, कुछ उनके पिता का। जब भाई साहब दिल्ली से आ गये तो माँ के परामर्श से पंडित जी ने इस चंचल 'घोते'* को बाँधने के विचार से, उसकी नाक में नुकेल डालना आवश्यक समझा। अपने एक स्टेशन-मास्टर मित्र की लड़की से उनकी सगाई कर दी। जब भाई साहब परीक्षा में बैठने के स्थान पर घर बैठ गये तो उन्हें किसी काम पर लगाने या कोई कला-कौशल सिखाने के बदले पंडित जी ने उनकी शादी कर दी।

इसके पश्चात्, यद्यपि दूसरे वर्ष भाई साहब ने कालेज जाने से साफ़ इनकार कर दिया, तो भी पंडित जी को उन्हें नौकर कराने की चिन्ता नहीं हुई। एक बार माँ के अनुरोध से तंग आकर वे उन्हें आडिट-आफिस में, अपने एक मित्र के पास, अवश्य ले गये, किन्तु जब उसने उन्हें केवल पैंतीस रुपये मासिक पर 'आफिस ब्वाय' रखने से अधिक कुछ करना स्वीकार न किया तो पंडित जी ने अपने उस मित्र को बीसियों गालियाँ दीं और कहा कि "पैंतीस रुपये तो मैं रोज शराब पर खर्च कर देता हूँ साले!" और अपने इस थर्ड-डिविज़न मैट्रिक-पास सुपुत्र को लेकर चले आये।

---

*ऊँट।

फिर यद्यपि पंडितजी ने उनकी नौकरी लगाने के हेतु फिरोज़पुर, लाहौर और दिल्ली जाने के लिए, चेतन की माँ से कई बार रुपये लिये; किन्तु वे बाज़ार शेखां के साक़ी की दुकान तक होकर ही लौट आये।

रहे भाई साहब, तो उन्होंने अपने लिये एक मॉटो बना रखा था—'सोचो मत।' इसी मॉटो पर अक्षरशः चलने का परिणाम था कि इस बेकारी और बेरोज़गारी के बावजूद उनके एक लड़का और दो लड़कियाँ हो गयी थीं। एक मर चुकी थी और दूसरी को उनकी पत्नी कूल्हे से लगाये फिरती थी और वे स्वयं अपने इन बीवी-बच्चों को पालने के लिये कहीं नौकरी ढूंढने की बात एक दम भुलाये गुलछर्रे उड़ा रहे थे। कभी जब माँ या पत्नी घर में उनका दम नाक में कर देती और ऐसे तीखे व्यंग्य-बाण छोड़तीं कि भाई साहब सोचने को विवश हो जाते तो वे आँगन में किसी औंधी बाल्टी पर या दरवाजे की किसी चौखट में कुछ क्षणों के लिये घुटनों पर कुहनियाँ टिकाये, हथेलियों पर ठोड़ी रखे, अतीव एकाग्रता से सोचने की मुद्रा बना कर बैठ जाते। सम्भवतः वे सोचना भी चाहते, किन्तु इस क्षेत्र में वे अपने आपको सदैव उस खिलाड़ी-सा पाते जिसे खेल का आरम्भिक ज्ञान भी न हो। कुछ क्षण इसी मुद्रा में बैठे रहने के पश्चात् सहसा सिर को झटक कर वे उठते और सरदार नन्दा सिंह सोडावाटर वाले की दुकान या पंडित बनवारीलाल सूत वाले की दुकान पर जाकर किसी ताश या शतरंज की टोली में सम्मिलित हो जाते। धीरे-धीरे वे इस मैदान में अपना स्थान बना लेते। ताश और शतरंज में उनकी अपूर्व प्रतिभा के सम्मान में कोई न कोई खिलाड़ी उनको अपना स्थान दे देता और फिर एक बार जूते एड़ियों से ठकोर कर झाड़ने के पश्चात्

वे जम कर जो बैठते तो दूसरों को अपनी योग्यता का लोहा मनवाये बिना न उठते।

किन्तु चेतन की मां अपने इस बेटे की बेकारी और अकर्मण्यता तथा उसकी बहू के कर्कश, झगड़ालू, स्वभाव से अत्यन्त दुखी थी। जब अपने सुपुत्र को काम में लगा देखने के लिए पिता के समस्त प्रयत्न शराबखाने तक जाकर ही समाप्त हो गये तो मां ने कहीं से ऋण लेकर उसे एक लांडरी खोल दी।

बात वास्तव में यों हुई कि भाई साहब के प्रिय मित्र सरदार नन्दा सिंह सोडावाटर वाले की दुकान पर, जहाँ शीतकाल में सोडे का बाजार ठण्डा और शतरंज की महफ़िल गर्म रहती थी, फ़िरोज़-पुर से एक व्यक्ति आया जो शतरंज का ज़बरदस्त खिलाड़ी था। उसने पहली ही बैठक में भाई साहब को, जो उस इलाके में शतरंज के चैम्पियन माने जाते थे, निरन्तर कई बार मात दे दी।

जब बिसात उठी तो एक सच्चे खिलाड़ी की भाँति भाई साहब ने उसके खेल की भूरि-भूरि प्रशंसा की और लेमोनेड की एक बोतल खोलते हुए उसे दूसरे दिन के लिये आमंत्रित किया। तब उसने बताया कि वह तो काम की खोज में जालन्धर आया है। उधर से निकला था, शतरंज बिछी देख कर बैठ गया; नहीं उसे तो काम-धन्धा ढूंढना है। भाई साहब का कुतूहल बढ़ा और वे उसे उसके अड्डे—स्टेशन की सराय तक छोड़ने गये। बातों-बातों में उन्हें यह भी ज्ञात हो गया कि उसका नाम राजा राम है। वह लांडरी के काम में निपुण है। धोने और रंगने में दोआबा (सतलुज

और ब्यास नदी के मध्य का प्रदेश) भर में उसका कोई सानी नहीं। किसी समय फ़िरोज़पुर ही में उसकी लांडरी थी, किन्तु १९२१ के असहयोग आन्दोलन में वह जेल चला गया और उसकी लांडरी चौपट हो गयी। जेल में उसने दो चीजें सीखीं—एक शतरंज, दूसरे राष्ट्रीय कविता। भाई साहब को उसने अपने कई बैत सुनाये और यह भी बताया कि वह प्रसिद्ध डाइर और ड्राई-क्लीनर होने के साथ-साथ ही ख्याति-प्राप्त राष्ट्रीय कवि भी है।

फ़िरोज़पुर में उसकी रंगायी धुलायी के साथ उसके बैतों की भी धूम है। जब लाहौर कांग्रेस के लिए सरकार ने मिन्टोपार्क देना स्वीकार न किया था तो उसी ने यह प्रसिद्ध बैत लिखा :

> मिन्टो पार्क नू ले जाओ वई लन्दन चुक के
>
> असाँ रावी ते झन्डा झुलावाँगे वई।

एक बार लांडरी टूटने पर उसने कई बार पुनः लांडरी स्थापित करने की चेष्टा की, पर उसे सफलता नहीं मिली। अब फ़िरोज़पुर छोड़कर वह जालन्धर आया है कि यदि कोई ऐसा व्यक्ति मिल जाय जो थोड़ी बहुत पूंजी लगाने को तैयार हो तो साझे में लांडरी खोले।

शतरंज के इस कुशल खिलाड़ी और राष्ट्रीय कवि के दुर्भाग्य से भाई साहब को बड़ी सहानुभूति हुई; किन्तु शतरंज और ताश की चैम्पियनशिप के अतिरिक्त उनके पास कुछ न था। फिर भी उन्होंने उसे दूसरे दिन आने के लिये कहा और सान्त्वना दी कि वे उसके लिये कुछ न कुछ प्रबन्ध अवश्य करेंगे।

उस दिन दिये जले जब चेतन घर आया तो उसने देखा कि माँ बर्तन मल रही है और उनके पास ही एक औंधी बाल्टी पर बैठे

हुए भाई साहब लाँडरी के काम की प्रशंसा के पुल बाँध रहे हैं—

"हींग लगे न फटकरी, रंग चोखा आये" वे कह रहे थे, "कपड़े लोगों के और धोकर देनेवाले धोबी, लाँडरी वाले को तो मुफ्त में लाभ हो जाता है। कोई ही ऐसा बिज़नेस होगा जो इतनी कम पूंजी से आरम्भ किया जा सके और जिसमें इतना लाभ हो।

चेतन उस समय जल्दी में था, इसलिए उसने भाई साहब की पूरी बात नहीं सुनी, किन्तु उसदिन के पश्चात् उसने देखा कि लाँडरी के काम में भाई साहब का उत्साह उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। दिन का पर्याप्त समय वे घर ही में रहने लगे हैं, ड्राई क्लीनिंग और डाईंग की कला में उन्हें पर्य्याप्त दक्षता प्राप्त होती जा रही है और जितना समय वे घर पर रहते हैं; माँ को लाँडरी के काम के लाभ समझाते रहते हैं...

एक दिन उसने सुना भाई साहब कह रहे थे—"यदि मैं ताश शतरंज में व्यर्थ समय नष्ट करता रहा तो इसमें मेरा क्या दोष है? मुझे किसी ने कोई कला-कौशल सिखाया ही नहीं। मैं दिल्ली भाग गया था, यदि मुझे वहाँ से वापस न बुलाते तो मैं अब तक वहाँ प्रसिद्ध पेंटर हो गया होता। अब भी यदि मैं लाँडरी का काम सीख जाऊँ तो न केवल अपना, बल्कि सारे परिवार का बोझ अपने कन्धों पर उठा लूँ।"

माँ बहुत प्रसन्न हुई कि अन्त में सुबह का भूला शाम को घर आ गया है। उसी दिन से वह इस बात की चेष्टा करने लगी कि अपने इस बेटे को किसी न किसी प्रकार लाँडरी के लिये रुपये इकट्ठे कर दे। सुयोग भी आ उपस्थित हुआ। पंडित शादीराम को उन्हीं दिनों सट्टे* की नयी-नयी लत लगी थी। दुनिया भर के

---

*सट्टा=दड़ा=एक तरह की लाटरी। १०० नम्बरों में से जिसका नम्बर आ जाता है उसे सौ गुना पैसे अथवा रुपये मिल जाते हैं।

साधु-सन्तों, पीरों-फ़कीरों की सेवा-सुश्रूषा के पश्चात् वे इसी व्यसन के कारण खासे ऋणी भी हो गये थे । तभी उन्हें जालन्धर छावनी के एक पहुँचे हुए ज्योतिषी का पता चला। बस वे पन्द्रह दिन की छुट्टी लेकर जालन्धर आ पहुँचे। जालन्धर से छांवनी और छावनी से जालन्धर, बीसियों चक्कर काटने और उन ज्योतिषी जी की चौखट पर निरन्तर माथा रगड़ने के पश्चात् उन महाराज के दर से उन्हें 'दड़े' का एक नम्बर मिला और इसे भाई साहब का भाग्य कहिये या उनके फ़िरोज़पुरी मित्र का, कि वह नम्बर आ गया और पंडित जी को साढे तीन हज़ार रुपये मिल गये।

यद्यपि उस समय पंडित जी के सिर पर लगभग उतना ही ऋण था और माँ की इच्छा थी कि परमात्मा ने जब उनको सुअवसर दिया है तो उन्हें उसका पूरा लाभ उठा कर सट्टे को सदैव के लिए 'नमस्कार' कह देना चाहिए; किन्तु पंडित जी अपने भगवान को इतना कृपण न समझते थे। पत्नी के उपदेश भरे परामर्श के उत्तर में—'भगवान तेरी लीला अपरमपार है' का नारा बुलन्द करते हुए उन्होंने कहा—"जिस भगवान ने एक बार दिया है वह फिर क्यों न देगा ?" और केवल डेढ़ हज़ार का ऋण उतारा। फल, मिठाई कपड़ों और रुपयों का एक थाल ज्योतिषी जी के घर पहुँचाया और शेष रुपया अस्सी-नव्वे प्रति दिन के हिसाब से सट्टे पर लगाते रहे। किन्तु जब माँ ही की बात पूरी हुई कि वह तो भगवान ने उन्हें सुधरने का एक अवसर दिया था, नहीं लक्ष्मी यों मारी-मारी नहीं फिरती, तो सारा रुपया ठिकाने लगा कर, डेढ़ हज़ार का फिर साढ़े तीन हज़ार ऋण बना कर और माँ को 'काल-जीभी' की उपाधि से विभूषित करके वे पुनः अपने स्टेशन पर चले गये।

माँ ने भाई साहब की प्रेरणा और सहायता से जैसे-तैसे उस

रुपये में से तीन-चार सौ बचा लिया था। दो-तीन सौ कहीं से उधार लिया और लांडरी खोलने की व्यवस्था कर दी।

उन दिनों भाई साहब का उत्साह अपने शिखर पर था। उनके पांव धरती पर न पड़ते थे। बड़े तमतराक से उन्होंने अड्डा होश्यारपुर पर एक तबेला किराये पर लिया, कपड़े धोने के लिये घाट बनवाये और बड़े-बड़े विज्ञापनों के साथ, जिनमें उनके मित्र फ़िरोज़पुरी राष्ट्रीय कवि ने अपने बैंतों में लांडरी के गुणों का बखान करने में बड़ी उदारता से काम लिया था, 'भारत लांडरी वर्क्स' की घोषणा कर दी। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस लांडरी में राष्ट्रीय कवि बराबर के साझीदार थे।

लांडरी खोलने में भाई साहब ने इतनी निष्ठा और लग्न का परिचय दिया कि चेतन को आप से आप उनकी सहायता के लिए तैयार होना पड़ा। अपने कालेज के होस्टल, स्कूल के होस्टल,— अपने कालेज और स्कूल ही के नहीं, बरन् अपने मित्रों की सहायता से दूसरे स्कूलों के होस्टलों से भी उसने 'भारत-लांडरी' के लिए कपड़े लाने का प्रबन्ध कर दिया।

पीतल की बड़ी-बड़ी इस्त्रियाँ खरीदी गयीं, तांबे के बड़े-बड़े तबलबाज़ लाये गये, शो-केस बनवाये गये और बड़े धड़ल्ले से लांडरी का काम चलने लगा। भाई साहब ने रंगायी और धुलायी का काम सीखने में रत्ती भर भी आलस्य नहीं दिखाया। चेतन ने यह भी देखा कि जब धाबी न होते या दूसरा काम कर रहे होते तो भाई साहब स्वयं ही इस्त्री लेकर कपड़ों के ढेर के ढेर प्रेस कर देते।

भाई साहब की इस काया-पलट पर चेतन मन ही मन चकित हुआ करता और उसे किसी प्रसिद्ध दार्शनिक का यह कथन स्मरण हो आता—'मनुष्य का मन एक अथाह समुद्र है। इसके गर्भ में

क्या है, यह सतह को देख कर नहीं जाना जा सकता।' और माँ नित्य पूजा के समय भगवान से कहतीं—"हे भगवान, जैसे तूने मेरी सुनी, वैसे ही सबकी सुन!"

कुछ महीनों तक मजे में काम चलता रहा। फिर क्या हुआ कैसे हुआ, चेतन को कुछ भी ज्ञात नहीं, किन्तु जहाँ-जहाँ से उसने कपड़े लाकर दिये थे, वहाँ-वहाँ से उसके पास निरन्तर शिकायतें पहुँचने लगीं। उसके एक मित्र ने उलाहना दिया कि तीन सप्ताह तक उसे कपड़े नहीं मिले और जब वह लांडरी में गया तो धोबियों ने उसके कपड़े पहन रखे थे। एक दूसरे ने शिकायत की कि उसने अपनी बहिन की जो साड़ी रँगने के लिए दी थी, जब वह उसे लेने गया तो उसे कोई दूसरी साड़ी मिली। उसने अपनी साड़ी के लिए तगादा किया तो भाई साहब और उनके मित्र उससे लड़ने पर उतारू हो गये कि रँगने के पश्चात् साड़ी वैसे ही कैसे रह सकती है। चेतन का मित्र पूछ रहा था—"रँगने के पश्चात् साड़ी का रंग तो बदल सकता है, किन्तु साड़ी किस रासायनिक-क्रिया से बदल गयी?"

उन दिनों चेतन परीक्षा की तैयारी कर रहा था। जब इन शिकायतों, उलाहनों और अभियोगों में प्रति-दिन वृद्धि होने लगी और सब ओर त्राहि-त्राहि मच गयी तो एक दिन अपनी पुस्तकों को पटक कर वह लांडरी पहुँचा। तब उसने देखा कि कपड़ों और उनके झमेलों से मुक्त होकर, तबेले के घने पीपल की छाया के नीचे, भाई साहब अपने उस फिरोजपुरी मित्र के साथ बिसात बिछाये बैठे हैं और उसे मात पर मात दे रहे हैं—नन्दासिंह की दुकान पर उसने उन्हें जो शिकस्त दी थी, उसका भरपूर बदला चुका रहे हैं.........

चेतन बोला; बका; भाई साहब ने लांडरी का काम देखने का वचन भी दिया, किन्तु दशा सुधरने के बदले प्रति दिन बिगड़ती ही गयी। अन्त में एक दिन उसने सुना कि भाई साहब लांडरी को उसके भाग्य पर छोड़ कर कांग्रेस के डिक्टेटर हो गये हैं।

भाई साहब ने अपने उस फ़िरोज़पुरी मित्र से जहाँ लांडरी के लाभ सुन रखे थे, वहाँ कारावास के राजनीतिक-जीवन के विषय में भी बहुत-सा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। बड़े-बड़े नेता पकड़े जा चुके थे। इसलिए जो भी नेता बनने और जेल जाने को तैयार होता, डिक्टेटर बन सकता था। घर में माँ और पत्नी के कोसनों, लांडरी में धोबियों और ग्राहकों के तगादों और दूसरे व्यावसायिक झगड़ों से भाई साहब का जीवन इतना कटु हो गया था कि उन्हें जेल की कोठड़ी कहीं अधिक लुभावनी लगती थी। शतरंज के उस फ़िरोज़पुरी चैम्पियन की चालें देखने और उसे मात देने की जिस उत्कंठा ने भाई साहब को, उपचेतन मन में, इतना बड़ा उत्तर-दायित्व अपने ऊपर लेने और 'नीच जात का काम' करने के लिए उकसाया था, वह यह जान कर शान्त हो गयी थी कि आखिर उसकी गढ़-रचना कोई ऐसी दुर्जय नहीं और वे अनायास ही उसकी ईंट से ईंट बजा सकते हैं। जब उन्होंने फ़िरोज़पुर के उस चैम्पियन पर अपनी गढ़-रचना का सिक्का, उसे निरन्तर शिकस्तें देकर, जमा लिया तो लांडरी जैसे 'नीच' काम का जंजाल पाले रखना उन्हें एक दम निरर्थक मालूम हुआ।

चेतन को भी एक तरह से शान्ति मिली। यह सच है कि घर में कुहराम मच गया और जिन लोगों के कपड़े गुम हो गये थे, उसके उलाहने और गालियाँ सुनते-सुनते उसके कान पक गये, किन्तु उसने अपने मित्रों से कह दिया कि भाई साहब लांडरी से

अलग हो गये हैं और अब इस विषय में उनके फ़िरोज़पुरी मित्र ही से पूछ-ताछ की जाय।

भाई साहब ने जिस निष्ठा से लांडरी खोली थी, उससे कहीं अधिक निष्ठा से वे राष्ट्र-सेवा में निमग्न हो गये। दिन रात वे कांग्रेस के काम में व्यस्त रहते। कहीं चन्दा इकट्ठा कर रहे हैं; कहीं झण्डे को सलामी दे रहे हैं; कहीं जलूस निकाल रहे हैं और कहीं सभा की व्यवस्था कर रहे हैं। घर वालों को उनके दर्शन भी दुर्लभ हो गये। अपने लम्बे छरहरे शरीर पर खादी की शेरवानी और खादी ही का चूड़ीदार पायजामा पहने, सिर पर तिरछी गांधी टोपी रखे वे शुतर-बे-मुहार की भाँति घूमते और घर वालों को इस प्रकार देखते मानो वे किसी नाली में कुलबुलाने वाले अत्यन्त उपेक्षणीय और हेय, अन्धे, बुच्चे, कीड़े हों।

चेतन के मन में अपने भाई का सम्मान, घर में नित्य नयी दी जाने वाली गालियों के बावजूद, बढ़ने लगा कि उसे कांग्रेस की एक सभा देखने का सुयोग मिला और उसे ज्ञात हो गया कि भाई साहब के लिए कांग्रेस की डिक्टेटरी भी लांडरी से अधिक महत्व नहीं रखती।

उस दिन भाई साहब ने उससे अनुरोध किया था कि वह आज की सभा देखने अवश्य आये और उन्होंने बताया था कि प्रेस के विषय में सरकार ने जिस कठोरता की नीति से काम लिया है, उसके विरुद्ध प्रोटेस्ट के तौर पर अख़बार बन्द हो गये हैं। देश में चारों ओर प्रोटेस्ट-सभाएँ हो रही हैं। इसी सम्बन्ध में उन्होंने भी सभा की व्यवस्था की है, जिसमें वे स्वयं एक बहुत ज़ोरदार भाषण देंगे

जा रहे हैं। इस बात की पूर्ण-सम्भावना है कि उन्हें सभा में गिरफ़्तार कर लिया जाय। उन्होंने चेतन से अनुरोध किया कि वह उनका भाषण सुनने अवश्य आये और चलते-चलते यह भी कहा कि यदि सम्भव हो तो वह एक हार जरूर ख़रीद कर लेता आये।

चेतन उस दिन एक अत्यन्त मनोरंजक उपन्यास पढ़ रहा था। यद्यपि उपन्यास को बीच ही में छोड़कर जाना उसे बड़ा अप्रिय लगता था, तो भी भाई साहब का अनुरोध था और फिर इस बात की आशंका भी थी कि न जाने वे उस दिन पकड़ लिये जायँ और कितने वर्षों के लिए जेल की कोठरी में ठूंस दिये जायँ। इस लिए पुस्तक को हाथ ही में लिये वह चल पड़ा और भाई साहब की इच्छानुसार उसने रास्ते में फूलों का एक हार भी ख़रीद लिया।

जब वह चौक अमाम-नासरुद्दीन में पहुँचा तो सभा आरम्भ हो चुकी थी। वह एक ओर खड़ा हो गया। उसने देखा कि डाइंग और ड्राइक्लीनिंग के विशेषज्ञ, राष्ट्रीय-कवि सभापति के आसन की शोभा बढ़ा रहे हैं और भाई साहब एक समाचार-पत्र से किसी नेता का वक्तव्य पढ़ रहे हैं। इसी को शायद वे भाषण देना कहते थे। चेतन ने देखा कि उन के हाथ काँप रहे हैं, उनकी टांगें काँप रही हैं, यहाँ तक कि तख्त और उस पर रखी हुई मेज भी काँप रही है।

तभी एक ओर से जनता उठ खड़ी हुई और 'पोलीस-पोलीस' का शोर मच गया। इस भगदड़ में चेतन हाथ में हार लिये हुए समीप ही खड़ी एक बैलगाड़ी पर चढ़ गया। दूसरे क्षण उसे पता चला कि जिसे लोग पुलिस समझते थे, वह तो एक भयभीत सांड है। न जाने किस पाजी ने उसे सभा की ओर भगा दिया था। कभी वह डर कर एक ओर जाता, कभी दूसरी ओर! किन्तु, जब सांड

भय की सीमा पार कर निर्भीक हो गया तो श्रोताओं ने, जो भाषण सुनने की अपेक्षा यह तमाशा देखने लगे थे, उसे रास्ता दे दिया। लोग फिर इकट्ठे होने लगे। चेतन भी बैलगाड़ी से उतर कर सभा के मध्य में रखे हुए तख्त की ओर बढ़ा। उस समय उसने देखा कि न वहाँ सभापति महाशय हैं और न वक्ता महोदय और लोग मंच पर चढ़ कर हुल्लड़ मचा रहे हैं.........।

जब चेतन घर पहुँचा तो उसे पता चला कि वक्ता महोदय तो उससे कहीं पहले घर पहुँच गये हैं और बड़े आराम से ख़र्राटे भी ले रहे हैं। सभापति महाराज उसके पश्चात् महीनों जालन्धर में दिखायी नहीं दिये। दोआबा के गांवों में भागते, छिपते और अपनी राष्ट्रीय कविताएं सुना कर देहातियों का आतिथ्य स्वीकार करते, यह कहते फिरे कि उनकी गिरफ़्तारी के वारंट निकले हुए हैं और वे पुलिस को छकाते हुए अपने राजनीतिक-कार्य को जारी रखे हुए हैं।

एक लम्बी अवधि के पश्चात् होश्यारपुर की एक नयी लांडरी का विज्ञापन चेतन के हाथ लगा जिसकी प्रशंसा में वही बैत छपे थे, जो कभी उन राष्ट्रीय-कवि ने 'भारत लांडरी वर्क्स' की प्रशंसा में लिखे थे।

दूसरे दिन जब भाई साहब उठे तो लांडरी की भाँति कांग्रेस की डिक्टेटरी भी उनके मस्तिष्क से विलुप्त हो गयी थी और क्योंकि ग्रीष्म-ऋतु आ गयी थी, इस लिए भाई साहब ने सरदार नन्दासिंह सोडावाटर वाले की दुकान को अपना अड्डा बनाने का निश्चय कर लिया था।⊛

⊛(लेखक के उपन्यास 'गिरती दीवारें' के परिवर्धित पर अप्रकाशित द्वितीय संस्करण से)

पछतावा ?

पण्डित हरिवंश के घर दावत थी। सभी मित्र उपस्थित थे। बातों बातों में विवाह की बात छिड़ गयी।

श्री महन्त के लिए विवाह के अंगूर सदैव खट्टे रहे थे। वे अभी तक कँवारे बने हुए थे। अन्यमनस्कता से बोले—

"विवाह एक जंजाल है। शुक्र है मैं इसमें नहीं फँसा।"

किशोरी लाल की शादी चन्द ही दिन में होने वाली थी। आन्तरिक उल्लास को छिपा कर कहने लगे—

"कोई जंजाल नहीं शादी। संगिनि मनचाही मिल जाय तो जीवन का आनन्द आ जाता है।

पण्डित जी के विवाह को जैसे युग बीत गये थे। अरमान भरे स्वर में बोले—

"भई सच पूछो तो यह वह फल है जिसे जो चक्खे वह भी पछताये और जो न चखे वह भी पछताये।"

पण्डितायन बराबर ही रसोई में बैठी थाल परोस रही थी। वहीं से बोलीं—"लोग बाग फल को चख कर पछताते नहीं। नये फल का रस पाना चाहते हैं।"

फ़तूर

"हिन्दू और मुसलमान में यही तो फ़र्क़ है। मुसलमान अगर हुक्का पी रहा हो और कोई मुसाफिर भी आ जाय तो वह हुक्के की नय उसकी ओर कर देगा कि 'लीजिए बिसमिल्लाह् कीजिए!' बाजार में सब एक ही गिलास में पानी पी लेंगे। खाने पर अगर अजनबी भी आ जाय तो शामिल होने की दावत दे देंगे..."

खान बहादुर अयूब जावेद् अपनी कोठी के बारामदे में चन्द मित्रों की महफ़िल में बैठे मुसलमानों और हिन्दुओं के एक आधारभूत-अन्तर का उल्लेख कर रहे थे। किसी ज़माने में वे साधारण पत्रकार थे, लेकिन अब प्रांतीय धारा-सभा के सेक्रेट्री थे। कोठी रखते थे, मोटर रखते थे और खान साहबी की स्टेज को पार करके खान बहादुर हो गये थे। साहित्यसेवा तो अब क्या करते, हाँ दसवें-पन्द्रहवें चन्द साहित्यिक-मित्रों को अवश्य बुला

लिया करते थे और उनका कहना था कि नौकरी और पदवी पाकर भी उनके दिमाग़ में फ़तूर नहीं आया।

वे एक हिन्दू युवक को सम्बोधित कर, यह सब कह रहे थे, जो इस भाषण-प्रवाह में वह न जाय, इस विचार से, मानो कुर्सी में दुबक सा गया था। किन्तु आकृति पर उसका संदेह साफ झलक रहा था।

युवक की आँखों में संदेह की उस सूक्ष्म-सी रेखा को जैसे भाँप कर ख़ान बहादुर बोलेः—

"आप को चाहे यकीन न आय, पर यही बुनियादी जज़्बा है, जिसने इस ओहदे को पहुँचने पर भी, कम से कम मेरे दिमाग़ में फ़तूर नहीं आने दिया। मुझ में ख़ामियाँ होंगी, पर मेरे दुश्मन भी मेरी इस बात की ताईद करेंगे।"

वे अपनी रौ में अभी बहुत कुछ कहना चाहते थे कि उनका माली आ गया। माँ उसकी बीमार थी और वह उनसे चिट्ठी लेकर उसे अस्पताल दिखाने गया था।

"कहो भई शकूर" उन्होंने स्नेह-भरे स्वर में कहा," क्या हाल है तुम्हारी अम्माँ का ?"

"हुज़ूर डाक्टर कहते हैं, मीआदी बुख़ार है।"

"टाइफ़ाइड तो नहीं ?" उन्होंने कुछ चौंक कर पूछा।

"हुज़ूर यही नाम डाक्टर ने लिया था।"

"तो फिर यों करो कि हलालगंज में एक कमरा किराये पर लेलो। वहां अम्माँ को ले जाओ। किराया हम दे देंगे, इसकी तुम फ़िक्र न करो।"

"मेरी अर्ज़ थी हुज़ूर कि अगर आप इजाज़त देते तो यहीं...।"

"उस कोठड़ी में," ख़ान बहादुर ने ज़रा गर्म होकर कहा,

"पागल हो गये हो, उसमें बीमार को ला कर रखोगे, ? उसका दम न निकल जायगा।" और फिर सहानुभूति-पूर्ण स्वर में बोले, "हम जो कहते हैं, डलालगंज में एक कमरा किराये पर लेलो......"

"लेकिन हुज़ूर काम......" माली हकलाते हुए बोला

"तुम यहां काम करोगे, तो बीमार की देख-भाल कैसे होगी। जाओ—हम तुम्हें छुट्टी देते हैं। जी-जान से अम्मा की खिदमत करो!"......और उन्होंने अपने लड़के पाशा को आवाज़ दे कर कहा कि पांच रुपये का एक नोट लाये। फिर माली से बोले, "देखो कल सुबह हम से एक रुक्का लिखवा ले जाना। अस्पताल में जैसा अच्छा इलाज हो सकता है, इधर उधर नहीं हो सकता।"

उनका लड़का नोट ले आया था। उसके हाथ से नोट लेकर माली को देते हुए उन्होंने एक अर्थ-भरी-दृष्टी उपस्थित-मित्रों पर डाली और फिर उनकी निगाहें उस हिन्दू युवक परआकर रुकगईं।

उनके भाषण का उस युवक पर इतना प्रभाव न पड़ा था जितना उनके इस अत्यन्त सद्व्यवहार का। अपने उन विचारों के लिए जो उनके प्रति उसके हृदय में पैदा हुए थे, मन ही मन, क्षमा मांग कर वह युवक उठ खड़ा हुआ। उसके साथ ही दूसरे भी उठे।

खान बहादुर ने बड़े तपाक के साथ सब से हाथ मिलाया।

जब वे सब चले गये तो कुछ सोच कर तनिक सिर को कुरेदते हुए उन्होंने अपने लड़के को आवाज़ दी—"पाशा...पाशा!"

"जी अब्बा जान"! पाशा आंगन में से आता हुआ बोला।

जब वह आकर अन्दर के दरवाज़े की चौखट में खड़ा हो गया तो खान बहादुर ने धीरे से पूछा :

"क्यों पाशा, यह टाइफ़ाइड छूत से तो नहीं फैलता? मेरा ख़याल है, इसके कीड़े सांस और छूत से फैलते हैं।"

पाशा ने उस स्थान की ओर देखा जहां माली आकर बैठा था। बोला, "कह नहीं सकता। यह टाइफ़ाइड बुखार है बड़ा मूज़ी। हो सकता है छूत ही से फैलता हो।"

और वह भी सिर कुरेदने लगा।

"खैर तुम जमादार से कहना" खान बहादुर तेवर पर तनिक बल डालते हुए बोले, "कि माली कोई और तलाश करे। तीस तीस चालीस चलीस दिन यह बुखार रहता है, बिगड़ जाय तो दिक़ बन जाता है। फिर यह गँवार छूत-छात का भी तो इतना परहेज नहीं रखते। मैंने कई बार कहा है कि बच्चों को उनके झोंपड़ों में न जाने दिया करो।"

फिर कुछ शान्त हो कर और तनिक और सिर कुरेद कर उन्होंने कहा, "तुम जरा म्युनिसपिल कमेटी के डाक्टर को फ़ोन कर दो कि वे आकर माली की कोठड़ी और इस बरामदे को डिसइन्फ़ेक्ट* कर दें।

---

*डिसइ-फ़ेक्ट = बीमारी के कीड़ों को मारना = साफ़ करना

डा० वेदव्यास और उनकी दूसरी पत्नी

"इस के अतिरिक्त चारा ही क्या है ?" डाक्टर वेदव्यास ने मुझे अपने भेद का साझीदार बनाते हुए कहा, "तुम यथार्थ से सर्वथा अनभिज्ञ हो, नहीं सारा दोष मुझी पर न धरते। इस पत्नी के साथ तो चार दिन भी नहीं चल सकती।"

एक व्यक्ति हाथ में नुस्खा लिये आया। डाक्टर साहब अपनी बात बीच ही में छोड़ कर उसकी दवा तैयार करने लगे, वे ड्रगिस्ट थे, परन्तु जैसे आज कल प्रत्येक दर्ज़ी, जादूगर, संगीतज्ञ और ज्योतिषी अपने आप को 'मास्टर' अथवा' 'प्रोफ़ेसर' लिखता और कहाता है, इसी प्रकार अंग्रेजी दवाओं के विक्रेता कैमिस्ट और ड्रगिस्ट महाशय वेदव्यास भी अपने आप को डाक्टर लिखते और कहाते थे।

ग्राहक को चलता कर डाक्टर साहब मेरे समक्ष आ बैठे। उन की अवस्था कुछ ज्यादा न थी अधिक से अधिक पैंतीस वर्ष के

होंगे, परन्तु जवानों जैसी कोई बात उनमें न थी—पतला दुबला शरीर और शरीर के साथ चिपके हुए वस्त्र, पतलून, इटुंग पायजामा बनी, टखनों से उठी हुई और पांव मौजों की कैद से आज़ाद! —एक जूता लेते और उस समय तक उसका साथ न छोड़ते जब तक जीर्णोद्धार की यातनाएं सहते सहते वह स्वयं उनकी संगति से हाथ न खींच लेता। कुरूप न थे, पर ऐसे भी नहीं कि रूपवानों की पंक्ति में खड़े हो सकें—चौड़ा मुख, चपटी नाक, गढ़ों में धँसे हुए कल्ले, गंजेपन की सीमा को पहुँचता हुआ मस्तक और सिर पर कटेछँटे, रूखे, खड़े, खरखरे बाल—आकृति पर सदैव ऊबाहट सी बनी रहती। हँसते तो हँसी की नकल उतारते दिखायी देते।

मेरे बड़े भाई की दुकान के साथ उनकी दुकान थी। थोड़े बहुत सनकी तो वे पहले भी थे, पर जब से उनकी नयी पत्नी आयी थी, उनकी सनक कुछ अधिक बढ़ गयी थी। आज ही अपने भाई से यह जान कर कि डाक्टर साहब ने अपनी पत्नी से अलग रहने का ध्रुव-निश्चय कर लिया है, मैं उन्हें समझाने आया था। परन्तु बात आरम्भ करने पर मालूम हुआ कि इस सम्बन्ध में अभी मुझे बहुत कुछ समझना शेष है।

अपनी बात पुनः जारी करते हुए डाक्टर साहब बोले, "इतनी धृष्ट और उद्दंड नारी है कि मैं तुम्हें क्या बताऊँ।"

"तुम्हारी पहली पत्नी तो बड़ी भली थी", मैंने कहा।

"पहली पत्नी," डाक्टर साहब ने लम्बी साँस ली, "वह तो देवी थी। सात वर्ष तक हम इकट्ठे रहे, दो बच्चे हुए, परन्तु कभी निमिष-भर के लिए भी उसके प्रति हृदय में उपेक्षा का भाव नहीं जगा। दो दिन के लिए भी कभी पीहर चली जाती तो मन उदास हो जाता। याद नहीं पड़ता कि इस सात वर्ष के अर्से में

कभी हम दो महीने के लिए भी एक दूसरे से पृथक हुए हों। यह कम्बख़्त तो उसकी पद-रज का भी मुकाबिला नहीं कर सकती।"

"पर यार सुनते हैं वह कोई ऐसी सुन्दर न थी।"

"कौन कहता है?" डाक्टर साहब ने हाथ से हवा को चीरते हुए तनिक जोश से कहा, "तुम्हारे भाई साहब कहते होंगे। वे क्या जानते हैं! उनके निकट तो मेरी यह पत्नी पहली से कहीं अधिक सुन्दर है। वह इस लिए कि सुशीला इनके सामने सदा घूंघट निकालती थी और यह मटक मटक कर बातें करती है। फिर भाई सौन्दर्य बाहर ही की चीज नहीं। आन्तरिक-सौन्दर्य भी कुछ महत्व रखता है। मेरा तो जीवन इसने दूभर कर दिया है, मैं इसकी सुन्दरता को लेकर क्या करूं!"

कुछ क्षण तक डक्टर साहब परेशान से शून्य में मुटर मुटर तकते रहे, फिर उन्होंने कुर्सी तनिक और सरका ली और भेद-भरे स्वर में कहने लगे—

"तुम जानते हो मेरी माँ सौतेली है। मेरी पहली पत्नी को उसने कई बार मेरे विरुद्ध भड़काने का प्रयास किया था, परन्तु जितना मेरी सौतेली माँ उसे मेरे विरुद्ध भड़काती, उतना ही वह मेरी ओर खिंचती चली आती। माँ से शिकायत करना तो दूर रहा, वह उससे मेरे विरुद्ध एक शब्द तक सुनना पसन्द न करती। उस के होते इस घर में मेरा मान था, प्रतिष्ठा थी। हम चारों, चार होते हुए भी. माला के मनकों की भाँति एक ही सूत्र में बंधे थे—मैं, मेरी पत्नी, मेरे बच्चे......

डाक्टर साहब का स्वर ऊँचा हो रहा था। पहली पत्नी का ज़िक्र चलते ही वे आकाश की ऊँचाइयों में उड़ने लगते थे। मैंने उन्हें फिर धरती पर लाते हुए कहा :—

"पर बात तो तुम दूसरी पत्नी की कर रहे थे। आखिर तुम्हें इस के विरुद्ध शिकायत क्या है ? यह तो तुम भी मानते हो कि तुम्हारी दृष्टि में न सही, दूसरों की दृष्टि में यह सुन्दर, हँसमुख और बुद्धिमती......"

"बुद्धिमती !" डाक्टर साहब ने स्वभावानुसार हँसी की नकल उतारी "तुम क्या जानो इसकी बुद्धि को ? परले सिरे की मूर्ख है। इस कम्बख्त ने तो अपनी इस बुद्धि की बदौलत चार दिन में मुझे दो कौड़ी का बना दिया। उन लोगों के सामने मुझे अपमानित किया, जो मेरे अपमान से प्रसन्न होते हैं।"

डाक्टर साहब खुल पड़े थे।

"कहावत प्रसिद्ध है," वे बोले ," गधे को नोन दिया, उस ने कहा, मेरी आँखें फोड़ीं—वही बात इन बुद्धिमती जी की है। जो बात मैं इस के लाभहेतु करता हूँ, उसी में यह अपनी हानि समझती है। अब तुम ही कहो, नयी ब्याही लड़कियाँ सास के नाम पर नाका-भौं चढ़ाती हैं कि नहीं। फिर सास भी सौतेली सास ! इसी कारण विवाह के पश्चात् मैंने अपने माता पिता से अलग रहना उचित समझा। बसे बसाये किरायदारों को नोटिस दिया और बीवी बच्चों को लेकर पुरानी अनारकली वाले मकान में जा रहा। मेरा विचार था कि इस बात पर यह प्रसन्न होगी। पर क्या बताऊँ, विचित्र औंधी खोपड़ी की स्त्री है। एक दिन कहने लगी,"आप ने यहाँ लाकर मुझे क़ैद कर दिया, मुझे वहीं वापस ले जाइए।"

"पर तुम ने इसे तंग किया होगा, "मैंने कहा,"यह कैसे हो सकता है कि तुम इस पर जान छिड़को और यह तुम पर कलंक लगाए ?"

"तंग, "डाक्टर साहब क्रोध से बोले, "मेरा बस चलता तो मैं

इस का गला घोंट देता, इतना परेशान किया है इसने मुझे।"

यह कहते हुए उन्होंने जेब से एक बीड़ी निकली, सुलगायी और एक दो कश लगाकर बोले, "इतनी शाह-खर्च स्त्री है कि तुम्हें क्या बताऊँ। सुशीला इतनी मितव्ययी और समझदार थी कि अब तक उसके नाम को रो रहा हूँ। घर में बहुत कुछ न आता था, पर बरकत बड़ी थी। अब सब कुछ आता, पर किधर जाता, पता न चलता। आठों पहर 'लाओ' 'लाओ' का शोर मचा रहता। पहले रुपये का घी आठ दिन चलता था, अब पाँच ही दिन में समाप्त हो जाता। वह कपड़े सदा आप धोती थी। इसके सामने लाकर रखे तो कहने लगी, "आप ने तो इस प्रकार कपड़े इकट्ठे कर रखे हैं जैसे मेरी ही प्रतीक्षा कर रहे थे। धोबी को क्यों नहीं उठा देते"—मैं चुप रह गया। वे कपड़े तो इस ने किसी न किसी तरह धोये, फिर सौगन्ध ले लो जो एक भी कपड़े को कभी हाथ लगाया हो।"

बीड़ी बुझ गयी थी। डाक्टर साहब ने फिर उसे सुलगाया, एक दो कश लगाये और बोले, "तिनका तो आप से तोड़ा नहीं जाता और आप चाहती हैं कि आप को रोज़ सिनेमा दिखाया जाय, नित्य नये गहने कपड़े खरीद कर दिये जायँ। तुम ही कहो कहाँ तक मैं अपने आप को रोकता। एक दिन इसने सिनेमा देखने को कहा मैंने इनकार कर दिया। कहने लगी—आप तो बड़े 'कंजूस' हैं। दो सौ रुपया दुकान में कमाते हैं, पर खर्च करने का नाम नहीं लेते। यदि काम ही की जरूरत थी तो नौकरानी रख ली होती, मुझे क्यों ले आये"! मुझे सुन कर बड़ा क्रोध आया। ऐसा टर्र-टर्र करने वाली स्त्री मैंने कभी नहीं देखी। मैंने जरा सा कान उमेठ दिया। बस उसी सांझ यह इधर आ गयी। अब तुम ही कहो ऐसी कर्कश, जबान-दराज स्त्री से एक मिनट भी बसर हो सकती है।?"

मैं क्या उत्तर देता ? मैंने इस प्रकार सिर हिलाया कि न यह पता चले कि मैं उन की बात से सहमत हूँ, न यह कि असहमत हूँ।

परन्तु मेरी सम्मति अथवा विरोध की अपेक्षा डाक्टर साहब को न थी। बीड़ी फिर बुझ गयी थी। उसे फेंक कर अपनी ... में बोले, "अब इधर की भी सुन लो। इधर आकर सास—बहू दोनों में संगठन हो गया है। वह भी सौतेली, यह भी सौतेली। वह हमारे लिए विष बोती थी, यह मेरे बच्चों के लिए। परन्तु मैं उन लोगों में से नहीं हूँ जो आँखें रखते हुए भी अंधे और कान रखते हुए भी बहरे हैं। मैं खूब जानता हूँ, सौतेली माएँ कहाँ कहाँ डंक मारती हैं। मेरी माँ यों ही हम पर कोई न कोई दोष लगा देती थी और पिता जी हमें अंधा-धुंध पीटा करते थे। पर मैं अंधा नहीं। मैंने सौतेली माँ के सभी अत्याचार सहे हैं और मैंने निश्चय कर लिया है, मैं स्वयं अपने बच्चों को पालूगा, इस नागिन के पास भी न फटकने दूंगा"।

"तुम्हारे बच्चों को तंग करती थी ?" मैंने पूछा।

"मैं तंग करने देता हूँ" ! डाक्टर साहब बोले, "एक दिन कहने लगी—'तुम मुझे तंग करो और चाहो कि मैं तुम्हारे बच्चों को छाती से लगाये फिरूँ, यह मुझ से न होगा,। उसी दिन से मैं चौकन्ना हो गया। न सुशीला मरती, न मैं इस चुड़ैल के चंगुल में फँसता। एक सुशीला थी कि उस का हृदय सागर के समान विशाल, आकाश के समान गहरा प्रातः के समान......

वे फिर उड़ने लगे थे, पर मैंने उन्हें फिर धरती पर बैठाते हुए कहा, "तो इधर आकर भी कोई बात हुई ?"।

"इधर दोनों ने मुझे तंग करने के लिए संगठन कर लिया है। एक घटना हो तो बताऊँ। आये दिन कोई न कोई बात होती ही

रहती हैं। पिछले ही महीने का जिक्र है, सारा सारा दिन बादल घिरे रहते थे अथवा रिमझिम पानी बरसता था। कुछ वर्षा ऋतु के कारण और कुछ दिन भर बैठे रहने से, खाना ठीक से न पचता था। एक दिन वायु-विकार के कारण तबीयत कुछ भारी भारी सी थी। दोपहर का खाना खाने के बाद मैंने घर कहला भेजा कि रात का खाना मैं न खाऊँगा। परन्तु कदाचित् सोडामिंट की दो गोलियाँ खाने या 'पेपसीन-मिक्स्चर' की एक खुराक पी लेने से मुझे साँझ ही से भूख लग आयी। जब आठ बजे मैंने नौकर को खाना लाने के लिए भेजा तो माँ ने कहला दिया कि 'तुमने तो कहा था खाना न खाऊँगा। अब तो सब कुछ पक चुका। अब फिर चूल्हा कौन झोंके। बाजार से कुछ खा पी लो'। मैं लोहू के घूँट भर कर रह गया। यदि इस कम्बख्त के स्थान पर सुशीला होती तो जिस समय नौकर गया था, उसी समय उठ कर चूल्हा जला, चार रोटियाँ उतार देती। मैं भूखा बैठा रहा........"

"लेकिन तुम बाजार से खा लेते" मैंने सहसा उनकी बात काट कर कहा।

"अरे भाई तुम भी......बाजार से क्या पेट भरता है। रुपया डेढ़ रुपया खर्च करो तो ढब की रोटी मिलती है और फिर सालन में मिर्च-मसाला इतना होता है कि रात भर छाती जलती रहती है। एक तो पैसे खर्च करो, दूसरे बला मोल लो। मैं इसकी अपेक्षा भूखा रहना अच्छा समझता हूँ। और फिर उस दिन तो यदि मैं होटल में जाता भी तो क्रोध के मारे मुझ से एक कौर तक न निगला जाता। फोकट में पैसे बर्बाद होते। रात को जब मैं घर गया तो बातों बातों में मैंने कान्ता से (मेरी इस पत्नी का नाम कान्ता है) इस बात का भी जिक्र किया। कहने लगी—'मैं तो रोटी पकाने के लिए

उठी थी पर माँ ने रोक दिया।'

"तो फिर इसमें इसका क्या दोष......?"

"अरे सुनो तो", डाक्टर साहब ने बेसब्री से कहा, "यह बात सुनकर इसके विरुद्ध मन में जितना क्रोध था, वह सब मैंने माँ के हिसाब में जमा कर लिया। इसकी ओर से मन साफ़ हो गया। खींच कर मैंने इसे आलिंगन में ले लिया और प्यार करते हुए अपने पिछले भ्रम के लिए क्षमा माँगी। इसकी उस समय की सरलता को देखकर माँ के विरुद्ध क्रोध की मात्रा और भी बढ़ गयी। एक भूख दूसरे क्रोध—रात भर मैं न सो सका। प्रातः उठते ही मैं नीचे गया और क्रोध से काँपते हुए मैंने माँ से कान्ता को रोटी पकाने से रोकने की बात कही और पूछा,—"आखिर तुम चाहती क्या हो, तुम्हारी इच्छा है कि मैं भूखा मर जाऊँ और तुम्हारा पिंड छूटे तो लाओ विष दे दो। मैं अभी तुम्हारे सामने निगल लूँ।"

माँ चकित सी मेरी ओर देखने लगी, बोली, "तुम से किसने कहा कि मैंने बहू को रोटी पकाने से रोका है?"

मैंने उसी प्रकार चीख कर कहा, "यही कहती है।"

"बुलाओ उसे", माँ ने कहा। मैंने इसे बुलाया और पूछा, "क्या तुम्हें कल माँ ने रोटी पकाने से न रोका था।"

"नहीं!" इसने भोला सा मुख बना कर कहा।

"जब कल साँझ मैंने नौकर भेजा था, मैंने याद दिलाने का प्रयास किया। और घर में रोटी न थी और तुम पकाने के लिए उठी थीं तो माँ ने तुम्हें रोक दिया कि अब पकाने की कोई आवश्यकता नहीं।"

"नहीं! मुझे तो यह भी पता नहीं कब नौकर आया।"

मैं खिसियाना सा होकर चुप खड़ा रहा। दुख और क्रोध के मारे मेरी टाँगें काँपने लगीं। मैंने जोर से एक चपत इसके मुँह पर लगा दी, "झूठ बोलती हो, कल तुम्हीं ने तो मुझसे कहा था।"

यह रोने लगी और रोते रोते इसने फिर सिर हिला दिया।

माँ की बन आयी। उसने चीख़ चीख़कर घर सिर पर उठा लिया। पिता जी भी यह सब वावेला सुनकर आ गये। उन्होंने ऐसी डाँट मुझे पिलायी कि आज भी उसकी याद आती है तो क्रोध के मारे नसों में रक्त उबल उठता है। वह सब डाँट मुझे इसी कम्बख्त के कारण सुननी पड़ी। पिता जी बोले, "तुम अपनी पत्नी को भी अपनी माँ के विरुद्ध भड़काना चाहते हो। झूठमूठ अपनी माँ पर दोष लगाते तुम्हें शर्म नहीं आती। तुम अलग होना चाहते हो तो शौक से हो जाओ, झूठे बहाने क्यों बनाते हो। पहले ही मैंने कब रोका था जो अब रोकूँगा। मेरी ओर से कुएँ में गिरो या खाई में।"

"खूब।" डाक्टर साहब ने मुझे केवल इतना ही कहने का अवसर दिया।

"और फिर बिडम्बना देखो" वे बिना रुके दूसरी बीड़ी सुलगाते हुए बोले, "यह सब कुछ मेरे सुधारार्थ हो रहा है। गत सप्ताह की बात है, मैं दुकान से जाकर अभी लेटा ही था कि यह मेरे पास आ बैठी। कहने लगी, "उधर तो तुम मुझे बात बात पर पीटने की धमकी देते थे, इसलिए मैं इधर भाग आयी। यहाँ तुम्हारी सभी आदतें सुधार जायँगी।"

यह सुन कर जी तो चाहा कि इसकी उस उद्दण्डता का मजा चखाऊँ, पर मैंने उस दिन से बोल-चाल बन्द कर रखी थी। इसलिए लोहू के घूँट पीकर मैं चुप बना रहा। जब इस पर भी यह मेरे सिरहाने बैठी रही तो मैंने करवट बदल कर मुँह दीवार की ओर लिया।

यह अपने बिस्तर पर जा कर लेट गयी। फिर कुछ क्षण बाद उतर कर नीचे चली गयी। मैंने इस बीच में सोने का बड़ा यत्न किया, पर मुझे नींद न आयी। सुबह आठ बजे से संध्या के नौ बजे तक दुकान में काम करने के कारण शरीर थकन से चूर था। नींद आ जानी चाहिए थी। लाख कोशिश करने पर भी आँखें भारी न हुईं। सोचने लगा—मैंने दूसरी शादी क्यों की? क्या सुशीला की स्मृति जीवन भर मेरा साथ न देती। तुम्हारे भाई मेरी इस पत्नी को सुन्दर और सुसंस्कृत बताते हैं, उन्होंने इसकी मुस्कान और नमस्कार ही देखा है, कहीं यदि वे उस विष को देखें जो इस रूप-रंग के अन्दर छिपा हुआ है तो वे जानें कि जिसे वे सोना समझते हैं, वह लोहा भी नहीं। मैं तुमसे सच कहता हूँ, मेरे हृदय में तो इसे देखते ही घृणा की एक लहर सी दौड़ जाती है।

लेटा लेटा मैं अपने भाग्य को कोस रहा था कि यह नीचे से आकर फिर मेरे सिरहाने बैठ गयी।

"अब मैं तुम्हें ठीक करके छोड़ूँगी", आकर बोली, "ऐसा सुधारूँगी कि याद करोगे। हमारे मुहल्ले में एक लड़की का पति उसे ऐसे ही तंग करता था, उसने कपड़ों पर तेल छिड़क कर आग लगा ली और मरते मरते पति का नाम ले दिया, अब महाशय जेल में पड़े हुए हैं।"

मुझे क्रोध तो इतना आया कि यदि यह मेरे सुधार की बात तक ही रहती और तत्काल अपनी सहेली के मरने की बात न कहती तो मैं ऐसी लात जमाता कि यह मेरी चारपाई से अपनी चारपाई पर जा पड़ती, परन्तु दूसरी बात सुन कर मैं डरा कि कहीं यह भी ऐसी-वैसी मूर्खता न कर बैठे। उठते हुए क्रोध के बवंडर को मैंने बरबस दबाया और चुपचाप पिता जी के पास चला गया। रात

का एक बजा होगा, मैंने उन्हें जाकर जगाया और सब बात उन्हें बतायी। वे मुझे लेकर माँ के पास गये। माँ कहने लगी, "यह बिलकुल झूठ बोलता है, बहू बेचारी तो बड़ी भली है। वह तो स्वयं इसके हाथों परेशान है, अभी दो बार वह मेरे पास होकर गयी है। पहली बार आयी तो कहती थी,—"मुझे डर लगता है, वे धरती पर लोट रहे हैं, गालियाँ बकते हैं और मर जाने की धमकी दे रहे हैं।" मैंने उससे कहा कि तुम जाकर सो रहो. तुम्हें वह कुछ कहे तो मैं ज़िम्मेदार हूँ, दूसरी बार अभी आयी तो कहती थी—"वे कोठे पर से नीचे कूद जाने को तैयार हैं, कहते हैं कि मकान से कूद कर आत्म-हत्या कर लूँगा।"

मैं भौंचक्का सा खड़ा रह गया, इतना झूठ! अब समझा क्यों मुझे भड़काया जा रहा था। यदि कहीं मार बैठता तो दोनों की बन आती। माँ मेरे पाँव भी धरती पर न टिकने देती।

पिता जी ने प्रश्न-सूचक दृष्टि से मेरी ओर देखा। मैंने इस बार साहस से काम लेना उचित समझा। कहीं मेरी चुप्पी उनकी दृष्टि में मुझे अपराधी ही न बना दे। रुआँसा होकर मैंने कहा—"परमात्मा की सौगन्ध, मैं तो अपने बिस्तर पर लेटा हुआ था।"

माँ बोली—'झूठ बोलता है, यह छत से कूदने पर तुला हुआ था, मैं स्वयं ऊपर जाने वाली थी, यह मर जाता तो सभी मुझे कोसते। इसने हमारे माथे पर कलंक का टीका लगाने की क़सम खा रखी है।'

माँ न जाने और क्या क्या कहती रही, पर पिता जी चुप खड़े सोचते रहे, कुछ देर बाद उन्होंने मेरी पत्नी को आवाज़ दी, वह घूँघट निकाले आ गयी। पिता जी ने मेरी ओर संकेत करते हुए पूछा, "यह धरती पर लोट रहा था?"

इसने सकारात्मक सिर हिलाया।

"और कूदना चाहता था?"

इसने फिर सिर हिलाया।

"कहाँ से कूदना चाहता था?"

इस ने हाथ से यों ही एक ओर संकेत कर दिया, पिता जी ने मेरी ओर देखा, मैंने कहा—"हरगिज नहीं, मैं तो जब से आया हूँ, बिस्तर पर लेटा हुआ हूँ।"

कुछ सोच कर पिता जी बोले, "तनिक कपड़े तो दिखाओ व्यास।"

मैंने उन्हें कपड़े दिखाये, बिजली के प्रकाश में ले जाकर पिता जी ने भली भाँति मेरे कपड़ों का निरीक्षण किया और फिर माँ से बोले, "यदि यह धरती पर लोटता तो इसके कपड़ों को मिट्टी न लगती, इतनी कच्ची हैं छतें कि जरा भी बैठो तो मिट्टी लग जाती है, और यहाँ तो मिट्टी का एक कण नहीं।"

और उन्होंने माँ और कान्ता को डांटा और मुझ से बोले, "जाओ जाकर आराम से सोओ और मुझे तंग न करो।"

मैंने सुख की एक साँस ली, एक बार फिर मूर्ख बनते बनते बचा। हमारे मकान के दो भाग हैं। एक ओर पिता जी सोते हैं, दूसरी ओर मैं और मेरी पत्नी। माँ और बच्चे नीचे आँगन में सोते हैं। मैंने अपनी चारपाई उठायी और पिता जी के पास जा सोया।"

और अपनी बात समाप्त कर डाक्टर साहब बुझी हुई बीड़ी को पुनः सुलगाने लगे।

मैंने पूछा, "तो आज कल कहाँ हो?"

"वहीं पिता जी के पास!" डाक्टर साहब ने संतोष से लम्बा कश खींच कर कहा, "इसके सिवा चारा ही क्या है।"

"हाँ, और कोई चारा नहीं," मैंने उनका समर्थन किया।

एक लड़का नुस्खा लिये कितनी देर से खड़ा था। डाक्टर साहब उसके हाथ से नुस्खा लेकर दवाई बनाने अन्दर चले गए और मुझे भाई साहब ने आवाज दी कि खाना आज खाओगे या वहीं बातों में लगे रहोगे, डाक्टर साहब की बातें हैं, एक बार आरम्भ हो जायें तो कभी समाप्त होने में नहीं आतीं,

---

दलदल

जब सुधीन्द्र ने फ़िल्म इंडिया का नया अंक लाकर पिता के सामने रख दिया तो उन पर मानो बिजली गिर गयी। मां भी वहीं थी, देखते ही सिर पीटने लगी। उसका सारा क्रोध अपने पति पर उतरा, "लो देख लो अपनी बहिन की करतूत! और नचाओ लड़की को! कल नाचती थी, आज ऐक्ट करती है, कल बाजार में जा बैठेगी।"

जिस प्रकार ओलों की मार से बचने के लिए कोई भूला भटका राही, बाहों से सिर को बचाता हुआ, दुबका जाता है, कुछ उसी प्रकार दुबके हुए श्री० त्रिवेदी, किसी प्रतिवाद के बिना अपनी पत्नी की यह गोलाबारी सहन कर रहे थे।

प्रतिवाद के लिए उनके पास था भी कुछ नहीं। उनकी पत्नी सच्ची थी। मेरठ उतना बड़ा नगर नहीं कि पड़ोसी कौन है? किधर से आया है? कहाँ का निवासी है? क्या करता है? आदि आदि

प्रश्नों से लोग वास्ता न रक्खें। पंडित रामकृष्ण-त्रिवेदी की छोटी लड़की रमा अभिनेत्री बन गयी है—यह खबर तो आग की भाँति नगर में फैल जायगी। फिर रमा से मेरठ वाले अपरिचित भी न थे। शुरू शुरू में दो एक कंसर्टों के नृत्य में वह भाग भी ले चुकी थी। क्या क्या बातें न उन्हें सुननी पड़ेंगी।

यह सब तो ठीक, पर इसमें त्रिवेदी जी का क्या दोष था? जब एक लड़के के बाद उनके घर हर वर्ष लड़की होने लगी तो आगत के भय से पति-पत्नी बड़े संत्रस्त हुए थे। तब उनकी बहिन ही उनके आड़े आयी थी। चौथी लड़की को पालने का जिम्मा उसने ले लिया था। वह लेडी डाक्टर थी। पति भी उसके डाक्टर थे, परन्तु एक कोठी और यथेष्ट धनराशि उसके नाम छोड़ कर परलोक सिधार गये थे। जब चौथी लड़की के जन्म पर घर में उल्लास के बदले शोक का सा सन्नाटा छा गया तो बहिन ने उन्हें तसल्ली दी थी—"मेरे कौन है?" उसने कहा था, "मैं इस लड़की को पालूंगी, पढ़ाऊंगी, ब्याहूँगी। अपनी कोठी इसके नाम कर दूंगी। तुम चिन्ता क्यों करते हो।" और यह सब सुनकर पति-पत्नी दोनों बड़े प्रसन्न हुए थे।

'रमा'—क्योंकि उस चौथी लड़की का यही नाम रखा गया—अपनी बुआ के घर बड़े स्वतन्त्र रूप से पली। अपनी सब बहिनों में वह सुन्दर निकली। मैट्रिक में पढ़ती थी जब स्कूल की एक कंसर्ट देखकर उसने नृत्य सीखने की इच्छा प्रकट की। बुआ ने तत्काल एक नृत्य-कला-विशारद को उसे नृत्य की शिक्षा देने के लिए नियुक्त कर दिया। तभी उसने एक दो कंसर्टों में भी भाग लिया। त्रिवेदी जी तो कदाचित बुरा न समझते, क्योंकि तीन बेटियों के विवाह करते करते उनकी कमर दोहरी और बाल सफेद हो गये

थे; चौथी लड़की का बोझ अपने कंधों पर लेने की उनमें शक्ति न थी, पर उनकी पत्नी ने जब सुना कि रमा सभा सोसाइटी में नाचती फिरती है तो उसने घर सिर पर उठा लिया। त्रिवेदी जी ने दबी ज़बान से प्रतिवाद किया कि लड़की हम ने उसे दे दी। वह चाहे जैसे पाले पर पत्नी न मानी—'लड़की तो वह हमारी ही कहलायी' 'नाक तो हमारी ही कटेगी' 'कल वह बाजार में जा बैठी तो मुंह दिखाना किसे मुश्किल हो जायगा' ?—और न जाने उसने क्या क्या कहा। संक्षिप्त यह कि वह स्वयं गयी और दस बातें ननद को सुना कर लड़की को घर ले आयी।

त्रिवेदी जी की बहिन को बड़ा दुख हुआ। रमा से उसे बड़ा स्नेह हो गया था। उस के जाने के पश्चात अपना एकाकीपन उसे और भी अखरने लगा। प्रेक्टिस उसने पति के मरने पर ही छोड़ दी थी। अब फिर क्या आरम्भ करती। मन बहुत उचाट हुआ तो उसने नौकरानी को साथ लिया और अपने देवर के पास बम्बई चली गयी।

इधर अपने घर में रमा का जीवन कटु से कटुतर हो गया। बुआ के घर वह अकेली खाने पीने वाली थी। यहाँ उसका भाई भी था जो अपने पिता की कमाई का अधिकांश ठिकाने लगा देता था। फिर उनकी कमाई थी ही कितनी ?—डेढ़ सौ रुपये वे वेतन पाते थे और चालीस-पचास ऊपर से बनाते। मंहगाई के ज़माने के दो सौ, घर की रोटी भी न चलती। ऊपर से माँ की डाँट डपट। चन्द महीनों ही में रमा ऊब उठी। उधर उसकी परीक्षा हुई इधर उसने खाना पीना छोड़ दिया। पूछा तो मालूम हुआ कि वह अपनी दूसरी माँ को देखना चाहती है। जब माँ की डाँट फटकार और पिता का प्यार दुलार लड़की को खाना खाने के लिए

उत्पन्न न कर सका और त्रिवेदी जी की बहिन का भी पत्र आया कि वह रमा को देखना चाहती है तो पति-पत्नी ने आपस में परामर्श करके उसे सात-दस दिन को बम्बई भेजना स्वीकार कर लिया। बहिन ने अपने देवर को भेजा। वह आकर रमा को ले गया। इस बात की ताकीद पति-पत्नी ने उसे कर दी कि सात-दस दिन से अधिक उसे न रखा जाय। रमा से कह दिया गया कि वह अधिक दिन वहाँ न रहे।

इस बात को दो महीने हो गये थे। रमा वापस न आयी थी। पूछने पर बहिन ने लिखा था कि जल-वायु के परिवर्तन से उस का स्वास्थ्य सहसा बिगड़ गया है, ज्यों ही ठीक हुआ, उसे भेज दिया जायगा। आज अचानक इस चित्र को देख कर पता चला कि बम्बई जाते ही जो उस का स्वास्थ्य बिगड़ गया, उस का क्या कारण है। त्रिवेदी-पत्नी को, तो सन्देह हुआ कि रमा की बुआ जो बम्बई गयी और रमा उसे देखने को मचल उठी तो यह सब दोनों ने मिलमिथ कर किया और उस ने ननद को सौ सौ गालियां देकर सौगन्ध खायी कि वह अपनी लड़की को उस के जाल से तत्काल निकाल लायगी।

यह चित्र जिसे देख कर घर भर में कोहराम मच गया था, इसी रमा का था। फ़िल्म इंडिया के मुख्य-पृष्ठ पर छपा था और नीचे लिखा था—इन्द्र-धनुप-पिक्चर्ज़ की नयी खोज 'रमा त्रिवेदी'—! सुधीन्द्र को फ़िल्मों का बड़ा शौक था। पिता से बीस बहाने बना जो पैसे वह ले जाता था, वे सब फ़िल्में देखने, अभिनेत्रियों के चित्र एकत्र करने और फ़िल्मी पत्र-पत्रिकाओं को पर खर्च होते थे। फ़िल्म इंडिया के उस नये अंक में मुख्य-पृष्ठ पर ही जब उस ने यह चित्र देखा तो वह चौंका था—यह

नायिका कितनी रमा से मिलती है ?—निमिष भर के लिए उस ने सोचा था, परन्तु जब उस ने नीचे लिखे हुए शब्द पढ़े तो वह पत्रिका लिये हुए अपने माता-पिता को दिखाने भागा आया था।

आखिर जब त्रिवेदी-पत्नी अपना समस्त गोला बारूद समाप्त कर शान्त हुई तो यह सोच पैदा हुई कि रमा को किस प्रकार बम्बई से लाया जाय। त्रिवेदी जी स्वयं जाने को तैयार थे, परन्तु पत्नी को उन पर भरोसा न था। उस का विचार था कि बहिन उन्हें अंगुली पर नचाती है। यदि वह उन के आसरे रही तो लड़की चकले जा बैठेगी। यह सब सोच कर उस ने सुधीन्द्र को तैयार किया। कुल की मान-प्रतिष्ठा का वास्ता दिला कर उसे आदेश दिया कि बम्बई पहुँच कर, अपनी उस सिर फिरी बहिन को चोटी से पकड़ कर घसीटता हुआ मेरठ ले आये। जब सुधीन्द्र ने विश्वास दिलाया कि न केवल वह बहिन को चोटी से पकड़ लायगा, बल्कि अपनी बुआ को भी चोटी से पकड़ दो चार चक्कर देगा और जब उस ने सविस्तार अपनी माँ को बताया कि यह षडयन्त्र रचने पर वह बुआ को कैसे कैसे और क्या क्या 'मधुर वचन' सुनायगा तो माँ ने एक गहना गिरवी रख कर सौ रुपया जुटाया; अपने लाल को बम्बई की गाड़ी में चढ़ा दिया; उसी दिन से अपनी सिर फिरी लड़की के आने की बाट देखने लगी और उस पर फायर करने के लिए पर्य्याप्त रूप से अपने क्रोध की तोप में बारूद भरने लगी।

परन्तु जब सुधीन्द्र को भी गये एक महीना हो गया और न वह रमा को लाया न स्वयं लौटा और पति अपनी बहिन को और माँ अपने लाल को चिट्ठियां लिख कर हार गयी और भाई-बहिन की कुशल-क्षेम के अतिरिक्त और किसी बात का पता न

चला तो पति-पत्नी बड़े चिन्तित हुए। यों त्रिवेदी जी अपनी समस्त चिन्ता के बावजूद मन ही मन कुछ प्रसन्न भी थे, क्योंकि उन के वेतन का अधिकांश उन की पत्नी का वह लाड़ला हथिया लेता था और व्यर्थ के कामों में उड़ा देता था; वहां बम्बई में वह बुआ के पास था और त्रिवेदी जी को विश्वास था कि और चाहे जो हो उन की बहिन लड़के को किसी प्रकार से तंग न रहने देगी और उन्हों ने अगले वेतन पर अपने लिए एक शेरवानी सिलवाने का निश्चय कर लिया था और पत्नी को उन्हों ने समझाया कि घबराओ नहीं, आख़िर वह अपनी बुआ के पास है, बम्बई की सैर कर रहा होगा। पर ननद का नाम सुन कर त्रिवेदी-पत्नी को आग लग गयी, बीस कोसने उसने अपने पति और उस की बहिन को दिये और घोषणा की कि वह उसी दम बम्बई जाकर अपने लड़के लड़की को वापस लायगी। त्रिवेदी जी न चाहते थे कि उन के रहते उन की पत्नी, जो अपनी समस्त कर्कशता के होते हुए भी आख़िर एक अबला थी, अकेले बम्बई जाने का कष्ट करे। परन्तु उन की पत्नी न उन्हें अकेले भेजने को तैयार थी, न अपने साथ ले जाना चाहती थी। उस का विचार था कि त्रिवेदी जी के वहाँ होते वह अपने लाल से भी हाथ धो लेगी। इस लिए पुरोहित से शुभ-महूर्त पूछ, एक और गहना गिरवी रख, रुपये अंटी में बांध, वह अपनी सिर-फिरी लड़की और लाड़ले भोले लड़के को वापस लाने बम्बई चल दी।

पहले कुछ दिन तो त्रिवेदी जी बड़े सुख से रहे, पर जब उस को गये भी एक महीना होने को आया तो त्रिवेदी जी बड़े घबराये। ज़रूर कुछ दुर्घटना हो गयी है—रह रह कर उन के मन में यही आशंका उठने लगी। वे घरेलू टाइप के जीव थे। यद्यपि

उन की पत्नी उन्हें डांटती और उन होते थे, जिन्हें "गुम गेग"
वर्षों उस की छत्र-छाया में रहने पर वे
हो गये थे। पत्नी की अनुपस्थिति और घ विज्ञापनों को, राष्ट्र के
बेतरह काटने लगा। आखिर जब चिन्ता को छापना न था।
मेरठ में उन का जीवन दूभर कर दिया तो मह। तीन साढ़े-तीन
तारीख को उन्होंने वेतन धोती के छोर में बांधा, ५ कि मुख्य
घर की ओर ध्यान रखने की प्रार्थना की, आश्वासन दिल यों को
सप्ताह भर में वे आये खड़े हैं और बम्बई का टिकेट लेकर गा
पर सवार हो गये।

सप्ताह छोड़, त्रिवेदी जी महीने तक वापस नहीं आये। पड़ौसी के पास मेरठ से त्रिवेदी-कुटुम्ब के इस प्रकार भाग जाने का कोई समाधान न था, परन्तु महीना बाद फिल्म इंडिया में इन्द्र-धनुष-पिक्चर्ज़ की नयी खोज का एक और सुन्दर पोज़ प्रकाशित हुआ। नीचे लिखा था—रमा त्रिवेदी, इन्द्र धनुष पिक्चर्ज़ के नये चित्र "दलदल" में—साथ में घोषणा थी कि नायिका के माता-पिता और भाई की भूमिका में काम करने वाले वास्तव में उस के माता-पिता और भाई हैं।

हमारा पहला त्याग-पत्र

अब तो हमारे त्याग-पत्रों की बात बड़ी साधारण हो गयी है। हमारे मित्र-गण हमारे स्वभाव की इस विलक्षणता से भली-भाँति परिचित हो गये हैं और जब हम एकदम नये व्यवसाय में नयी नौकरी करते हैं तो वे उसी दिन हमारे त्याग-पत्र की बाट देखने लगते हैं। परन्तु जब हम ने पहली नौकरी से पहला त्याग-पत्र दिया था तो जो हलचल मची थी उस की स्मृति आज हमारे मस्तिष्क में ताजा बनी हुई है।

हम उन दिनों एक राष्ट्रीय दैनिक के सम्पादन विभाग में नये नये ट्रांसलेटर नियुक्त हुए थे और जैसा कि नियम था, अपने आप को बड़े गर्व से पत्र का उप-सम्पादक कहा करते थे और अपने मित्रों को अपने सौभाग्य से जलाया करते थे। पर वास्तव में हमारे भाग्य से ईर्षा की कोई बात न थी। हमारे समाचार-पत्र में विज्ञापन बहुत कम रहते थे। विज्ञापन तो उन दिनों समाचार पत्रों में

अधिकतर पुरुषों की ऐसी बीमारियों के होते थे, जिन्हें "गुप्त रोग" कहते हैं। राष्ट्रीय दैनिक के नाते, इन विज्ञापनों को, राष्ट्र के लिए हानिकारक समझ कर, हमारा पत्र उन को छापता न था। परिणाम यह कि पत्र के आठ बड़े बड़े पृष्ठ हमीं तीन साढ़े-तीन सम्पादकों को भरने पड़ते थे। साढ़े तीन इसलिये कि मुख्य सम्पादक तो केवल हैडिंग देने तक ही अपनी सरगर्मियों को सीमित रखते थे। काम सभी बेचारे ट्रांसलेटरों को करना पड़ता था। दिन को साढ़े बारह से लेकर छः बजे तक और रात को साढे नौ से बारह-एक बजे तक तो सभी को काम करना पड़ता पर बारह से दो बजे रात तक एक ट्रांसलेटर बारी बारी से सम्पादक से साथ रहता।

परन्तु अपने इस कष्ट को तो हमीं जानते थे। मित्रों से तो हम ने कह रखा था कि कोई हमें काश्मीर अथवा हैदराबाद का राज्य भी दे दे तो हम यह सम्पादकी (ट्रांसलेटरी हम कभी न कहते) न छोड़ें। "अरे साहब, सम्पादक क़लम का सम्राट है," हम कहते, 'वह चाहे तो साम्राज्यों की नींव हिला दे, साधारण जनों को सम्राट बनादे और सम्राटों का सिंहासन पलट दे। आदि आदि......"।

कदाचित हमारी इन्हीं बातों का फल था कि इधर हम ने अपनी 'उपसम्पादकी' से त्याग-पत्र दिया उधर हमारे परिचित और मित्र हमारे पीछे पड़ गये। जो मिलता हमें बीच बाजार रोक कर कुछ इस प्रकार हमारे त्याग-पत्र देने का कारण पूछता, मानों हमें किसी भयानक रोग ने ग्रस लिया है और हमारे बचने की कोई आशा नहीं और वे महाशय हमारी तीमारदारी को आये हैं। या फिर भगवान न करे हमारे सगे-सम्बन्धियों के शत्रुओं में से कोई साहब

इस संसार को असार समझ कर स्वर्ग को बसाने चले गये हैं और वे साहब शोक प्रकट करने के लिए हमें ढूँढते फिरते हैं कि जहाँ हम मिले वहीं धर-दबोचा और "भई यह सुन कर बड़ा दुख हुआ" से बात आरम्भ कर दी।

यह तो खैर हमें याद आ गया कि हम 'क़लम के सम्राट' हैं, पब्लिक-मैन हैं और क़लम की इस बादशाहत से सहसा हाथ खींचने का कारण अपने परिचितों और मित्रों को बताना हमारा परम कर्तव्य है। नहीं तो हम इन बेतुके प्रश्नों से घबराकर भागने के लिए पांव से जूते उतारा ही चाहते थे। खैर साहब, एक दो के प्रश्नों का तो हम ने कुछ योंही सा उत्तर दे दिया, परन्तु जब इस 'योंही' से काम न चला तो किसी से यह कह कर जान छुड़ायी कि भाई क़लम की यह बादशाहत हमारे स्वास्थ्य को रास नहीं आती। यह बादशाहत जितने काम की अपेक्षा रखती है, वह हमारे इस धान पान शरीर के बस से बाहर की बात है। शेकसपीयर ने भी कहा है Uneasy lies the head that wears a Crown अर्थात् बादशाहत, क़लम की हो अथवा देश की, चिन्ता की जननी है। सो भाई चिन्ता से हम दूर भागते हैं। किसी से कहा कि साहब गर्मी जोरों की पड़ने लगी है, हमें शिमले में एक नौकरी मिल गयी है, हम समझते हैं कि इस रोज़ रोज़ के चरखा कातने से (बादशाहत को हम भूल गए थे) तो मुक्ति मिलेगी। किसी को दादा जी के मरण-शय्या पर पड़ जाने की बात कही और बताया कि हम पर उन का जो अपार-स्नेह है, उस का तगादा है कि इस सम्पादकी को, चाहे यह कितनी भी ग्राह्य क्यों न हो, तत्काल तज कर हम उन के पास पहुँचें......। कहने का तात्पर्य यह कि उन लोगों को, जिन्हें 'परिचित' कहा जाता है और उन को

जिन्हें हमारे इस त्याग-पत्र से विशेष दिलचस्पी थी और जो इस बादशाहत में हमारे उत्तराधिकारी बनना चाहते थे, हम ने किसी न किसी बहाने से सन्तुष्ट कर दिया, यहाँ तक कि उन्हें विश्वास हो गया कि उस मन्दी के जमाने में, उस प्रतिष्ठित समाचार-पत्र की सम्पादकी से हमारा त्याग-पत्र देना परिस्थितियों में न केवल आवश्यक वरन् अनिवार्य था।

परन्तु अब इसे क्या कहा जाय कि हमारी इस सफाई से हमारे मित्रों को सन्तोष ही न होता। वे हमारे किसी बयान पर कान ही न देते। मानो हमारे दादा जी को शोचनीय दशा; बीवी बच्चों और स्वयं 'क़लम के इस सम्राट' की भयानक अस्वस्थता; रोज़ रोज़ के चक्की पीसने से तंग आ जाना; दिन को सोना और रात का अधिकांश समय उल्लुओं और चमगादड़ों की भाँति जागना और रात के दो बजे, दफ़्तर से छुट्टी मिलने पर मार्ग टटोल टटोल कर चलना और बाज़ार में सोये हुए किसी व्यक्ति की चारपाई से जो अड़ना और अपने पीछे 'चोर' 'चोर' का शोर छोड़ते हुए भागना और फिर कुत्तों के भय से साँस रोक कर चलना, साधारण, वरन् साधारण से भी दो तीन संटीग्रेड कम किस्म के कारण थे और उन के लिए कोई भलामानुस उस बेरोजगारी के समय में ऐसी नौकरी नहीं छोड़ सकता और वे हमारे त्याग-पत्र देने को हमारा दफ़्तर से बुरी तरह निकाला जाना ही समझते थे। जब से हम ने त्याग-पत्र दिया, कई बार हम ने उन्हें "बहुत बे आबरू होकर तेरे कूचे से हम निकले" की रट लगाते पाया। हम लाख मरियल सी शक्ल बनाते, लाख कहते, "भाई इस रोज़ रोज़ के रत-जगे से हमें अनिद्रता की शिकायत हो गयी है। निरन्तर बैठे रहने से हमें ख़ूनी बवासीर हो चली और मधुमेह (Diabetes) तो हमें अन्दर

ही अन्दर खाये जाता है, पर हमारी इस सफाई के उत्तर में हमारे मित्रों की ओर से उत्तर केवल एक गगन-भेदी ठहाका होता।

हमारे इस त्याग-पत्र को अब वर्षों बीत गये हैं और इतने वर्षों के बाद झूठ बोलने का कोई कारण नहीं रहता, इसलिए हम आप से सच कहते हैं कि पहली बात तो यह, कि हम सिरे से निकाले ही नहीं गये। हम ने स्वयं त्याग-पत्र दिया और यदि निकाले भी गये तो कम से कम अपमानित करके नहीं निकाले गये। और फिर हमारे इस त्याग-पत्र अथवा 'मान सहित निकाले जाने, का कारण रात रात का जागना ही है।

हम उन महानुभावों के सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकते जो माँ के पेट ही से मुँह में सोने का चमचा लेकर पैदा हुए हैं और जिन्हें खाने पीने और सोने के अतिरिक्त कुछ काम नहीं और न हम उन महाशयों की बात करते हैं जो जीवन-संघर्ष से तंग आकर, वनों में जा, कंद-मूल-फल खाकर, सोने और मात्र सोने ही को अपना प्रोग्राम बनाये हुए हैं (क्योंकि समाधि लगा कर जागने को भी हम सोना ही समझते।) उन स्फूर्ति-हीन निःस्पृह लोगों के सम्बन्ध में भी हम कुछ नहीं कह सकते जो धूप में बैठे अर्धनिद्रावस्था में मक्खियाँ मारना ही कंचनजंगा पर चढ़ने के बराबर समझते हैं। वे स्वस्थ लोग भी हमारी बहस से बाहर हैं जो सुबह सोते हैं तो शाम को उठते हैं और शाम को सोते हैं तो सुबह उठते हैं—ऐसे निद्रावतार सदैव हमारे 'आदर्श' बने रहे हैं और उनका अनुकरण करना हम स्वतन्त्रता लेने के बराबर अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझते रहे हैं। वह तो कहिए कि नौकरी ही ऐसी मिली थी जिस में नींद का नाम लेना कुफर के बराबर समझा जाता है, नहीं यदि

हमारी बागें तनिक ढीली छोड़ दी जातीं तो हम तो बस ऐसे सोते के सोते ही रहते।

उन दिनों कई बार हम सोचा करते कि यदि कहीं हम भारत के डिक्टेटर बन जायँ तो सब से पहला आर्डीनेंस जो हम जारी करें, उस के अनुसार हर नाइट-ऐडीटर के लिये सप्ताह के पहले दो दिन और दो रातें सोना अनिवार्य क़रार दें। उन के बिस्तरों पर एक एक सिपाही नियुक्त कर दें कि यदि उन में से कोई तनिक उठने का प्रयास करे तो पहले उसे थपकी या लोरी द्वारा सुलाया जाए और यदि उस पर भी कोई न सोये तो स्लीपिंग आर्डिनेंस के अनुसार पुलिस को उन्हें सुलाने के लिए हर सम्भव साधन काम में लाने का पूरा अधिकार हो। इस के पश्चात हमारा दूसरा कारनामा दैनिक पत्रों के वर्तमान कार्यालयों को गिरा कर ऐसे दफ्तर निर्माण करना हो जिन में हर सम्पादकीय कक्ष के साथ एक शयन-कक्ष भी हो कि यदि अनुवादक अथवा सम्पादक को तनिक ऊँघ आ जाय तो आँख खोल कर सोने के बदले शयन-कक्ष में जाकर अपने बिस्तर पर आराम फ़रमायें और चन्द मिनटों या घंटों के लिए आँखों को बन्द करके मन-मस्तिष्क को तरो ताज़ा करलें।

नींद का ऐसा उचित प्रबंध करने के लिए डिक्टेटर तो हम क्या बनते उल्टा हमें इसी के कारण नौकरी से त्याग-पत्र देना पड़ा। हुआ यों कि महात्मा गांधी ने अपने प्रोग्राम को उन दिनों कुछ इस प्रकार बना रखा था कि उन की सरगर्मियों के सम्बन्ध में जो तार आता वह रात के एक बजे से पहले कभी समाचार-पत्रों के दफ़्तरों में न पहुँचता। टेलीप्रिंटर का तो नाम भी उस समय किसी ने न सुना था और ए० पी० अथवा फ़्री प्रेस का चपड़ासी एक डेढ़ बजे से पहले दफ़्तर न आता। और एक डेढ़ बजे रात का समय वह होता

था जब सोने और जागने के मध्य आँख मचौनी-चलती। ऊँघते ऊँघते सिर जो कभी बिजली के लैम्प के साथ टकराता तो क्षण भर के लिए कमरे में अँधेरा ही अँधेरा नज़र आता। कभी इस दशा में मेज़ पहाड़ बन जाता और हम फ़रहाद बने तेशे के बदले सिर ही से उसे तोड़ देने का प्रयास आरम्भ कर देते और कभी जब इस अवस्था में कुछ अनुवाद करने को मिल जाता तो एक दो पंक्तियाँ लिखने के बाद ऐसी ऊँघ आती कि क़लम की निब दोहरी होकर रह जाती। ऐसे अवसरों पर सदैव हम प्रार्थना किया करते कि आवागमन की बात यदि सत्य है तो आगामी जन्म में सर्व-शक्तिमान चन्द दिन के लिए हमें महात्मा गांधी बना दे और महात्मा गांधी को किसी दैनिक-पत्र का जूनियर ट्रांसलेटर!

एक रात महात्मा गांधी का तार कुछ ऐसी ही दशा में पहुँचा। दो बजने वाले थे और क्योंकि एक दो बार ऊँघने के पश्चात् हम मुख्य सम्पादक के भय से, बन्द करके सोने के बदले आँखें फाड़ फाड़ कर सोने का प्रयास कर रहे थे। उन्हों ने हमें कुछ सजग समझ कर तार हमारे आगे फेंक दिया और हम अनिच्छा-पूर्वक उसे पढ़ने लगे।

अब इधर आँखें बन्द हुई जा रही थीं और उधर तार पढ़ने का प्रयास हो रहा था। एक बार जो सम्पादक महोदय ने हमारी इस पीनक को देखा और हमारी निद्रालस आँखें उन की निद्रा-विहीन-विरस आँखों से चार हुईं तो हम ज़रा उचक कर, चश्मे को तनिक कुर्ते से साफ़ करके, बैठ गए। पहनी हुई टोपी को हम ने पुन: टेबल पर रख दिया, सिर पर हाथ फेरा, फ़्लीट शू, जो ज़रा गर्म हो गये थे, उतारे और चाक-चौबन्द होकर बैठ गये और इस बार हम ने तार को एक नज़र देख कर लिख डाला :—

पूना, १८ अप्रेल —

अब इस के आगे नजर दौड़ायी तो पाया कि दो तार हैं। एक पूना का दूसरा बम्बई का। पूना का कुछ लम्बा था और हरिजन-दिवस के सम्बन्ध में महात्मा जी के वक्तव्य से सम्बन्धित था और बम्बई का मिसेज गांधी के एक भाषण के सम्बन्ध में था। यह कुछ छोटा भी था। इसलिए नींद की उस झोंक में हम ने पहले उसी से निपट लेने की ठानी और कुछ इस प्रकार लिखना आरम्भ किया।

मिसेज गांधी······

इस पर ऊँघ आयी और ख़याल आया कि मिसेज गांधी ठीक नहीं, ये एसोसीएटिड प्रेस वाले नीम सरकारी एजेंसी से सम्बन्धित हैं। गांधी जी को कभी महात्मा न लिखेंगे केवल मिस्टर ही से काम लेंगे और इसी प्रकार माता कस्तूरबा को भी मिसेज गांधी ही लिखेंगे, परन्तु हम तो एक राष्ट्रीय पत्र के उप-सम्पादक हैं, हमें तो कभी ऐसा न करना चाहिए।

यह ख़याल गनोदगी की सी दशा में निमिष भर के लिए हमारे मस्तिष्क में कौंधा और हम ने मिसेज गांधी काट कर लिखा—

महात्मा गांधी की सहधर्मिणी, जिन्हें श्रीमती कस्तूरबा के नाम से याद किया जाता है, उन्हों ने एक सभा में भाषण देते हुए कहा कि भारतवासियों की मुक्ति स्वदेशी वस्त्र......"

इस पर जरा ऊँघ गये और दिमाग़ में स्थानीय स्वदेशी लीग के एक भाषण का ध्यान हो आया जो हम ने दोपहर को रिपोर्टर की हैसियत से सुना था और ऊँघने के बाद एक नज़र शब्द स्वदेशी पर डाल कर आगे लिखना आरम्भ किया :—

लीगें संगठित करनी चाहिएं। सेक्रेट्री लीग······

इस पर फिर ऊँघ आ गयी।

"आप ने अभी तक महात्मा जी का वक्तव्य समाप्त किया है या नहीं?"

सम्पादक की कर्कश डाँट से हम चौंके। अनुवाद पर दृष्टि डाली। आरम्भ में लिखा था—पूना, १८ अप्रैल—तार पर दृष्टि डाली—पूना, १८ अप्रैल—बोले

"जी वही कर रहा हूँ।"

"तो इतना कम्पोजिंग के लिए भेजिए। टाइम देखिए क्या हो रहा है। पत्र लेट हो जायगा।"

प्रेस आँगन के पार ही था। हम ने लिखी हुई स्लिप चपड़ासी के हवाले की और फिर सिर पर हाथ फेर कर तीन पंक्तियाँ छोड़ महात्मा गांधी का वक्तव्य ट्रांसलेट करने लगे और न जाने क्या क्या लिख गये। सम्पादक महोदय ने हमें कुछ ऊँघते हुए देख कर तार हमारे हाथ से छीन लिया। स्वयं चार कालमी हेडिंग दिये और क्योंकि प्रेस-गण शोर मचा रहे थे, इसलिए हमारी अनूदित स्लिप के साथ नत्थी करके उसे उस के हवाले किया, हमें आदेश दिया "प्रूफ जरा देख लीजिएगा!" गांधी टोपी सिर पर रखी और बिना हमारी ओर देखे चले गये।

दूसरे दिन अभी हम दफ्तर में पहुँचे ही थे कि मैनेजिंग डारेक्टर ने चपड़ासी के हाथ हमें बुला भेजा। हमें पूरा विश्वास हो गया कि हम जो पिछले छः महीने से वेतन बढ़ाये जाने कि प्रार्थना कर रहे हैं, उस की सुनवाई हो गयी है। जरूर हमारी उन्नति होने वाली है। टोपी को उतार कर सिर पर हाथ फेरा और उसे फिर ठीक तरह जमाया, कुर्ते और धोती के सिलवट निकाले और बड़ी स्फूर्ति का प्रदर्शन करते हुए हम मैनेजिंग डारेक्टर के कमरे में गये और

झुक कर मुस्कराते हुए हम ने उन्हें नमस्कार किया।

सिर के हल्के से इशारे से हमारे नमस्कार का उत्तर देकर मैनेजिंग डारेक्टर ने हमें कुर्सी पर बैठने का संकेत किया। हमारा चेहरा खिल भी गया और हम शरमा भी गये, क्योंकि इस से पहले कभी मैनेजिंग डारेक्टर ने हमें कुर्सी पेश न की थी।

जब हम बैठ गए तो एक ताजा अंक हमारे सामने खिसकाते हुए मैनेजिंग डारेक्टर ने कहा, "तनिक यह समाचार पढ़ने की कृपा कीजिए।"

हमारे ही समाचार-पत्र का पहला पृष्ठ था। चारकालमी शीर्षक के साथ निम्नलिखित खबर छपी थी।

भंगियों का काम गृहस्थ-जन स्वयं करें

हरिजन-दिवस के सम्बन्ध में महात्मा गांधी की घोषणा

पूना, १८ अप्रैल—महात्मा गांधी की धर्म-पत्नी, जिन्हें श्रीमती कस्तूरबा के नाम से याद किया जाता है, उन्हों ने एक सभा में भाषण करते हुए कहा कि देश की मुक्ति स्वदेशी लीगें संगठित करनी चाहिए। सेक्रेटरी लीग महात्मा गांधी आदेश देते हैं कि प्रोग्राम प्रातः ५ बजे से आरम्भ होना चाहिए। अपनी अपनी शक्ति के अनुसार अनाज और वस्त्र एकत्र किए जाएँ। बेहतर होगा यदि अन्न वस्त्र के बदले दान नकदी के रूप में इकट्ठा किया जाए। इस प्रकार जो धन एकत्र हो उस से जरूरतमन्द हरिजनों को साफ़ किया जाए।—

ए० पी

इस खबर को पढ़ कर हम सिर कुरेदने लगे और अभी सोच ही रहे थे कि ये सब भूलें हमारी हैं अथवा प्रेस की कि मैनेजिंग

डारेक्टर ने सादर और सांजलि हम से प्रार्थना की कि हम पत्र पर दया करें और कृपा कर अपना त्याग-पत्र दे दें।

हम ने कुछ करुणाजनक दृष्टि से उन की ओर देखा किन्तु वे हमारी ओर कुछ इस प्रकार देख रहे थे कि हमें उन पर दया हो आयी और हम ने उन की प्रार्थना को अस्वीकार करना उचित न समझा—उन की प्रार्थना को जो मैंनेजिंग डारेक्टर थे, पत्र के एक-छत्र सम्राट थे, जिन्हों ने बाक़ायदा हमें चपड़ासी के हाथ बुलवाया था, सत्कार सहित कुर्सी पेश की थी और हाथ जोड़ कर बड़ी दयनीक दृष्टि से देखते हुए प्रार्थना की थी कि हम पत्र पर दया करें, सो हम ने अपना त्याग-पत्र पेश कर दिया।

अब सत्य तो यह है कि हम अपने मित्रों ऐसे हृदयहीन नहीं कि कोई हम से इस प्रकार प्रार्थनाएँ करे और हम न मानें। हम ने बार बार ऐसी प्रार्थनाएँ मानी हैं और सर्वशक्तिमान ने हमें बल प्रदान किया तो भविष्य में भी अपना यह कर्तव्य पालन करेंगे।

अभाव

राजकुमार शेखर ने विवाह की बाट देखती राजकुमारी और शासन की प्रतीक्षा करते साम्राज्य को ठुकरा दिया और अपने पिता को अपार निराशा देकर बन को चला गया।

पहाड़ के उच्च शिखर पर पहुँच कर उसने एक शान्त, एकान्त, सुरम्य स्थान पर कुटिया बनायी और योग-साधन में निमग्न होगया।

वर्षों तक उसने कठिन तपस्या की और एक दिन उसे लगा जैसे शरीर की समस्त इन्द्रियाँ उसके वश में हो गयी हैं और समस्त सिद्धियाँ उसके इंगित पर नृत्य करने को तत्पर हैं।

हलाहल विष को वह एक घूँट में पी गया और उसने इस प्रकार ओंठों पर जीभ फेरी, मानो उसने अमृत-रस पान किया हो।

लुढ़कती हुई पहाड़ी चट्टान को उसने महज दृष्टि उठाकर रोक दिया।

संसार के समस्त व्यापार उसके लिये पारदर्शी शीशे-से हो गये। कुछ भी गुप्त-गुह्य उनमें न रहा।

वसंत अपने समस्त आकर्षण और संगीत के साथ उसके कुटीर पर मँडला कर हार गया और शशि का समस्त सौंदर्य, माधुर्य्य और शीतलता व्यर्थ रही। योगी शेखर के लिए वसंत और पतझड़, चाँद की शीतलता और सूरज की प्रखरता एक बराबर थी।

तपती धूप हो अथवा शीतल चाँदनी—वह एक भाव से अपनी उस कुटी के उस एकान्त में समाधिस्थ हो उस परमानन्द में लीन रहता जिसे आत्मा, परमात्मा में एकाकार होने पर उपलब्ध करती है।

तभी ग्रीष्म की एक शाम एक सुन्दरी, तरुणी, एक-वसना किन्नरी उसकी कुटिया के पेड़ों में सूखी लकड़ियाँ बीनने आयी। सन्ध्या के अँधेरे में कुछ उज्वल-सा हो गया। योगी की समाधि खुल गयी।

आँखें खुलते ही योगी की दृष्टि तरुण किन्नरी के सुन्दर, सुगठित, एक-वसन शरीर पर जा पड़ी और क्षण भर के लिए वहीं टिकी रही। किन्नरी ने वस्त्र सम्हालते हुए अपनी बड़ी-बड़ी आँखें उठाकर योगी को देखा। एक हल्की-सी सनसनी सिर से पैर तक योगी के शरीर में दौड़ गयी। किन्तु वह उठा और सहज भाव से अपने नित्य-कर्म में लग गया जैसे उस तरुणी एक-वसना किन्नरी और उसके हाथ की सूखी लकड़ी में कोई अन्तर न था।

किन्तु जब उस रात राजकुमार शेखर ने समाधि लगायी तो उसे लगा जैसे उसके परमानन्द में कोई अभाव रह गया है। उसे न वह एकाग्रता मिली, न तुष्टि!

वर्ष भर अपने आप से लड़ने और उस छिद्र का (जिसमें से विकार उसके मन में प्रवेश कर गया था) पता लगाकर उसे सदा

के लिए बन्द करके पुनः परम-तुष्टि पाने का विफल प्रयास कर, आखिर एक दिन राजकुमार झुंझलाकर कुटिया को तज अपने राज को वापस चला गया।

सुनते हैं, महाराज शेखर ने सिंहासन पर बैठते ही जो पहली आज्ञा दी, वह उस किन्नरी को ढूंढ लाने के लिये थी।

तख्त महल

तख्त महल—जिसमें न कोई तख्त था, न महल—बहावलपुर रियासत में सम्मा सट्टा लाइन का एक नन्हा सा स्टेशन था, रनथम्भ गाड़ियाँ जिस पर रुकना भी अपना अपमान समझती थीं और चीखती दनदनाती, जैसे उस नन्हे से स्टेशन को उसकी अकिंचनता की याद दिलाती बढ़ी चली जाती थीं।

स्टेशन की कुल कायनात एक छोटा सा दफ्तर, एक नन्हा सा मुसाफिरखाना, बाबुओं तथा नौकरों के चन्द क्वार्टर, एक कुआँ और एक कराड़ की दुकान, थी। यह कुआँ और कराड़ की दुकान इस वीरान स्टेशन पर उतरने वालों के लिए, जिनके सामने सदैव कोसों की मंज़िल रहती, किसी स्वर्गीय विभूति से कम न थी। कराड़ की दुकान से तेल के ठंडे पकौड़े, नमकीन अथवा मीठे चने, तली हुई नमकीन दाल, गुड़ की रेवड़ियां अथवा खोये की बर्फी,

जिसमें खोया कम और चीनी अधिक होती, और जिसपर दिन भर मक्खियाँ भिनभिनाया करतीं, अथवा ऐसा ही कोई पदार्थ खाकर कुएँ से ठंडे जल के दो घूँट भर कर यात्री स्टेशन पर कुछ देर सुस्ता लेते, तब अपनी यात्रा पर चलते।

इस छोटी सी कायनात के वासी स्टेशन मास्टर, तारबाबू, पानी वाले, कांटे वाले, भंगी और कराड़ अपने वर्ग और जातिगत भेद-भाव के बावजूद एक कुटुम्ब की सी तरह रहते।

तख्त महल के इसी सूने वातावरण ने तारबाबू सादिक हुसन और अली पानी वाले में सगों का सा सम्बन्ध स्थापित कर दिया था और कभी जब सादिक हुसन सिक-रिपोर्ट कर देते अथवा स्टेशन मास्टर से कहकर इतवार की छुट्टी मनाते तो दोनों का दिन एक तरह से साथ साथ बीतता।

यों त्योहारों और दूसरे शुभ दिनों की छुट्टी चाहे सरकार के प्रत्येक विभाग में मिलती हो, रेल विभाग में इसकी प्रथा नहीं— स्टेशनों के बड़े बाबू, यदि चाहें तो बारी बारी से इतवार की छुट्टी मना भी सकते हैं, किन्तु छोटे स्टेशनों के बाबुओं के लिए यह बात असम्भव है, क्योंकि ये छोटे स्टेशन होते तो यद्यपि मेन लाइन ही पर हैं और गाड़ियाँ भी यहाँ दिन रात दनदनाती रहती हैं, परन्तु स्टाफ वहाँ दो बाबुओं से अधिक नहीं रक्खा जाता। तख्त महल भी मेन लाइन ही का स्टेशन था और चौबीसों घंटे वहाँ गाड़ियाँ चलती रहती थीं—मुसाफिर-गाड़ियाँ, फलों की गाड़ियाँ, और फिर वे गाड़ियाँ जो रनथ्रू कहलाती हैं। तार बाबू सादिक हुसन के लिए किसी तरह की छुट्टी असम्भव थी, पर स्टेशन मास्टर कुछ जिन्दा-दिल आदमी थे—मितव्ययता संयम और भलाई से भरे पूरे ब्राह्मण! उन्हों ने सादिक हुसन से कह रक्खा था कि एक इतवार की छुट्टी

यह मना लिया करे और एक इतवार को वे मना लिया करेंगे। हाँ यदि किसी ऐसे दिन कोई अफ़सर आने वाला हो तो पूर्ववत् दोनों को काम करना होगा.....बड़ी लाइन ठहरी। टी० आई०, ए० टी० ओ०, डा० टी० ओ० तथा दूसरे कई छोटे मोटे 'ओ' मधु-मक्खियों की भाँति इस लाइन पर मँडराया करते... ..गिद्दड़बाहा, मलोट, हिन्दु मालकोट, मेकलोडगंज रोड, बहावलपुर, चिस्तयां सम्मा सटटा...इतनी मंडियाँ जो थीं इस लाइन पर और वे सीधे फूल से रस न लेकर फूल पर पहले ही बैठे हुए भ्रमरों से अपना कर वसूल कर लिया करते थे। छोटे अफ़सर नज़रानों और बड़े डालियों के रूप में......और प्रायः ऐसा होता कि सादिक़ हसन अपनी ओर से छुटटी मना रहे होते कि स्टेशन मास्टर का संदेशा पहुँचता —"ए० टी० ओ० गुज़र रहा है" और वे ख़ासी अफ़रातफ़री में तैयार हो कर वर्दी पहनते पहनते भागते और गाड़ी के स्टेशन पर आते आते वहाँ पहुँचते। स्टेशन मास्टर अपने अवकाश का समय किस प्रकार व्यतीत करते, इस का ब्योरा कठिन है—उनके बच्चे थे, बीवी थी, एक बुढ़िया दादी थी, फिर गाय थी, भैंस थी और इसी गाय तथा भैंस से एक सुन्दर बछिया और दिन प्रति दिन कौमार्य के मरहलों को पार करने वाला कटड़ा थी, किन्तु तार बाबू सादिक़ हसन के यहाँ तो इनमें से कोई चीज़ न थी—मेंहदी की एक छोटी सी क्यारी थी, परन्तु मेंहदी की मूक क्यारी के पास बैठकर और कल्पनाओं के संसार बसा कर कितने इतवार बिताये जा सकते हैं।

किसी ज़माने में, जब सादिक़ हसन कालेज में पढ़ते थे और अपने ख़ालू की लड़की रीहाना से प्रेम करते थे, सुनते हैं उन्हें ललित कलाओं का भी शौक़ था और वे एक साथ चित्र-कला,

अभिनय और कविता में दिलचस्पी लेते थे, परन्तु उनकी वह दिलचस्पी अब अकर्मण्यता, आलस्य और तख्त .महल के संकुचित वातावरण की भेंट हो गयी थी।

चित्र-कला के नाम पर अब बाबू सादिक हसन भूले-भटके तख्त-महल आ पहुँचने वाले किसी सचित्र मासिक की तस्वीरें देख कर ही दिल बहला लेते थे। अभिनय का भी उन्हें इतना ही शौक़ था कि जब इधर के किसी गांव में विवाह शादी पर आया हुआ कोई मदारियों का दल अथवा घुमक्कड़ नटों की कोई टोली आ निकलती और स्टेशन-मास्टर और उसके बच्चे, पानी वाले, काँटे वाले और स्टेशन का दूसरा स्टाफ़ सकुटुम्ब और स्टेशन का कराड़ ठंडे पकौड़ों और गुड़ की रेवड़ियों का काला, मैला-कुचैला लोहे का थाल लिए हुए और उसकी दुकान पर बैठा हुआ कोई जाट रेवड़ियाँ कड़कड़ता अथवा पकौड़े चबाता और कुत्ते अपनी दुम हिलाते दायरा बना कर आ बैठते तो बाबू सादिक हसन भी दफ़्तर से कुर्सी निकलवा कर इस अभिनय का रस ले लिया करते। कविता उन्हें भूल गयी थी। हाँ, कभी कभी जब मन होता तो ऊँची आवाज़ में

मुहब्बत करो और निभाहो तो पूछूँ
यह दुश्वारियाँ हैं कि आसानियाँ हैं।

गा लेते, बार बार बस यही एक शेर। इस में वे सम्बोधित किसे करते। रीहाना को या अपने आप को, अथवा कल्पना की किसी प्रेयसि को, इसे ख़ुदा ही बेहतर जानता है। हाँ शेर पढ़ते दीर्घ ठंडे निःश्वास कभी कभी उनके हृदय से अवश्य निकलते रहते। तख्त महल के इस विशाल मरुस्थल में आ फँसने वाले कलाकार हृदय का अन्तिम आश्रय!

छुट्टी के दिन बाबू सादिक हसन के दो ही शग़ल होते। दिन के पहले हिस्से में घर और शरीर की सफ़ाई औ दूसरे में चारपाई पर (सर्दियों में धूप और गर्मियों में शीशम की छाया में) लेट कर अली पानी वाले से बातें।

एक हिन्दू और एक मुसलमान पानी वाला देश के विभाजन तक पंजाब के हर छोटे से छोटे स्टेशन पर होता आया है। सिक्खों ने इस बात पर ज़ोर नहीं दिया, नहीं हिन्दू मुसलमान पानी वाले के साथ एक सिक्ख पानी वाला भी ज़रूर नज़र आता। ये पानी वाले मुसाफ़िरों को पानी पिलाने के लिए रखे जाते हैं, परन्तु अधिकतर ये स्टेशन मास्टर, असिस्टेंट स्टेशन-मास्टर और तार बाबू के घरों का पानी भरा करते हैं। कभी किसी स्टेशन के बाबू को पत्नी की ओर से अवकाश मिले अथवा सादिक हसन की भाँति पत्नी नाम की चीज़ का मधुर हास किसी के आँगन को सूना ही रखे, तो वे उनके यहाँ रोटियाँ भी सेंक देते हैं। कभी जब रोटी सेंकते सेंकते गाड़ी आ जाती है तो तवा उतार कर, लकड़ी चूल्हे से खींच कर, वर्दी का नीला कुर्ता बाहों से नीचे उतारते उतारते सरकारी काम की अंजामदही के लिए भागते हैं, पर प्रायः जब पानी की बाल्टी लेकर गाड़ी की ओर चलते हैं, वह चल चुकी होती है और खिड़की के बाहर पानी पानी चिल्लाता हुआ किसी बच्चे का सिर और पानी के लिए हाथ में गिलास अथवा लोटा थामे किसी स्त्री का बाज़ू साथ ही चला जाता है।

स्टेशन मास्टरों और तार बाबुओं की बीवियाँ जब अपने नगरों अथवा देहात में अपनी अपेक्षाकृत ग़रीब पड़ोसियों के झुरमुट में

बैठी इन स्टेशनों की बातें सुनाया करती हैं तो बड़े गर्व से इन काँटे तथा पानी वालों को 'नौकरों' के नाम से याद किया करती हैं—"मैं तो बहन वहाँ ग्यारह ग्यारह नौकरों के होते हुए भी घर का सब काम आप ही करती थी" या फिर, "काम वहाँ करना ही क्या पड़ता, झाड़ू-बुहारी देना, बरतन मलना, गाय दुहना, दही मथना और सारे दूसरे काम तो 'नौकर' ही करते थे इसीलिए तो फूल गयी और यह निगोड़ा कमर का दर्द ....

कहने का मतलब यह है कि तख्त महल का मुसलमान पानी वाला अली सादिक हसन का रसोइया था, क्योंकि हिन्दु पानी वाला स्टेशन मास्टर के यहाँ काम करता था।

रसोई आदि से निबट कर और गाड़ियों पर पानी पिलाने का काम हिन्दू पानी वाले के कंधों पर छोड़ कर अली हुक्का लेकर तार बाबू की चारपाई के पास आ लेटता और उनमें प्रायः इसी तरह की बातें छिड़ जातीं।

अली अपने हुक्के को गुड़गुड़ाता हुआ कहता "बाबू जी, अब तो आप घर बसा लें। बिना घर दर के भी जिन्दगी का कोई लुत्फ नहीं।"

सादिक हसन हँसता, "तुम भी तो आखिर अली इतने दिनों से घर दर के बिना हो, तुम क्यों नहीं अपना घर दर बसा लेते।"

अली को इस घर बसाने का अनुभव भी कुछ न कुछ था। अब तक वह तीन विवाह कर चुका था। उसकी पहली पत्नी, कहते हैं, बड़ी सुन्दर थी। पर वह बेचारी बहुत देर तक उसके साहचर्य का सुख न भोग सकी। दूसरी को दो सौ रुपये में वह कहीं से लाया था और एक सप्ताह में वह उसकी जमा-पूँजी लेकर चम्पत हो गयी थी। तीसरी वह दस वर्ष पैसा पैसा जमा करने के बाद चार

सौ में लाया था। वह उसके एक साथी कांटे वाले के साथ भाग गई थी। लेकिन इस पर भी उसकी भूख उसी तरह बनी थी और वह फिर कुछ न कुछ जमा करने की फ़िक्र कर रहा था। शादी से अथवा नारी से उसे उपेक्षा हो गयी हो, यह बात भी न थी।

पहली के बारे में पूछा जाता तो वह दीर्घ निश्वास छोड़ता, जन्नत की हूर थी नाजली, हाथ लगाये मैली होती थी और फिर सीधी साधी, भोली भाली थी। मेरी सेवा जी जान से करती थी, पर खुदा को मेरा यह सुख मंजूर न था,,—और यह कहते कहते उसका गला गला भर आया करता।

दूसरी—"वह तो सब धोखा था—मैं लुटेरों के हाथों में फँस गया था। वह तो पहले ही से शादी-शुदा थी और उसकी साजिश में उसका पहला पति भी शामिल था," और उसका जिक्र आते ही वह उन सब को दो चार 'मधुर-शब्द' सुना देता—ऐसे कि शरीफ़ों की मजलिस हो तो कानों पर हाथ रखने पड़ें पर उसके साथी खूब ठहाके लगाते।

तीसरी—अजी वह तो सब उस बदमाश गुलाम की कारिस्तानी थी। उस हरामजादे को मैंने भाई की तरह समझा, हमेशा उसका ख्याल रखा। एक बार जब मीयादी बुख़ार में बीमार पड़ा तो मैंने ही उसे बचाया। उस सब का सिला उसने यह दिया। तुख्म का कमीना था न," वह अपने आप को तसल्ली देता, "घर में आता जाता था, उसे माँ कहता था, जाने क्या सब्ज़-बाग दिखा कर भगा ले गया—हरामजादा!" और वह दाँत पीसता, "नहीं हसीना तो सीधी साधी लड़की थी—कमीना........"

लोग हँसा करते थे। वास्तव में अली की यही कमजोरी थी। उसके मित्रों में से किसी को जब अली से किसी तरह की कोई

चीज़ लेनी होती तो वह उसकी पहली बीबी की बात छेड़ता। अली उसकी बातें करते करते इतना पिघल जाता कि चुपचाप वह चीज़ दे देता। उसे छेड़ना अथवा उसे चिढ़ा कर हँसना होता तो दूसरी की बात छेड़ी जाती। उसे झल्लाये हुए देखना होता तो तीसरी का ज़िक्र चलाया जाता। और यदि दोस्तों की इच्छा मुँह मीठा करने की होती तो उस की होने वाली बीवी के गुण तथा रंग-रूप का बखान होता, जिस के लिये वह चोरी चोरी फिर से कुछ न कुछ जोड़ता चला आ रहा था।

अवकाश के समय ऐसी बात चलने पर जब अली अपनी ग़रीबी का ज़िक्र करता तो सादिक़ हसन हँस कर कहते "तुम पहले मन तो पक्का कर लो फिर कहीं सबील की जाय।"

अली के मुँह में पानी भर आता। उसे हुक्का पीना भूल जाता। पर हसरत के साथ वह इतना ही कहता, "तैयारी क्या हो बाबू जी, अपना तो पेट भरता नहीं।"

तब सादिक़ हसन करवट ले कर फिर उस की ओर लेट जाते "लड़की तो एक मेरी नज़र में है," "वे कहते," "अगर तुम कहो तो कोशिश करें।"

अली की आँखों में कृतज्ञता का जो भाव आ जाता वह स्वयं इस प्रश्न का उत्तर होता।

और ओंठों पर तनिक सी मुस्कान लिये सादिक़ हसन स्वयं ही कहने लगते, "लड़की तो ऐसी सुन्दर है कि क्या कहूँ?" और फिर पूछते "कितनी होगी तुम्हारी उम्र चालीस वर्ष........!"

"चालीस..." अली ज़रा सा नाक में बोल कर कहता," नहीं बाबू जी, मैं तो मुश्किल से दो वर्ष गुज़रे तीस का हुआ था।",

"लेकिन बाल तो तुम्हारे......"

"बालों पर न जाइए बाबू जी" अली कहता, "आपसे पहले जो बाबू यहाँ होते थे एक दिन उनके यहाँ बड़ियाँ टपकाते हुए पेठे का हाथ सिर को लग गया था।"

यह पेठे के पानी की बात वह हरेक बाबू को सुनाता आ रहा था। सादिक हसन के पहले जो बाबू थे उनसे भी वह यही बात कहता था। और उनसे पहिले जो थे उनसे भी यही। कभी दोस्तों में वह बालों की सफ़ेदी को नज़ले का कारण भी बता देता था। बहरहाल सादिक हसन इसको बड़ी बात न समझते थे, "अरे कोई बात नहीं," वे कहते "मर्द पचास वर्ष का हो तो भी चार औरतें रख सकता है पर मर्द हो ....."

अली बात काट कर कहता, "अब तो बाबू जी, स्टेशन पर ही काफ़ी काम होता है नहीं तो कसरत मैंने कम नहीं की।"

सादिक हसन अली के मदकूक शरीर को देखते—लम्बी नाक, पिचके गाल, जबड़ों की हड्डियाँ उभरी हुई, पत्थर सी तनिक अन्दर को धंसी हुई आँखें, माथे की नसें काम के आधिक्य के कारण उभरी हुई—अपने सम्बन्ध में किसको गलतफ़हमी नहीं होती !

"नहीं तुम्हारा बदन कसरती मालूम होता है।" सादिक हसन समालोचक की अदा से कहते, "और फिर लड़की छोटी हुई तो क्या है लड़कियों और बैलों को बढ़ते कौन सी देर लगती है, बस एक बार गाँव जा लेने दो सब कुछ कर आऊँगा।"

"लेकिन पैसा........"

सादिक हसन अली का घर बसाने के उस जोश में उठ कर बैठ जाते, "अरे पैसे की तुम चिन्ता न करो। सब कुछ इन्तज़ाम हो जायगा, दो चार सौ देना भी पड़े तो कुछ डर नहीं।"

ये रुपये कहाँ से आयेंगे, इस बात की उन्होंने कभी चिन्ता न की थी, क्योंकि वह सब तो अवकाश की उन घड़ियों को गुज़ारने की बात थी। हाँ, इतना अवश्य होता कि प्रायः बात यहाँ से आगे भी बढ़ जाती और शादी की तफ़सीलें भी तय हो जातीं और कभी सादिक़ हसन कहते।

"देखो भाई बीवी लाओगे तो तुम्हें भी हाथ न जलाने पड़ेंगे और मुझे भी आराम हो जायगा......कम से कम तुम्हारी अध-कच्ची-पक्की रोटियों से तो निजात मिलेगी" और वह क़हक़हा लगाते "कहीं भूल तो न जाओगे।"

"ऐसा भी क्या है बाबू जी" कृतज्ञता के बोझ से लद कर अली कहता।

लेकिन उस कृतज्ञता को चुकाने का अवसर अभी तक न आया था। क्योंकि इन सब बातों की नौबत तब आती जब सादिक़ हसन गाँव को जाते और गाँव जाने का दिन अभी न आया था।

अली जब भी बाबू साहब को अच्छे मूड में देखता, उनके इस वचन की याद दिलाता। उसका याद दिलाने का तरीक़ा भी अजीब होता। मिसाल के तौर पर वह कहता—

......"बाबू जी आपको यह सूनापन अखरता नहीं।"

.........."बाबू जी स्टेशन मास्टर के घर बच्चा हुआ है।"

या फिर वही वाक्य—

......"बाबू जी अब तो आपको घर बसाना चाहिये"

इन सब वाक्यों में उसके अपने मन का प्रतिबिम्ब होता और जब वह सादिक़ हसन को घर बसाने का परामर्श देता तो उसका

मतलब यही होता कि बाबू जी अब तो आपको मेरा घर बसाने की फ़िक्र करनी चाहिये।

कभी जब सादिक हसन का मन होता तो वे इसी बात को लेकर अली के सामने हरे भरे बाग़ खिला देते और कभी जब उनका मन खिन्न होता तो वे कुछ ऐसी दार्शनिक बातें आरम्भ कर देते कि अली उनमें से एक भी न समझ पाता और मन ही मन में वह समझ लेता कि यह सब तख्त महल की वीरानी तथा बाबू के एकाकीपन का फल है और मन ही मन वह उसके लिए हमदर्दी का दीर्घ निःश्वास भी छोड़ देता।

बहरहाल अली का घर चाहे न बसा था, पर सादिक हसन का समय अच्छा कट रहा था, बल्कि उन्हें खाना भी अच्छा मिल रहा था और अली की सेवाओं में न केवल नौकरों के सूखेपन का अभाव था, बल्कि एक स्निग्धता और कृतज्ञता भी थी। जब तार बाबू का मन खिन्न होता तो वे अली की कम ही बात चलाते थे और अली उस समय की प्रतीक्षा करता जब उनका मन प्रसन्न हो.........

लेकिन खिन्न हो अथवा उत्फुल्ल, जब बात का सिलसिला खत्म होता तो शाम पड़ गयी होती, हुक्का कब का बुझ चुका होता और तख्त महल के गम्भीर मौन को तोड़ती हुई किसी गाड़ी के आगमन की घंटी अनवरत बज रही होती अथवा शाम की गाड़ी दनदनाती हुई स्टेशन में प्रवेश कर रही होती।

छिद्रान्वेषी

रानी ने पूछा—"कौन हैं?"

राजा ने हँसकर कहा—"ब्राह्मण, और वह भी सात्विक भोजन करने वाले, अब तो प्रसन्न हो!"

और यह कह कर हँसते हुए वे बाहर दीवान खाने में चले गये।

राजा का नाम राय कृष्ण दयाल और रानी का मधु मालती था। उनकी कोई रियासत न थी, किन्तु पुरखे बड़े जागीरदार थे और उनके वंशज होने के कारण राय कृष्ण दयाल राजा और उनकी पत्नी रानी कहाती थीं।

किन्तु जहाँ उनके पुरखों को लोग—बरबस उनके धन वैभव और आतंक के कारण—राजा कहकर पुकारते थे, वहाँ राय कृष्ण

दयाल अपनी सहृदयता और उदारदिली के कारण राजा कहलाते थे। जागीर तो उनके पास आते आते बीसवाँ हिस्सा रह गयी थी, परन्तु हृदय पुरखों की अपेक्षा बीस गुना उदार हो गया था।

बड़े कला-प्रेमी जीव थे। कोई न कोई संगीतज्ञ, चित्रकार, लेखक, कवि उनके यहाँ नित्य मेहमान रहता। वे उनकी चीजें सुनते, देखते और उनकी प्रशंसा करके उनका मन बढ़ाते।

रानी मधु मालती भी उदारता में अपने पति से पीछे न थीं। राजा यदि मेहमानों को बुलाकर प्रसन्न होते तो रानी उन्हें उनकी रुचि के अनुसार भोजन खिलाकर सुख पातीं। खाना पकाने में उन्हें सिद्धि प्राप्त थी। दक्षिण से लेकर उत्तर और पूर्व से ले कर पश्चिम तक सभी प्रांतों के मुख्य मुख्य भोजन और व्यंजन उन्होंने सीख रखे थे। जब कोई कलाकार अतिथि होकर आता तो वे एक न एक चीज स्वयं अपने हाथ से तैयार करतीं और खाने की मेज़ पर जब मेहमान अनायास उसकी प्रशंसा कर उठता तो उनकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहता।

किन्तु रानी को सदा इस बात का दुख रहता था कि अधिकाँश कलाकार मांसाहारी थे। रानी पकाने को तो बढ़िया से बढ़िया मुग़लई खाने भी पका लेती थीं, पर स्वयं मांस से उन्हें परहेज था। सात्विक वृत्ति का विद्वान ब्राह्मण अतिथि के रूप में आया है, यह जानकर उन्हें सचमुच बड़ी प्रसन्नता हुई। तत्काल एक बाँदी को उन्होंने आज्ञा दी कि भंडारे से बढ़िया बासमती चावल निकालकर उन्हें दाना दाना करके चुने। दूसरी को आदेश दिया कि बादाम, पिस्ता, खोपरा, किशमिश आदि मेवे निकालकर साफ करे; पिस्ते को बारीक बारीक काटे और बादाम की गिरियों को गर्म पानी में उबाल कर उनका छिलका दूर करे। तीसरी को ताजा दूध लाने का हुक्म

मिला। चौथी से उन्होंने एक बड़ा चमचमाता पतीला लाने के लिये कहा और यद्यपि पतीला साफ़ था, फिर भी उन्होंने उसे अपने सामने धुलवाया और अनुपात के अनुसार उसमें बड़ी सावधानी से दूध छान कर, उसे आग पर चढ़ा दिया। रसोइये को उन्होंने दूसरी चीज़ें बता दीं और स्वयं खीर बनाने लगीं।

यद्यपि चावल चुनकर ही गोदाम में रखे जाते थे, बांदी ने उन्हें फिर चुन दिया था, फिर भी रानी ने उन्हें एक नजर देख लिया और कई पानी धोकर उन्हें दूध में डाला। चावल कम और दूध ज़्यादा और आँच धीमी—दूध को कढ़ने में काफी देर लगी। पर रानी बड़ी निष्ठा से बैठी रहीं। खीर में गिल्टी न पड़ जाय, इस विचार से उसे बराबर हिलाती रहीं। जब खीर आधी पक चुकी तो उन्होंने उसमें मेवे और डेढ़ पाव स्वच्छ सुवासित घी डाला। कढ़ते कढ़ते वह खीर ही का अंग बन गया। उतारने से कुछ देर पहले उन्होंने अनुपात के अनुसार उसमें चीनी डाली। पुरोहित को बुला, चखा कर देख ली और संतुष्ट होकर उसे उतारा। थालों में उसे डालने और उन पर पिस्ता, सोने चाँदी के वरक जमाकर खाने की मेज़ पर उन्हें सजाने की आज्ञा देकर वे स्वयं तैयार होने चली गयीं।

अतिथि गौरवर्ण हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति था। छः हाथ शरीर, बलिष्ठ अंग, उन्नत ललाट, बड़ी बड़ी आँखें—रेशमी कुर्ता, महीन धोती और सुन्दर चप्पल पहने हुए!

ऐसे विद्वान् ब्राह्मण को अतिथि के रूप में पाकर रानी का चित्त प्रसन्न हो गया। कुर्सी से उठकर, दोनों हाथ जोड़, क्षीण-संस्कृत,

स्वर्ण-स्मित से रानी ने उसका स्वागत किया।

अतिथि ने रानी की ओर देखे बिना, हाथ जोड़ने का उपक्रम सा करते हुए तनिक सा सिर झुकाकर उनके नमस्कार का उत्तर दिया। वह न मुस्कराया न कोई दूसरी भावना उसके मुख पर प्रकट हुई। गम्भीर बना वह अपनी कुर्सी पर जा बैठा।

स्मिति की क्षीण रेखा रानी के ओठों से निमिष भर को विलुप्त हो गयी, किन्तु जब भोजन के थालों पर से कपड़ा उठाया गया, तो खीर का थाल (जिसपर सोने चाँदी के वरक बड़े कला-पूर्ण ढंग से लगे हुए थे और जिनसे केवड़े की सुगन्धि आ रही थी) रानी ने स्वयं उठाकर अतिथि के सामने रखा और हँसते और लजाते हुए बोलीं, "यह खीर मैंने स्वयं पकायी है।"

राजा ने रानी की सिद्धि का जिक्र किया कि किस प्रकार कुमारी अन्तरीप से लेकर हिम गिरि और सिन्धु से लेकर ब्रह्म-पुत्र तक सभी प्रदेशों के भोजन पकाने में उन्हें अपूर्व दक्षता प्राप्त है।

अतिथि ने चुपचाप राजा की बात सुनी, न किसी प्रकार की प्रसन्नता प्रकट की न आश्चर्य! मौन रूप से थाल को तनिक अपनी ओर सरकाया और एक नजर उन सोने-चाँदी के कलापूर्ण लगे हुए पत्रों को देखा।

रानी का मुख कानों तक लाल हो गया। उन्हें लगा जैसे अतिथि खीर के थाल को नहीं वरन् उनकी आँखों के काजल, ओठों पर जमी हुई सुर्खी की लकीर और कपोलों के हल्के गाजे को देख रहा है। उनका विचार था कि अब ब्राह्मण खीर पर टूट पड़ेगा।

पर ब्राह्मण ने निमिष भर उस सुवास का आनन्द लिया जिसकी लपटें खीर से आ रही थीं। और रानी को लगा जैसे वह उनकी सुवासित केशराशि की सुगंधि से अपना मन-मस्तिष्क हरा कर

रहा है। प्रसन्नता की रेखाएँ उनके मुख पर पुनः झलक उठीं।

पर तभी खीर के थाल को आगे कर अतिथि ने चम्मच से चाँदी-सोने के पत्र और बालाई की मोटी परत अलग कर दी।

कुछ लजाकर और कुछ चकित होकर रानी ने अपनी साड़ी को शरीर के साथ समेट लिया।

तब अतिथि धीरे धीरे, किशमिश, बादाम, और दूसरे मेवे चम्मच से अलग करते हुए, खीर खाने लगा। ऐसे लगता था जैसे वह एक एक चावल परख कर खीर खा रहा है। सर्वथा निर्लिप्त भाव से। न उसके मुख पर आनन्द की कोई भावना प्रकट हुई और न उसके मुँह से प्रशंसा का एक शब्द निकला।

"यह विचित्र ब्राह्मण है"—रानी ने मन ही मन कहा।

तभी अचानक, उसी प्रकार जैसे बगुला मछली पकड़ने के हेतु चोंच को पानी में डुबकी देता है, अतिथि ने अंगुली और अंगूठे की चोंच बना कर उसे खीर में डुबकी दी।

आशंका से रानी का हृदय धड़क उठा। अपनी कुर्सी से लग भग उठते हुए उन्होंने पूछा, "क्या कोई मक्खी पड़ गयी।

"कड़क लाल चावल है," अतिथि ने अंगूठे और अंगुली चोंच से पकड़े हुए लाल चावल को दिखलाते हुए पहली बार रानी की ओर देखा और जैसे अपनी इस खोज की दाद चाहते हुए मुस्कराया।

क्रोध के मारे रानी का मुख लाल हो गया, किन्तु संयत स्वर में उन्होंने कहा, "चावल मैंने स्वयं चुने थे, कदाचित रह गया होगा।"

और इतने परिश्रम से खीर बनाने का यह पुरस्कार उन्हें मिला।

रानी ने पूछा—"यह विचित्र आदमी है। कौन है यह ?
राजा बोले—"तुम्हें बताया नहीं, धुरन्धर विद्वान् हैं।"
रानी खीज उठीं, "वह तो सुना, पर करते क्या हैं? पढ़ाते हैं?"।
"नहीं, महान आलोचक हैं। इनकी पैनी दृष्टि की धूम भारत में है" राजा ने इतने बड़े आलोचक को अतिथि के रूप में पाने के उल्लास में कहा।

रानी की खिन्नता दूर हो गयी। वह अनायास हँस दीं और बोली—"तभी—तभी।"

पर तभी क्या ? यह, राजा की समझ में नहीं आया, क्योंकि तब रानी खिलाने और अतिथि परखने में लगे थे, राजा पूर्ण रूप से स्वादिष्ट भोजन का आनन्द पाने में निमग्न थे।

चारा काटने की मशीन

रेल की लाइनों के पार, इस्लामाबाद की नई आबादी के मुसलमान, जब सामान का मोह छोड़, जान का मोह लेकर भागने लगे तो हमारे पड़ोसी सरदार लहनासिंह की पत्नी चेतीं।

"तुम हाथ पर हाथ धरे नामर्दों की तरह बैठे रहोगे," सरदारनी ने कहा, "और लोग एक से बढ़ कर एक घर पर कब्जा कर लेंगे।"

सरदार लहनासिंह और चाहे जो सुन लें, परन्तु औरत-जात के मुँह से "नामर्द" सुनना उन्हें कभी गवारा न था। इस लिये उन्होंने अपनी ढीली पगड़ी को उतार कर फिर से जूड़े पर लपेटा; धरती पर लटकती हुई तहमद का किनारा कमर में खोंसा; कृपाण को म्यान से निकाल कर उस की धार का निरीक्षण करके उसे फिर म्यान में रखा और इस्लामाबाद के किसी बढ़िया 'नये' मकान पर

अधिकार जमाने के विचार से चल पड़े।

वे अहाते ही में थे कि सरदारनी ने भाग कर एक बड़ा सा ताला उन के हाथ में दे दिया। "मकान मिल गया तो उस पर अपना कब्ज़ा कैसे जमाओगे," उस ने कहा, "अपना ताला तो लेते जाओ।"

सरदार लहनासिंह ने एक हाथ में ताला लिया, दूसरा कृपाण पर रक्खा और लाइनें पार कर इस्लामाबाद की ओर बढ़े।

खालसा कालिज रोड अमृतसर पर पुतलीघर के समीप हमारी कोठी थी। इस के बराबर एक खुला अहाता था। वहीं सरदार लहनासिंह चारा काटने की मशीनें बेचते थे। अहाते के कोने में दो-तीन अंधेरी, सीली कोठड़ियाँ थीं। मकान की क़िल्लत के कारण सरदार साहब वहीं रहते थे। यद्यपि काम उन्होंने डेढ़-दो हज़ार रुपये से आरम्भ किया था, पर लड़ाई के दिनों में (किसानों के पास रुपये का बाहुल्य होने से) उन का काम खूब चमका। रुपया आया तो सामान भी आया और सुख-सुविधा की आकांक्षा भी जगी। यद्यपि आरम्भ में उस अहाते और उन कोठड़ियों को पाकर पति-पत्नि बड़े प्रसन्न हुए थे, परन्तु अब उन की पत्नी, जो 'सरदारनी' कहलाने लगी थी, उन कोठड़ियों तथा उन की सील और अँधेरे को अतीव उपेक्षा से देखने लगी थी। ग्राहकों को मशीनों की फुर्ती दिखाने के लिये दिन भर उन में चारा कटता रहता था। अहाते भर में मशीनों की क़तारें लगी थीं जो भावना-रहित हो अपने तीखे छुरों से चारे के पूले काटती रहती थीं। सरदारनी के कानों में उन की कर्कश ध्वनि हथौड़ों की अनवरत

चोटों सी लगने लगी। जहाँ-तहाँ पड़े हुए चरी के पूले और चारे के ढेर अब उस की आँखों को अखरने लगे। सरदार लहनासिंह तो—यद्यपि उनकी पगड़ी और तहमद रेशमी हो गयी थी और उनके गले में लकीरदार गबरून की कमीज़ का स्थान घुटनों तक लम्बी बोस्की की कमीज़ ने ले लिया था—वही पुराने लहनासिंह थे। उन्हें न कोठड़ियों की तंगी अखरती थी न तारीकी, न मशीनों की कर्कशता, न चारे के ढेरों की निरीहता, बल्कि वे तो इस सारे वातावरण में बड़े मस्त रहते थे। वे उन सरदारों में से थे जिनके सम्बन्ध में एक सिख लेखक ने लिखा है कि जिधर से पलट कर देख लो, सिख दिखाई दें'गे। कुछ पतले-दुबले हों, यह बात नहीं। अच्छे खासे हृष्ट-पुष्ट आदमी थे और उन की मर्दुमी के परिणाम-स्वरूप पाँच बच्चे जोंकों की भाँति सरदारनी से चिपटे रहते थे। परन्तु यह सरदारनी का ढंग था। उसे यदि सरदार लहनासिंह से कोई ऐसा काम कराना होता, जिसमें कुछ बुद्धि की आवश्यकता हो, तो वह उन्हें "बुद्धू" कहकर उकसाती और यदि ऐसा काम कराना होता, जिसमें कुछ बहादुरी की ज़रूरत हो तो, उन्हें "नामर्द" का ताना देती। उसका यह ढंग था तो खासा अशिष्ट, पर रुपया आने और अच्छे कपड़े पहनने ही से तो अशिष्ट आदमी शिष्ट नहीं हो जाता। फिर सरदारनी को नये धन का मान चाहे हो, शिष्टता का मान कभी न था।

सरदार लहनासिंह इस्लामाबाद पहुँचे तो वहाँ मार-धाड़ मची हुई थी। उनकी चारा काटने की मशीनें जिस प्रकार भावना-

रहित होकर चरी के निरीह पूले काटती थीं, कुछ उसी प्रकार उन दिनों एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म के अनुयाइयों को काटते थे। सरदार लहनासिंह ने अपनी चमचमाती हुई कृपाण निकाली कि यदि किसी मुसलमान से मुठभेड़ हो जाय तो तत्काल उसे अपनी मर्दुमी का प्रमाण दे दें। परन्तु इस ओर जीवित मुसलमान का निशान तक न था। हाँ, गलियों में रक्तपात के चिह्न अवश्य थे और दूर से लूट-मार की आवाजें भी आ रही थी।

तभी, जब वे सतर्कता से बढ़े जा रहे थे, उनको अपने मित्र गुरदयालसिंह एक मकान का ताला तोड़ते दिखाई दिये। सरदार लहनासिंह ने रुक कर प्रश्नसूचक दृष्टि से उनकी ओर देखा।

"मैं तो इस मकान पर कब्ज़ा कर रहा हूँ" सरदार गुरदयाल-सिंह ने एक उचटती हुई दृष्टि अपने मित्र पर डाली और निरन्तर अपने काम में लगे रहे।

तब सरदार लहनासिंह ने ढीली होती हुई पगड़ी का सिरा निकाल कर पेंच कसा और अपने मित्र के 'नये' मकान की ओर देखा। उसे देखकर उन्हें अपने लिये मकान देखने की याद आई और वे तत्काल बढ़े। दो एक मकान छोड़कर उन्हें सरदार गुरदयालसिंह की अपेक्षा कहीं बड़ा और सुन्दर मकान दिखाई दिया, जिस पर ताला लगा था। आव देखा न ताव, उन्होंने गली से एक बड़ी-सी ईंट उठाई और दो चार चोटों ही में ताला तोड़ डाला।

यह मकान यद्यपि बहुत बड़ा न था, परन्तु उनकी उन कोठरियों की तुलना में तो स्वर्ग से कम न था। कदाचित् किसी शौकीन क्लर्क का मकान था, क्योंकि एक छोटा-सा रेडियो भी वहाँ था और ग्रामोफोन भी। गहने कपड़े न थे और ट्रंक खुले पड़े थे।

मकानवाला शायद मार-धाड़ से पहले शरणार्थी-कैम्प या पाकिस्तान भाग गया था। जो चीज़ वह आसानी से साथ ले जा सका था, ले गया था। फिर भी ज़रूरत का काफ़ी सामान घर में पड़ा था। यह सब देखकर सरदार लहनासिंह ने उल्टी कलाई मुँह पर रखी और ज़ोर से बकरा बुलाया। फिर तहमद की कोर को दोनों ओर से कमर में खोंसा और सामान का निरीक्षण करने लगे।

जितनी काम की चीजें थीं, वे सब चुनकर उन्होंने एक ओर रखीं; अनावश्यक उठाकर बाहर फेंकीं; वही बड़ा ताला, जो वे घर से लाये थे, मकान में लगाया; सरदार गुरदयालसिंह को बुला कर समझाया कि उनके मकान का ख्याल रखें और स्वयं अपना सामान लाने चले कि मकान पूर्ण रूप से उनका हो जाय।

जब वे अपने घर पहुँचे, तब उन्हें ख्याल आया कि सामान ले जायँगे कैसे? इस भगदड़ में ताँगा-इक्का कहाँ? तब अहाते से साइकिल लेकर वे अपने पुराने मित्र रामधन ग्वाले के यहाँ पहुँचे, जिसकी बैलगाड़ी पर (ट्रकों पर लाने-ले जाने से पहले) वे अपनी चारा काटने की मशीनें लादा करते थे। मिन्नत-समाजत कर, दोहरी मजदूरी का लालच देने के बाद, वे उसे ले आये।

जब सारा सामान गाड़ी में लद गया और वे चलने को तैयार हुए, तो सरदारनी ने साथ चलने का अनुरोध किया। तब उन्होंने उस नेक-बख्त को समझाया कि वहाँ के दूसरे सरदार अपनी सिंहनियों को बुला लेंगे, तो वे भी ले जायँगे। "वे लाख सिंहनियाँ सही"—सरदार लहनासिंह ने अपनी पत्नी को समझाया, "पर हैं

नो औरतें ही और इस दंगे-फिसाद में औरतों ही को अधिक सहना पड़ा है। फिर उन्होंने समझाया कि अहाते का भी तो ख्याल रखना चाहिए। शरणार्थी धड़ाधड़ आ रहे हैं, कौन जाने यहाँ घर खुला देख कर जम जायें।

सरदारनी मान गयी, परन्तु जब सरदार लहनासिंह चलने लगे, तो उसने सुझाया कि वे सामान के साथ चारा काटने की एक मशीन ले जाकर अवश्य अपने नये घर में स्थापित कर दें, ताकि उनकी मलकीयत में किसी प्रकार का सन्देह न रहे और सभी को पता चल जाय कि यह मकान चारा काटने की मशीनोंवाले सरदार लहनासिंह का है।

सरदारनी का यह प्रस्ताव सरदार जी को बहुत अच्छा लगा। यद्यपि बैलगाड़ी में और स्थान न था, परन्तु सामान पर सब से ऊपर चारा काटने की एक मशीन किसी न किसी प्रकार रखी गई, गिर न जाय, इसलिए रस्सों से कसकर उसे बाँधा गया और सरदार लहनासिंह अपने नये घर पहुँचे। गली ही में उन्होंने देखा कि सरदार गुरदयालसिंह की सिंहनी और बच्चे तो नये मकान में पहुँच भी गये हैं। तब उन्हें लगा कि उनसे भारी ग़लती हो गई है। उन्हें भी अपनी सिंहनी को तत्काल ले आना चाहिए। यदि पतला-दुबला गुरदयाल अपनी सिंहनी को ला सकता है तो वे क्यों नहीं ला सकते।

यह सोचना था कि सारे सामान को उसी प्रकार ड्योढ़ी में रख, वहीं बड़ा-सा ताला लगा, उन्होंने गुरदयालसिंह से कहा कि भई ज़रा ख्याल रखना, मैं भी अपनी सिंहनी को ले आऊँ, संगत हो जायगी।

और उसी बैलगाड़ी पर सरदार लहनासिंह उल्टे पाँव लौटे।

घर पहुँच कर उन्होंने अपनी सरदारनी को बच्चों के साथ तत्काल तैयार होने के लिए कहा।

परन्तु एक डेढ़ घंटे के बाद जब अपने .बीबी-बच्चों के साथ सरदार लहनासिंह इस्लामाबाद पहुँचे, तो उनके नये मकान का ताला टूटा पड़ा था। ड्योढ़ी से उनका सारा सामान गायब था। केवल चारा काटने की मशीन अपने पहरे पर मुस्तैदी से जमी हुई थी। घबरा कर उन्होंने गुरदयालसिंह को आवाज़ दी, परन्तु उनके मकान में कोई और सरदार विराजमान थे। उनसे पता चला कि सरदार गुरदयालसिंह दूसरी गली के एक और अच्छे मकान में चले गये हैं। तब सरदार लहनासिंह कृपाण निकाल कर अपने मकान की ओर बढ़े कि देखें चोर और क्या-क्या ले गये हैं।

ड्योढ़ी में उनके प्रवेश करते ही दो लम्बे तड़ंगे सिखों ने उनका रास्ता रोक लिया, बैलगाड़ी पर सवार उनके बीबी-बच्चों की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा कि यह मकान शरणार्थियों के लिये नहीं। इस में थानेदार बलवंतसिंह रहते हैं।

थानेदार का नाम सुन कर सरदार लहनासिंह की कृपाण म्यान में चली गई और पगड़ी कुछ और ढीली हो गई।

"हुजूर, इस मकान पर तो मेरा ताला पड़ा था। मेरा सारा समान······"

"चलो, चलो, बाहर निकलो! अदालत में जाकर दावा करो। दूसरे के सामान को अपना बताते हो!"

और उन्होंने सरदार लहनासिंह को ड्योढ़ी से ढकेल दिया। तभी लहना-सिंह की दृष्टि चारा काटने की मशीन पर गई और

उन्होंने कहा—

"देखिए, यह मेरी चारा काटने की मशीन है, किसी से पूछ लीजिए, मुझे यहाँ सभी जानते हैं।"

परन्तु शोर सुनकर अपने 'नये' मकानों से जो सरदार या लाला बाहर निकले, उन में एक भी परिचित आकृति लहनासिंह को न दिखाई दी।

"यों क्यों नहीं कहते की चारा काटने की मशीन चाहिए" उन को धकेलनेवाले एक सिख ने कहा और वह अपने साथी से बोला, "सुट्ट ओ करतारसिंह, मशीन नूं बाहर। ग़रीब शरणार्थी हेन। असां इह मशीनशाली की करनी एं।"

और दोनों ने मशीन बाहर फेंक दी।

दो-ढाई घंटे के असफल वावैले के बाद जब सरदार लहनासिंह, रात आ गई जानकर, वापस अपने अहाते को चले, तो उनके बीबी-बच्चे पैदल जा रहे थे और बैलगाड़ी पर केवल चारा काटने की मशीन लदी हुई थी।

रोब-दाब

मेरे ही एक बहुमूल्य परामर्श के कारण, शादी करने के बाद भी पंडित तेजभान विधुर का-सा जीवन बिताने को विवश होंगे, यह मैंने स्वप्न में भी न सोचा था। बात यों हुई कि एक दिन तेजभान ने बड़े ही विनीत स्वर में मेरे पास आकर कहा कि लालाजी, परसों तो अब बरात रवाना हो ही जायगी। यदि अब भी आपने मुझे कोई शुभ परामर्श न दिया तो हो सकता है कि बहुत लोगों की भाँति मेरा वैवाहिक जीवन भी असफल ही रहे।

तेजभान आदमी बुरा हो, यह बात नहीं। आदमी भला है। लोग उसके कारण कुछ हँस-हँसा लेते हैं और उनकी हँसी पर वह गुस्सा भी नहीं होता। वह अपने आपको बुद्धिमान् भी समझता है और इस बात का निश्चय उसे दूसरों ने भी दिलाया है कि उसके मस्तिष्क में आते समय अक्ल ने कृपणता से काम नहीं लिया; पर

इसे मेरा दुर्भाग्य ही कहिए कि मुझे अपना एकान्त अधिक पसन्द है और तेजभान तथा उसके मित्रों की हा-हू मुझे जरा भी अच्छी नहीं लगती। एक यह भी कारण है कि अपने विभाग का इञ्चार्ज होने से मैं अपने क्लर्कों से इतना भी नहीं खुल जाना चाहता कि कल वे मेरी बात की ही अवहेलना करने को तैयार हो जायँ। पर जितना भी मैं इन लोगों से दूर भागता हूँ, उतना ही वे लोग मुझसे चिपकते हैं। उस समय भी गोकुलचन्द और दूसरे लोग मुझे घेरे बैठे थे।

"साईं बुल्देशाह* कह गये हैं, लालाजी"—गोकुलचन्द ने इस तरह कहा, जैसे बुल्देशाह उन्हीं के पूर्वज थे—"वैवाहिक जीवन तो फिसलते आँगन की तरह है। बड़ों के परामर्श का सहारा लेकर न चलो तो फिसल जाना अनिवार्य है। और एक बार फिसले तो फिसले।"

झंडालाल समर्थन करते हुए बोले—"भाई, यह तो नई दुनिया है। नई दुनिया में—मेरा मतलब यह है कि नये देश में बिना किसी गाइड के जायँ तो कष्ट उठायेंगे, वही हाल वैवाहिक जीवन का भी है। उपदेशक-रूपी पथप्रदर्शक की आवश्यकता इसमें तो और भी अधिक है।"

"वे वक्त लद गये"—अनन्तराम ने रदा जमाते हुये कहा—"जब पति कैसा भी अंधा, काना, लूला, लँगड़ा क्यों न हो, पत्नी उसकी मुहब्बत का दम भरती थी। अब तो भाई पुरुष को भी पूर्ण रूप से सशक्त रहना चाहिए।"

मैंने कहा—"अब तो कोई बात लुकी-छिपी रही नहीं, वैवाहिक जीवन पर और वैवाहिक जीवन की दूसरी समस्याओं पर बीसियों

---

*पंजाब के एक सूफ़ी फ़क़ीर।

पुस्तकें मिल जाती हैं। मेरी स्टोप्स....।"

बात काटकर गोकुलचन्द ने कहा—"यों तो रोज बीसियों कोक-शास्त्र की तरह के ग्रन्थ निकलते हैं और वैवाहिक जीवन को सुखी बनाने के बदले दुःखी बना देते हैं, पर उन सबकी अपेक्षा अनुभवी के मुँह से निकला हुआ एक वाक्य ही काफी है। इन्हें कोई ऐसा गुण बताइए कि पत्नी बस इनका ही नाम जपे।" और फिर पंडित तेजभान की ओर देखकर बोले—"क्यों भाई तेजभान, मैंने तुम्हारे दिल की बात कह दी है या नहीं?"

तेजभान, जैसे कृतज्ञता के बोझतले दबकर उनकी और मेरी ओर देखकर रह गये।

तब विवश होकर मैंने कहा—"देखो भाई तेजभान, तब भी, जब देश में इतनी आजादी न थी और स्त्रियाँ पति को ही सर्वस्व समझती थीं, और अब भी, जब उनकी आज़ाद खयाली ने पुराने बंधन काट दिये हैं, एक सिद्धान्त समानरूप से काम कर रहा है। हमारे बुजुर्ग एक ही मिसाल दिया करते थे—"गुर्बा कुश्तन रोजे अव्वल" मतलब यह कि बिल्ली पहले रोज ही मारी जाती है। यदि पहले-पहल पति का रोब पत्नी पर जम गया तो सारी उम्र वह उसकी गुलाम बनी रही। और यदि पत्नी ने अपना रोब पति पर ग़ालिब कर लिया तो पति महाशय आयुपर्यन्त उसका पानी भरते रहे।"

तेजभान दत्तचित्त होकर सुन रहे थे। "फ़ारसी ज़बान, में जिसकी यह मिसाल है, इसके साथ एक दृष्टान्त भी दिया गया है।" मैंने कहा "आप सब जानते तो होंगे पर फिर भी संक्षिप्त रूप में उसका जिक्र कर देता हूँ।"

तेजभान की कृतज्ञताभरी आँखों ने प्रार्थना की कि वह महत्त्व-पूर्ण दृष्टान्त मैं अवश्य बताऊँ। मैंने कहा—"हमारे दादा सुनाते थे

कि बुखारा में दो अविवाहित मनुष्य रहा करते थे। एक जरा चालाक था, दूसरा कुछ सीधा-सादा। चालाक का नाम था बूअब्बकर और सीधे-सादे का नाम था अब्बूबेग। दोनों अपने कुँआरपने से इतने तंग आगये कि उन्होंने निश्चय कर लिया कि चाहे जो हो, कहीं से पत्नी अवश्य लायेंगे। यह सोचकर वे पत्नी की खोज में चल पड़े। बहुत खोज के बाद उन्हें दो स्त्रियाँ मिल गईं जो शादी कराने को तो तैयार थीं, पर शर्त यह थी कि वे रोज सुबह उठकर अपने पति के सिर पर पचास जूते लगायेंगी। इस बेढब शर्त को सुनते ही अब्बूबेग का तो पित्ता पानी हो गया। पर अब्बूबकर ने कहा कि भाई जरा ख्याल करो, यदि यह अवसर छोड़ दिया तो सारी उम्र कुँआरे ही बिता देनी पड़ेगी। जरा उस असीम सूनेपन की कल्पना करो जो दिन-प्रतिदिन तुम्हारे गिर्द और भी गहरा होता जायगा। तुम बूढ़े हो जाओगे, तुम्हारे अंग शिथिल हो जायेंगे। अपना कहने के लिए तुम्हारे पास कोई न होगा। तुम बीमार पड़ जाओगे, हिलना-डुलना तुम्हारे लिए दुष्कर हो जायगा। पर तुम्हारे मुँह में पानी डालनेवाला तक कोई न होगा। शादी तो अब भाई कर ही लेनी चाहिए। बाद में राम-राम कर लेंगे, न निभेगा छोड़ देंगे।

अब्बूबकर ने वृद्धावस्था का चित्र कुछ ऐसे ढंग से खींचा कि अब्बूबेग ने भी फैसला दे दिया कि चाहे चँदिया रहे या जाय, पर विवाह तो अब कर ही लेना चाहिए। तब दोनों ने निकाह किया और बीबियों को लेकर अपने घर आये।

अब्बूबकर ने आते ही डाँट कर गुलाम से कहा कि खाना जल्दी बनाओ, मैं बाजार से जरूरी सामान ले आता हूँ। यह कह कर वह चला गया। गुलाम ने शीघ्र खाना तैयार किया और जब वह आया तो दोनों के लिए खाना परोस दिया। अभी पहला कौर भी

अब्बूबकर ने न तोड़ा था कि किस्मत की मारी एक बिल्ली पास से निकल गई। क्रोध से अब्बूबकर की आँखें लाल हो गईं। पास पड़ा हुआ बेलना उठाकर उसने इस जोर से बिल्ली को दे मारा कि बेचारी वहीं चित हो गई।—"हरामजादी असगुन कर गई" यह कहकर अब्बूबकर ने पाँव से थाली को ठेल दिया और कड़ककर गुलाम से कहा कि खाना और बना। बस साहब, दूसरे दिन ही बीबी साहबा जूतोंवाली बात ऐसी भूलीं की फिर वह उन्हें याद ही न आई। उधर बेचारे अब्बूबेग की चाँद पिटते-पिटते गंजी हो गई।

एक दिन दोनों मित्र मिले तो बेग ने बकर से वह गुण पूछा जिससे उसने अपनी पत्नी को बस में किया था। जब बकर ने अपनी तरकीब बताई तो सुनकर अब्बूबेग ऐसा खुश हुआ, जैसे उसे कोई निधि मिल गई हो। ओह! यह तो इतना आसान है कि बस! बिल्ली उसकी पत्नी ने एक पाल ही रखी थी, और वह खाना खाते समय उसके पास भी आ जाती थी। बेलना रास्ते में उसने खरीद लिया और घर जाते ही उसने डाँटकर नौकर से कहा कि खाना पका। नौकर उस वक्त श्रीमती जी का कोई काम कर रहा था, चुप रहा। उन्होंने फिर डाँटा, तब चीखकर श्रीमतीजी ने कहा—"क्या शोर मचा रहे हो? पका देगा खाना, जरा दाँतों तले जबान दो!"

तब अब्बूबेग ने बेलने को अपनी मुट्ठी में भींच लिया और दाँत भी कटकटाये, पर न बिल्ली सामने थी, न पत्नी, जाकर चुपचाप अन्दर बैठ गया, और सोचा कि कोई बात नहीं—खाना खाते समय सही। दो घटे के बाद नौकर ने सूचित किया कि खाना तैयार है, तो बेलन लिये हुए अब्बूबेग खाना खाने जा बैठा। बिल्ली भी तब तक म्याऊँ-म्याऊँ करती आ गई। अब्बूबेग ने बेलना उठाया और जोर से खींच मारा। पर फेंकते समय उसकी निगाह श्रीमतीजी से

चार हो गई। बेलने का निशाना चूक गया। बिल्ली तो भाग गई पर बेलन श्रीमतीजी ने उठा लिया और उस दिन जूतों का काम बेलन से ही लिया गया।

उधर अब्बूबकर अभी खाना खाकर बैठे थे और उनकी पत्नी उनके पाँव दबा रही थी कि हाँफते-काँपते और कराहते अबूबेग भी जा पहुँचे। उन्होंने अपनी दुर्दशा की दास्तान सुनायी और कहा कि उनके रोग में यह नुस्खा ठीक नहीं बैठा। अब्बूबकर यह सुनकर हँसा और बोला कि भाई—'गुर्बा कुश्तन रोजे अव्वल' अर्थात् बिल्ली तो पहले रोज ही मारी जाती है।

तेजभान ने यह कहानी बड़े गौर से सुनी और कृतज्ञता से सिर झुकाकर कहा—"आपने जो बहुमूल्य उपदेश मुझे दिया है, उसे मैंने गिरह से बाँध लिया। मैं इसके लिए आपका अत्यन्त आभारी हूँ। परमात्मा ने चाहा तो मेरा "वैवाहिक जीवन लोगों के लिए आदर्श होगा।"

मैंने कहा—"वैवाहिक जीवन को सुखी बनाने के लिए और भी कई नुस्खे हैं। पर सबसे जरूरी तो यह है कि पत्नी पति के कहने में रहे। तब इतना कर लो तो फिर आना। मैं तुम्हें कुछ और जरूरी बातें बताऊँगा।"

तेजभान सिर झुकाकर नमस्कार करके चला गया। इसके बाद मुझे शिमला जाना था। अक्तूबर में वापस आया तो तेजभान भी मिला। मैंने पूछा—"सुनाओ भई शादी हो गयी? पत्नी तो अच्छी मिली है न? कुछ अपना रोब-दाब डाला तुमने?"

"रोब!"—गर्व फिर से उठकर तेजभान ने कहा—"ऐसा रोब डाला कि वह तो क्या उसके घरवाले तक मान गये और अच्छी तो वह ऐसी है कि मेरे सामने उसकी जिह्वा तक मूक हो जाती है।"

गोकुलचन्द भी पास ही बैठे थे। बोले—"वाह भाई तेजभान, तुम्हारा ही हौसला है। हम तो भाई ऐसे मौकों पर सकुचाकर ही रह जाते।"

उत्साह पाकर पंडित तेजभान अपनी बहादुरी का क़िस्सा आगे सुनाने लगे—

"मेरी शादी तो, लाला जी आपको मालूम ही है, कोट-बादल खाँ में हुई, जो हमारे क़स्बे नकोदर से दस-बारह मील दूर है। पर लड़की जालन्धर के कन्या-महाविद्यालय की पढ़ी हुई है। आपकी नसीहत के अनुसार मैंने मन में निश्चय कर लिया था कि बिल्ली बस पहले ही रोज मारी जाय!"

गोकुलचन्द ने संशोधन किया—"नहीं, बल्कि इस पट्ठे ने फ़ैसला किया कि बिल्ली पहले रोज़ से भी पहले यानी दुलहन के घर ही मारी जाय। वहीं से ऐसा रोब पड़े कि अपने घर पर आकर हत्या सिर लेने की आवश्यकता ही न पड़े।"

इस प्रशंसा से फूलकर तेजभान ने फिर कहना शुरू किया—"बस लालाजी, मैंने दिल ही दिल में सारी स्कीम बना ली। वास्तव में ये लड़कियाँ, जो आठ-दस जमातें पढ़ जाती हैं, अपने सामने किसी को गिनती ही नहीं। मैंने भी फ़ैसला कर लिया था कि उसे मालूम हो जाय कि वह किसी भिखमंगे ब्राह्मण के घर नहीं जा रही है, बल्कि सिविल सेक्रेटेरिएट लाहौर के एक प्रतिष्ठित क्लर्क के घर जा रही है।"

"आम तौर पर लाला जी आप जानते हैं"—तेजभान ने खाँस-कर कहा—"हमारे यहाँ दूल्हा को ऐसी पोशाक पहना देते हैं कि वह निरा कारटून बन जाता है। लट्ठे की श्वेत कमीज़, तंग ऊँचा पायजामा और इस पर लट्ठे का ही सफ़ेद ढीला-ढाला कोट, सिर

पर ढिलढिल पगड़ी ! अब मैंने पगड़ी—आप जानते हैं—कभी पहनी ही नहीं । कम से कम उस वक्त मैंने यही सोचा कि पगड़ी से रोब क्या खाक जमेगा ! यह ढीले-ढाले कपड़े मैं तो न पहनूंगा ! इसी लिए मैंने एक नफ़ीस 'मक्खन-जीन' का सूट तैयार कराया, श्वेत कपड़े की टाई ली और हार्ड कालर डाटा । जब सेहरे के वक्त उन्होंने मुझे पगड़ी बाँधने को कहा तो मैंने इनकार कर दिया और कह दिया कि मैं तो श्वेत हैट पहनूंगा ।

"पुरोहित भौंचक्का होकर मेरे मुँह की ओर देखने लगा । उसने कहा—"यजमान, ऐसा कभी हुआ है ?" मैंने तुनककर कहा—"नहीं हुआ तो अब होगा ।" वह बोला—"लोग क्या कहेंगे ? आज तक कभी हैट पर सेहरा बँधा है ?" मैंने कहा—"नहीं बँधा तो अब तो बँधेगा । तुमसे कोई पूछे तो कह देना कि बाबू साहब ने कभी पगड़ी बाँधी ही नहीं ।"

"ख़ैर लालाजी, पुरोहित ने बहुतेरा समझाया पर मैं न माना । हैट पर चाँदी का सेहरा कसा गया—कसा गया इसलिए कि जब उसे बाँधा तो हैट आगे को झुक गया, इसलिए उसे पिछली तरफ़ कस दिया गया । हैट पर सेहरा बाँधे और मक्खन-जीन का श्वेत सूट डाटे जब मैं घोड़े पर पर चढ़ा तो लोग बस मुँह बाये मेरी ओर ताकते रह गये ।

"—और लड़कियाँ आँखें फाड़े देखती रह गयीं"—गोकुलचन्द ने कहा—"बाद में जब ये एक दिन ससुराल गये तो उन्होंने कहा—"क्यों जीजा जी, अब उस तरह सूट पहन कर न आओगे ? ग़ज़ब का सजता है तुम्हें वह सूट ।"

ख़ुशी से फूलकर पंडित तेजभान ने कहा—"लोग हमारे पुरोहित से हैरान हो-हो पूछते, पर जब पुरोहित एक ही जवाब देते

कि बाबू साहब के बुजुर्गों तक ने पगड़ी नहीं बाँधी, हैट ही लगाते आये हैं, तो गाँववाले झुक-झुक कर सलाम करते।"

"शुरू में ही यों रोब गाँठ कर"—पंडित तेजभान फिर ग्वाँस कर बोले—"हम विवाह-मंडप में गये। वहाँ हवनकुण्ड के आगे दो सरकंडों के खारे वर-वधू के लिये रखे थे। मुझे एक खारे पर बैठने को कहा गया। मैं इस जोर से बैठा कि खारा ही टूट गया! सब ओर मेरा रोब छा गया। कुछ लड़कियाँ अवश्य हँसीं, पर जब मैंने ऊपर निगाह की तो जैसे सबको साँप सूँघ गया। ख़ैर, दूसरा खारा लाया गया और विवाह-संस्कार आरम्भ हुआ। ससुरालवालों पर तो इतने ही से रोब जम गया, पर मेरी हार्दिक इच्छा यह रही कि किसी प्रकार वधू को भी पता लग जाय कि उसका पति कोई मरियल डरपोक ब्राह्मण नहीं। उसके शरीर में भी जान है। जब मन्त्र पढ़ते-पढ़ते पुरोहित ने लड़की के पिता से कहा कि वह उसका हाथ वर के हाथ में दे तो उसके पिता ने ज्यों ही उसका हाथ मेरे हाथ में दिया, मैंने इस जोर से दबाया कि घूँघट के अन्दर से एक हलकी-सी चीख निकल गयी, तब मेरे ससुर ने मेरी तरफ़ क्रोध भरी निगाहों से देखा पर मैं बेपरवाही से अकड़ा बैठा रहा। हाँ, दुल्हन सिमट कर बैठ गयी और उसकी सहेलियाँ भी, जो मेरे हैट पहनने पर हँस रही थीं, ऐसी ठंडी हो गईं मानों उन्हें पाला मार गया हो।

"बरात वहाँ दो दिन रही। लेकिन मेरा आतंक ऐसा छाया कि आम तौर पर गाली-गलौज, जो विवाह में हुआ करता है, बिलकुल नहीं हुआ। विवाह के गीत भी जो गाये गये वे विशुद्ध आर्यसमाजी थे। किसी ने एक बार भी मज़ाक नहीं किया। जब लड़की को बिदा करने लगे तो सास ने हाथ जोड़ कर कहा—

'बेटा, लड़की बड़ी भोली है, कसूर भी यदि उससे बन जाय तो उसे माफ़ कर देना। और उस पर दया की दृष्टि रखना।"

"इसके बाद, लाला जी, आते समय मैं तो घोड़े पर आया, पर मेरी पत्नी पालकी में बैठी हुई थी। गर्मियों के दिन, लम्बी मंज़िल और तेज़ धूप। घोड़े की पीठ पर कभी बैठा न था। दो ही मील चलने पर थक गया, पर अकड़ कर बैठा ही रहा। मैंने कमर नहीं झुकाई। जब कभी मेरी पत्नी पालकी के पर्दे, को ज़रा हटाकर मेरी ओर देखती तो मैं और भी तन कर बैठ जाता। तभी एक कहार के पाँव को मोच आ गयी। वह ग़रीब वहीं सड़क के किनारे बैठ गया। तब यह फैसला किया गया कि महरी और दूसरे लोग तो पैदल आवें या बारी-बारी बहलियों पर बैठ लिया करें और बहू को मेरे पीछे बैठा दिया जाय। मैं भी ख़ुश हुआ कि चलो अच्छा अवसर मिला।

"जब वह पीछे बैठ गयी तो मैंने भी घोड़े को एँड़ लगायी और ऐसा सरपट दौड़ाया कि उसके होश उड़ गये। साथ ही जब मैं घोड़े के हण्टर लगाता तो कुहनी से दुल्हन को भी ठेका दे देता। बस, लाला जी पन्द्रह मिनट भी न चला था कि उसने सूखे गले से कहा—"मुझे उतार दीजिए, मेरा दम घुट रहा है।" मैंने उसे उतार दिया। मैं भी पसीना-पसीना हो रहा था, पर मैं उतरा नहीं। घोड़े को कभी इधर कभी उधर सरपट दौड़ाता रहा। इतने में महरी और दूसरे लोग भी आ गये। तब मैंने महरी से कहा कि वह उसे घोड़े पर चढ़ने के लिए कहे। क्योंकि इस तरह ठहरते चलने से तो देर हो जायगी। पर उसने इनकार कर दिया। महरी ने विनीत स्वर से कहा—"बाबू जी इसका दिल घबरा रहा है। आप चलिए, यह धीरे धीरे पैदल ही आयेगी।"

"बस, लालाजी"—तेजभान ने गर्व से तन कर कहा—"वह उस बार जो उतरी तो फिर घोड़े पर नहीं चढ़ी। चार मील पैदल चलना उसने स्वीकार कर लिया।"

"घर पहुँचे तो माँ ने दहलीज पर तेल चुआया। पानी का गडुवा लेकर महरी खड़ी हुई। और हमें अन्दर ले जाया गया। उसके बैठने के लिए आँगन में माँ ने पीढ़ा डाल दिया। मैंने कहा—"पीढ़ा सीढ़ियों के पास रक्खो!" माँ ने हैरानी से कहा—"वहाँ, क्यों बेटा?" गर्ज कर मैंने कहा—'मैं जो कहता हूँ, वहाँ रक्खो।"

"सहम कर माँ ने पीढ़ा सीढ़ियों के पास रख दिया और सिमटी सिमटायी-सी दुल्हन उस पर बैठ गयी। कंगना आदि खेल कर तत्काल मैं ऊपर गया। वे सब कपड़े उतार डाले। तौलिये से बदन पोंछा। एक नयी खुले गले की कमीज पहनी। बिरजस कसी और उस पर खाकी शिकारी कोट डाँटा, नये बूट पहने, बाल सँवारे और वह छोटा-सा डंडा जो मैंने लाहौर-नुमाइश में खरीदा था, हाथ में लिया। फिर धमधमाता हुआ इस जोर से सीढ़ियाँ उतरा कि मकान तक काँप गया। इससे उस पर कितना रोब पड़ा होगा, इसका अनुमान आप लगा सकते हैं।"

लाला गोकुलचन्द ने इस तरह सिर हिलाया, जैसे वास्तव में उन्होंने इसका अनुमान लगा लिया हो। पंडित जी फिर बोले—"नीचे आकर मैंने माँ से कहा—'मैं जरा घोड़े की सवारी को जा रहा हूँ।"

माँ ने कहा—"बेटा अभी तो तू........"

मैंने कहा—"बस, बस, मैं एक चक्कर काट कर आ जाऊँगा। सैर करने की मेरी आदत जो है"। और यह कह कर मैं धमधम

करता बाहर निकल आया।"

"बस, इस तरह लाला जी, घर आते न आते मैंने उस पर अपना रोब डाल दिया।" यह कह कर तेजभान चुप होने ही लगे थे कि गोकुलचन्द ने कहा—"अरे यार वह बात तो सुनाओ—वही बुआ के घरवाली।"

तब फिर उत्साह पाकर पण्डित तेजभान कहने लगे—"लाला जी, वह मुझ से ऐसी डर गयी कि जाते ही बीमार पड़ गयी। कुछ देर बाद मुझे खबर मिली कि वह अपनी बुआ के यहाँ नूरमहल आयी हुई है। बुआ से हमारा अच्छा परिचय था। वास्तव में यह रिश्ता उसके द्वारा ही हुआ था। पता लगते ही मैं भी वहाँ जा पहुँचा। मुझे बुआ ने एक अलग कमरे में ठहराया। बुआ के लड़के-लड़कियाँ, दूसरे रिश्ते-नातेदार तो सब मुझसे मिलने आये, पर वह नमस्कार तक करने न आयी। सारा दिन बीत गया, रात भी धीरे-धीरे अपना आँचल फैलाये खेतों, मैदानों और मकानों को अपनी छाया से छिपाने लगी; दिये जले; बच्चे खेलते-खेलते थक कर सो गये, पर वह न आयी। आना तो क्या, मेरे कमरे में उसकी परछाईं तक न दिखायी दी। वैसे बाहर वह फिरती रही। मेरे दिल में क्रोध का बवंडर उठ खड़ा हुआ। बुआ से मैंने पूछा—"विमला की तबीयत कुछ खराब है?"

बुआ ने मुस्कराकर कहा—"नहीं, खराब तो कुछ नहीं। मैं तो कह कर हार गयी हूँ। वह तुम से डरती है। पर आ जायगी, अभी काम कर रही है। देखो, तुम्हारा स्वभाव तो गर्म है, पर उसे कुछ सख्त-सुस्त न कहना।"

"बुआ चली गयीं। गर्व से मेरा सीना दुगना हो उठा। तो यह मेरा ही डर है, जिसके कारण वह नहीं आयी। खैर,

लाला जी, चुपचाप मैं लेट कर उसकी प्रतीक्षा करने लगा। आठ के बाद नौ, नौ के बाद दस, दस के बाद ग्यारह, और फिर बारह, यहाँ तक कि एक बजने को आया, पर उसकी छाया भी दिखायी न दी। मेरा क्रोध जो बुआ की बात के बाद ठंडा हो चला था, फिर भभक उठने को हो गया। माना उसे शर्म आती है, माना वह मेरे पास बहुत देर तक नहीं बैठ सकती, पर कुशल-क्षेम तो आकर उसे पूछना चाहिए था। तभी लजाती-सकुचाती वह दाखिल हुई। तड़प कर मैंने कहा—"तेरे बाप के नौकर हैं क्या, जो यहाँ बैठे तेरा इन्तजार करें? क्यों नहीं आयी पहले?"

वह बेचारी सहमी खड़ी रही।

मैंने फिर डाँटा—"चली जा यहाँ से।"

वह चुपचाप निकल गयी।

"सारी रात मुझे नींद न आयी। करवटें बदलता रहा, पर सन्तोष मुझे इतना था कि वह मेरे सामने बोल न सकी। इस का भी मुझे यक़ीन हो गया कि दूसरे दिन वह जल्दी आ जायगी।

"नींद न आने के कारण दूसरे दिन मैं प्रायः सोता ही रहा। शाम को नूरमहल की प्रसिद्ध सराय की ओर निकल गया। पर पहले दिन की अपेक्षा जरा जल्दी लौट आया। ख्याल मुझे यह था कि वह मेरी प्रतीक्षा कर रही होगी। पर जब खाना भी बुआ लायी और खाना खाने के बाद फिर पहले की तरह समय बीतने लगा तो मैं दो छोटे बच्चों के साथ ताश खेलने लगा। उन्हें नींद आने लगी, फिर भी मैं उन्हें खेलाता रहा। यहाँ तक कि उनमें से एक वहीं सो गया। तब बुआ आयी और उन्हें ले गयी। मैं खेल तो उनके साथ रहा था, पर कान मेरे बराबर रसोई की ओर लगे हुए थे। जहाँ वह काम कर रही थी, पर काम जैसे

निमटने में ही न आता था। बुआ, उनके पति, बाल-बच्चे, सब सो गये। पर वह अभी बरतन ही मल रही थी। शायद एक बार धो-साफ़ करके वह फिर उन्हें मलने लगी थी। प्रतीक्षा करते-करते मेरी आँखें पक गयीं। मैं समझ गया कि वह मुझसे बहुत डर गयी है। इसलिए जब वह पहले दिन से भी देर के बाद आयी तो पहले तो मैंने डाँटा कि "चली जा।" पर जब वह सहम कर जाने लगी तो मुझे दया आ गयी। मैंने उसका आँचल पकड़ लिया और कहा—"बैठ जा, चल, हमने तुझे माफ़ किया। आगे को ऐसा न करना।"

गोकुलचन्द बोले—"और लाला जी तब से इस मर्द का ऐसा रोब उस पर ग़ालिब हुआ है कि वह फिर आयी ही नहीं।"

गर्व से सिर उठा-उठा कर पण्डित तेजभान ने कहा—"चाहे देर से आये, पर सारी उमर के लिए आराम तो रहेगा न। क्यों लाला जी?"

"मैं क्या उत्तर देता। चुपचाप पण्डित तेजभान को तकता रह गया।"

और आज जब पण्डित जी के विवाह को चार वर्ष हो गये हैं, उनकी पत्नी अभी तक मैके बैठी है। ऐसा मालूम होता है कि उसकी ओर से पण्डित जी को सारी उम्र का आराम हो गया है। कुछ लोगों से सुना कि उसने अपने माँ-बाप से कहा है कि लड़के के दिमाग़ में कुछ खलल है। लेकिन पण्डित जी को इस बात का पूर्ण विश्वास है कि उसके न आने का कारण केवल उनका रोब-दाब है।

गली का नाम

लाला भगवानदास-सा शान्त, सौम्य और उदासीन व्यक्ति सारे बसन्तनगर में न था। अपनी क्लर्की के बारह वर्ष लोहारी दरवाजा लाहौर की एक निबिड़ और अँधेरी गली के एक और भी निबिड़ और अँधेरे मकान में बिताकर, उन्होंने इतना धन संचय कर लिया था कि लाहौर के बाहर दूर-दूर तक मैदानों और वीरानों में बसनेवाली नौ-आबादियों में, सस्ती-सी जगह लेकर मकान बनवा सकें।

अपनी गली में सब से पहला मकान उन्हीं का था। गर्मियों में बे-पनाह लू चलती और बरसात में इतना पानी इकट्ठा हो जाता कि उनका मकान एक छोटा-मोटा द्वीप नजर आने लगता।

धीरे धीरे लाला जी के मकान की इकाई मिटने लगी और जहाँ केवल उन्हीं का मकान उस विजन-सागर के प्रकाश-स्तम्भ-सा

अकेला खड़ा था, वहाँ अब दूसरे मकान भी बन गये और एक गली की-सी सूरत निकल आयी। फिर मालिक मकान आये, किरायेदार आये, बीवियाँ, बच्चे और बच्चियाँ आयीं और जहाँ पहले दोपहर और रात की निस्तब्धता हवा की साँय-साँय और झींगुरों के शोर से और भी घनीभूत हो जाया करती थी, वहाँ अब ग्रामोफोन के रेकार्डों, रेडियो के गानों और हारमोनियम की पीं-पीं से मुखर हो चली! हफ्ते में एक-आध लड़ाई, एक-आध संकीर्तन और एक-आध सभा भी होने लगी। एक आर्य-समाज-मन्दिर, एक गुरुद्वारा, खेल-कूद का एक मैदान और एक अखाड़ा भी बन गया।

लेकिन यह सब सामाजिक अथवा पारिवारिक सजीवता लाला जी की उदासीन निस्पृहता को भंग न कर सकी। पहले यदि वे कभी सुबह,शाम खेल के मैदान में घूम लेते थे, तो अब उससे भी गये। घर से दफ्तर और दफ्तर से घर—बस, यहीं तक उनकी सरगर्मियाँ सीमित थीं। पड़ोसियों से तो दूर, पति-पत्नी में भी कभी हँसी-मजाक की एक बात न हुई। कभी मुस्कराये भी तो इस तरह कि बेचारी के ओंठ और भी भिंच गये। साहित्य और राजनीति से उनकी दिलचस्पी साथी क्लर्कों को समाचार पढ़ते देख लेने से आगे नहीं बढ़ी। शाम को दफ्तर से घर जाने के बाद अन्दर चार-पाई पर जाकर लेट जाते और खिड़की में से किसी आते-जाते को एक नजर देखकर करवट बदल लेने ही को माउंट-एवरेस्ट सर कर लेने के बराबर समझते।

एक दिन लालाजी सुबह जो किसी काम से घर के बाहर निकले

तो उन्हें अपने घर के बिलकुल सामने के मकान पर एक नीला बोर्ड लगा हुआ दिखायी दिया। उत्सुकतावश वे ज़रा और आगे बढ़े। सुन्दर सुन्दर अक्षरों में उस पर लिखा हुआ था—ज्वन्दसिंह स्ट्रीट।

उसे देख कर वे कुछ क्षण वहीं के वहीं खड़े रह गये। यह ज्वन्दसिंह—यह उनके दफ्तर का एक साधारण-सा क्लर्क—सबसे आखिर में एक झोंपड़ा बनाकर गली का मालिक ही बन बैठा! उसे यह साहस हुआ कैसे?—इस सपाट मैदान को गुलज़ार बनाने में सबसे पहला प्रयत्न उन्होंने किया; गली में सबसे पहले उन्होंने मकान बनवाया, फिर यह ज्वन्दसिंह उनका अधिकार छीननेवाला कौन?

वे तेज़ी से घर के भीतर गये। जिस काम से बाहर आये थे, वह उन्हें एकदम भूल गया। उन्होंने पत्नी को तुरन्त बाथरूम में पानी रखने का आदेश दिया। उधर हैंडपम्प की आवाज़ बन्द हुई, इधर वे कमर में साफ़ा बाँधे नहाने जा पहुँचे। उनकी पत्नी ने हैरानी से उनकी ओर देखा—उनका शरीर, जिसने शैथिल्य के बस हो साँस छोड़ दिया था, अब जैसे एक ही बार अपने इस पाप का प्रायश्चित्त कर लेना चाहता था। पत्नी को इस प्रकार आँखें फाड़े अपनी ओर देखते पाकर लाला जी की भृकुटी तन गयी, किन्तु दूसरे क्षण ही उनकी पत्नी स्नानगृह से बाहर निकल गयी।

जल्दी-जल्दी चार-छः लोटे शरीर पर डालकर लाला जी बाहर निकले। कपड़े पहन, दो-चार कौर किसी न किसी तरह कण्ठ के नीचे उतार, साइकिल पर सवार हो, वे बाज़ार गये और एक प्रसिद्ध पेंटर को एक बड़ा-सा बोर्ड लिखने को दे आये। चलते समय उन्होंने उससे यह ताकीद भी कर दी कि शाम तक यह बोर्ड

अवश्य तैयार कर दे।

बाज़ार जाने और पेंटर से मोल-तोल करने में उन्हें देर हो गयी थी, इसलिये वे अंधाधुंध साइकिल चलाते हुए दफ्तर पहुँचे। जब वे अपनी कुर्सी पर जाकर बैठे तो उनकी साँस फूली हुई थी।

उस दिन दफ्तर में उनका मन न लगा। ज्वन्दसिंह की इस धृष्टता पर वे सुलगते रहे। दिन भर (प्रकट अपने सामने फाइलों के ढेर लगाये) वे इसी समस्या के बारे में सोचते रहे। शाम को जब वे अपनी कुर्सी से उठे तो उन्होंने निश्चय कर लिया था कि चाहे जो हो, वे ज्वन्दसिंह को कभी इस प्रकार अपने अधिकारों पर डाका न डालने देंगे।

दफ्तर से सीधे वे पेंटर की दुकान पर पहुँचे। लाला जी को बड़ी निराशा हुई। उनकी शिथिल-सौम्यता न जाने कहाँ उड़ गयी। वे पेंटर पर बे-तरह बरस पड़े। वादा करके पूरा न करने पर उन्होंने उसे बेहद डाँटा। आखिर जब उसने वचन दिया कि वे दो घंटे में लौट कर आयें, बोर्ड उनको तैयार मिलेगा, तब लाला जी ने उसका पिंड छोड़ा।

किन्तु घर आकर भी उन्हें चैन न पड़ा। खाना खाकर वे फिर बाज़ार गये और पेंटर के सिर पर जा सवार हुए। बत्तियाँ जल चुकी थीं जब उन्हें बोर्ड मिला! जब चलने लगे तो उन्हें मालूम हुआ कि साइकिल का लैम्प तो वे घर ही भूल आये हैं। ट्रैफिक पुलिस उन दिनों बड़ी तत्परता से काम कर रही थी। विवश दो मील पैदल चलकर वे बसन्तनगर पहुँचे। एक पैसे के कील उन्होंने मार्ग ही में ले लिये थे। घर पहुँच कर उन्होंने साइकिल डेवढ़ी

में पटकी, अन्दर से सीढ़ी उठाकर बाहर दीवार के साथ लगायी और हथौड़ी लेकर बोर्ड को गली की ऐन नुक्कड़ पर अपने मकान की दीवार से लगा दिया।

दूसरे दिन प्रातः वे नियमित समय से कुछ पहले ही उठे। कोई दूसरा काम करने के पूर्व वे बाहर गये। पहले पास से और फिर ज़रा दूर से उन्होंने बोर्ड को देखा—बड़े-बड़े सुन्दर अक्षरों में लिखा हुआ था—भगवानदास हवेलीवाला स्ट्रीट! देख कर उनका रोम रोम पुलकित हो उठा।

पहले उन्होंने गली का नाम केवल 'भगवानदास स्ट्रीट' रखने का निश्चय किया था, पर तभी उन्हें ध्यान आया कि उनके गाँव 'विलगा' में पुरखों की एक बड़ी भारी हवेली थी, जिससे वे 'हवेलीवाले' कहलाते थे। अब यद्यपि लालाजी के पास न वह हवेली थी और न वह नाम, फिर भी उस बोर्ड पर अपने नाम के साथ हवेलीवाला जोड़ कर, उन्होंने न केवल अपने आपको वरन् अपनी उन मिटी हुई प्रतिष्ठा को भी अमर बना देने का निश्चय कर लिया था।

भगवानदास हवेलीवाला स्ट्रीट— क़द्रे ऊँचे स्वर से गली का नाम दोहराते हुए वे घर के अन्दर गये।

उनकी पत्नी रसोईघर में बैठी आग सुलगा रही थी, धुएँ के कारण उसकी आँखों से पानी बह रहा था। वह कभी पंखा हिलाती थी और कभी खीजकर जोर जोर से फूँक मारने लगती थी। सहसा उसके हाथों में हिलता हुआ पंखा रुक गया और उसकी गीली आँखें आश्चर्य से खुली की खुली रह गयीं—लाला भगवानदास गा रहे थे। उसे अपने कानों पर विश्वास न हुआ। वह रसोईघर की चौखट पर आ खड़ी हुई। लाला जी सचमुच गा रहे थे—वे आँगन

में घूमे जाते थे और गाये जाते थे:—

मेरे मन में, अरे जी मेरे मन में. सुनो जी मेरे मन में,

बसा है चोर चोर चोर !—

वह चकित-सी वहीं चौखट पर खड़ी रह गयी।

उस दिन से लाला भगवानदास के जीवन में एक विचित्र क्रान्ति आ गयी। उनकी शिथिलता एक अपूर्व स्फूर्ति में बदल गयी। वे अपने पड़ोसियों से मिलने लगे। आर्य-समाज के सदस्य बन गये। गुरुद्वारे में जाकर श्री गुरु साहब की बानी सुनने लगे। गली की दशा सुधारने के हेतु उन्होंने एक कमेटी बनायी। सबसे पहले उन्होंने स्वयं चन्दा दिया और फिर दूसरों के चुप हो जाने पर सारा खर्च अपनी गिरह ही से देते रहे। उन्हीं के पैसे से गली में अस्थायी नालियाँ और हौदियां (चहबच्चे) बनायी गयीं और जब इनसे भी कुछ लाभ न हुआ और बरसात में गली की दशा पहले से भी खराब रहने लगी तो उन्होंने "भगवानदास हवेलीवाला स्ट्रीट" बसन्तनगर की दुर्दशा पर समाचारपत्रों में शोर मचाना आरम्भ किया और अन्त में कमेटी को हर्जाने का नोटिस दे दिया।

बात यह थी कि गली में बरसाती पानी के निकास का कोई प्रबन्ध न था। आबादी नयी थी और उसके लिए नालियों की स्कीम अभी कमेटी की फाइलों में पहली मंजिलें ही पार कर रही थी। कमेटी ने एक बड़ा-सा चहबच्चा लालाजी के मकान के समीप खुली जगह में बना रखा था। गली के भंगी अपने अपने यजमानों की हौदियों का पानी कनस्तरों की सहायता से उसमें भर देते। नालियाँ भी उसीमें जा कर पानी गिरा देतीं।

कमेटी की मोटर रोज दोपहर को आती और उस बड़े चहबच्चे का गंदा पानी भर कर ले जाती। लेकिन बरसात के दिनों में उस चहबच्चे का कहीं ढूंढे से भी पता न चलता। सारी की सारी गली एक गंदा चहबच्चा बन जाती। इतना पानी जमा हो जाता कि मोटर हफ्तों लगी रहती तो भी खत्म न कर पाता। इस पानी का अधिकांश लाला जी के मकान के इर्द गिर्द खुली जगह में सड़ा करता। जब पत्रों में लालाजी की फरयाद का कोई प्रभाव न हुआ तो इसी पानी को लेकर उन्होंने कमेटी को हरजाने का नोटिस दिया कि यदि कमेटी ने गली से पानी के निकास का कोई प्रबन्ध न किया तो वे उस पर हरजाने का मामला चला देंगे, क्योंकि उनके मकान की नींवों को पानी पहुँच रहा है और उसकी सड़ांद के कारण उनका सारा कुटुम्ब बीमार रहता है।

लाला जी ने पत्रों में इतना शोर मचाया था, इतनी सभाएँ कीं थीं और इतने प्रस्ताव पास कराये थे कि कमेटी ने उनकी गली तो दूर, सारे बसन्तनगर में पक्की नालियाँ और फर्श बनाने का इरादा कर लिया। इससे पहले कि लालाजी कमेटी पर मामला चलाते, राज-मजदूर आ गये और गली में फर्श और नालियां बनने लगीं।

गलीवाले यह देख बड़े प्रसन्न हुए। लाला जी की खुशी का तो जैसे वारापार न रहा। उनके लिए उन दिनों घर बैठे रहना मुश्किल हो गया। ज्वन्दसिंह के अतिरिक्त वे सब पड़ोसियों के घर जाते। सबको अपनी कारगुजारी की कहानी सुनाते। उन्होंने जो कुछ किया था, उसे खूब बढ़ा-चढ़ा कर बयान करते। प्रातः-सायं गली की फर्श और नालियों का इस तरह निरीक्षण

करते, जैसे यह सब उन्हींके पैसे से बन रहा हो। अब उन्हें पूरा विश्वास हो गया था कि उनका कोई भी पड़ोसी गली के नाम का विरोध न करेगा। बहुतों ने उन्हें विश्वास भी दिलाया था कि वे जब भी पत्र लिखते है, अपना पता 'भगवानदास हवेलीवाला स्ट्रीट' ही देते हैं और इस पते से उन्हें तुरन्त पत्र मिल जाते हैं। वे सब हैरान थे कि जब गली का नाम 'भगवानदास हवेलीवाला स्ट्रीट' प्रसिद्ध हो गया है तो ज्वन्दसिंह कमबख्त क्यों अपने मकान के साथ अभी तक वह जरा-सा बोर्ड लगाये हुए है।

'जाट जो है', लाला जो व्यंग से मुस्कराते और दिल ही दिल में उसकी मूर्खता के लिए उसे क्षमा कर देते।

एक दिन लाला भगवानदास जब दफ़्तर से आये तो उन्होंने दो मजदूरों को गली के सिरे पर तार से एक बड़ा-सा बोर्ड लटकाते देखा। नाम पढ़ा तो उनका दिल धक से रह गया। दूसरे क्षण जरा सम्हल कर उन्होंने पूछा :—

"यह बोर्ड किसके हुक्म से लगा रहे हो ?"

"कमेटी के"—कील ठोंकते हुए एक ने उत्तर दिया।

"कौन सी कमेटी ?"—लाला जी गरजे।

"म्यूनिसिपेल कमेटी।"

लाला जी ठंडे हो गये। कमेटी ने शायद उनसे जल कर पहला ही नाम रहने दिया था। शायद गली का इतना लम्बा नाम कमेटी को पसन्द न आया था या शायद ज्वन्दसिंह केवल जाट ही न था। बल्कि जैसा कि पंजाबी में कहते हैं—यमला जाट था !

लाला जी चुपचाप चल दिये। घर पहुँच कर उन्होंने साइकिल ड्योढ़ी में रख दी और चुपचाप जाकर बिस्तर पर लेट गये।

शाम को सदा की भाँति उनके पड़ोसी गोविन्दराम उन्हें सैर के लिए बुलाने आये तो उन्होंने कहला भेजा कि लाला जी की तबीयत ठीक नहीं।

इसके बाद लाला जी की तबीयत कभी ठीक नहीं हुई। आर्य-समाज-मन्दिर और गुरुद्वारा से भी जो उनका नया प्यार जागा था, वह भी न जाने कहाँ जाकर सो गया और पड़ोसियों से मेल-मिलाप भी जिस तरह अचानक शुरू हुआ था, उसी प्रकार सहसा समाप्त हो गया।

अब लाला जी दफ्तर से आकर फिर चारपाई पर लेटे रहते हैं और गली में आते-जाते को एक नजर देखकर फिर करवट बदल लेने ही को माउंट-ऐवरेस्ट सर करने के बराबर समझते हैं।

मि० घंटपांडे

"आप जरा भी चिन्ता न करें", मिस्टर घटपांडे ने कपड़े बदल कर बिस्तर पर बैठते हुए कहा, "दस-पन्द्रह वर्ष पहले यक्ष्मा को मृत्यु का संदेशवाहक समझा जाता था, परन्तु अब साइंस ने बड़ी उन्नति कर ली है। बुरे से बुरे केस भी ठीक हो जाते हैं।"

खाँसते और खून थूकते हुए अत्यन्त क्षीण-स्वर में मैंने बताया कि मैं तो डूबती हुई नौका हूँ। मेरे सम्बन्धी व्यर्थ ही यक्ष्मा के इस गहन-सागर से मुझे उबारने का प्रयास कर रहे हैं। मेरे भाग्य में तो क्षण-क्षण इसमें डूबते जाना ही लिखा है।

"ग़लत," मिस्टर घटपांडे ने मेरी बात काट कर जोश से कहा, "आप को इस बीमारी के सम्बन्ध में पूरा ज्ञान नहीं। जिस डाक्टर ने मुझे यहाँ भेजा है, वह पूना का सब से बड़ा टी० बी० स्पेशेलिस्ट है। क्या आप को मालूम है कि उसका फेफड़ा लोहे का

है—जी हाँ, लोहे का ! अमरीका से आपरेशन कराके वह आया है। और फिर इस बीमारी में, उपचार इतना आवश्यक नहीं, जितना आत्म-विश्वास ! किसी दूसरे की बात पर कान न दीजिए और अपने में विश्वास रखिए ! मुझे जब इस बीमारी का पता चला, मेरा वज़न केवल ८६ पाऊंड था। एक महीने के आराम ही से मुझे २५ पाऊंड वज़न मिला है—जी हाँ २५ पाऊंड ! सेडी[1] नार्मल हो गया और ज्वर बिलकुल उतर गया। मैं तो यहाँ न आता पर पूना में गर्मी हो गयी थी, मैंने कहा—चलो इस बहाने पंचगनी की सैर ही हो जायगी। महात्मा गांधी वर्धा से यहाँ आते थे, तो हम, स्वास्थ्य की इस गंगा के समीप रहते हुए भी, क्यों न इसमें एक डुबकी लगायें।"

मैं उत्तर देना चाहता था, पर मुझे फिर खाँसी आगयी और बलग़म के साथ रक्त का लोथड़ा गिरा। मिस्टर घटपांडे अपने जोश में कहते गये।

"मैं सच कहता हूँ, जब डाक्टरों ने मेरे बायें फेफड़े में इन्फ़िल-ट्रेशन[2] का सन्देह प्रकट किया, तो मेरे घरवालों के होश उड़ गये। उन्होंने समझ लिया कि बस अब यह खत्म हुआ ! परन्तु एक बड़े आदमी का कथन है कि बीमारी को अपने ऊपर अधिकार न पाने दो, अपने में प्रबल आत्म-विश्वास रखो। मैं सच कहता हूँ, जब मेरे घरवाले हताश हो गये थे, डाक्टरों के परामर्शानुसार

१. सेडी = सेडीमेंट, रक्त में बीमारी का कितना प्रभाव है, इसका पता सेडीमेंट से चलता है। नार्मल सेडी का अर्थ है कि खून में बीमारी का प्रभाव अब नहीं रहा।

२. इन्फ़िलट्रेशन = फेफड़े में दिक के कीड़ों का धीरे-धीरे अधिकार जमाना आरम्भ करना।

मैंने इस बीमारी से जूझने को कमर कस ली। इस रोग पर विजय पाने के लिए साधारणतः चार बातें जरूरी समझी जाती हैं—आराम, पौष्टिक भोजन, स्वच्छ वायु, और बेफ़िक्री! परन्तु गत मास के अपने अनुभव को दृष्टि में रख कर मैं कह सकता हूँ कि एक पाँचवीं चीज़ भी है जिस की आवश्यकता इस रोग में सर्वाधिक है। नव-प्राप्त स्वतन्त्रता की सुरक्षा के प्रश्न पर मार्शल स्टालिन ने एक बार कहा था—"साथियो, मैं देश की सुरक्षा के लिए तीन बातें परमावश्यक समझता हूँ "पहली—सैनिक-शक्ति, दूसरी—सैनिक-शक्ति और तीसरी—सैनिक शक्ति!" यदि टी० बी० के सम्बन्ध में कोई मुझ से पूछे तो मार्शल स्टालिन की भाँति मैं भी कहूँगा—टी० बी० को जीतने के लिए तीन चीज़ों की आवश्यकता है। पहली—इच्छा-शक्ति; दूसरी—इच्छा-शक्ति और तीसरी—इच्छा-शक्ति! इच्छा-शक्ति वह संजीवनी है......"

परन्तु इच्छा-शक्ति की संजीवनी के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करने का अवसर मि० घटपांडे को नहीं मिला, क्योंकि सिस्टर ब्लैक ने उनकी वक्तृता बीच ही में भंग कर दी और यह भी नहीं देखा कि कोई बेचारा उसके एक-एक शब्द को अमृत की भाँति पान कर रहा है।

"मिस्टर," वे अन्दर से नयी ब्यायी हुई शृगाली की भाँति झपटी, "यह रेस्ट-टाइम[1] है रेस्ट लेने को माँगता है। दूसरे को डिस्टर्ब (Disturb)[2] करने को नहीं माँगता।"

---

१. रेस्ट टाइम = आराम का समय—सेनेटोरियम में कुछ समय अनिवार्य रूप से आराम लेना पड़ता है।

२. डिस्टर्ब = दूसरे के आराम में बाधा उपस्थित करना।

मिस्टर घटपांडे सोडे की फेन सरीखे बैठ गये, बल्कि पूर्णत: लेट गये। तब सिस्टर मेरी ओर मुड़ी :

"तुम्हारा केस बहुत ऐक्यूट[1] (Acute) है मिस्टर! तुम को बोलने को नहीं माँगता, उठने को नहीं माँगता, बैठने को नहीं माँगता। सब दिन रेस्ट (Rest) लेने को माँगता है। कोई चीज माँगना होए तो यह बैल (Bell) बजाने को माँगता है।"

यह कहते हुए सिस्टर ने एक छोटी-सी टुनटुनी घंटी—जैसे कि चूरणवालों के पास होती है—मेरी तिपाई पर रख दी और खट-पट करती अन्दर चली गयीं।

मैंने कुछ साहस करके आँख उठा कर देखा—मिस्टर घटपांडे आँखें बन्द किये पड़े थे। पन्द्रह मिनट बाद उनके नासिका-रंध्र धीमे-धीमे खर्राटों के स्वर में उनकी उस प्रबल इच्छा-शक्ति की सूचना देने लगे, जिससे काम लेकर वे सिस्टर की उस डाँट को मन में स्थान दिये बिना गहरी नींद सो गये थे।

हम दोनों आज ही सेनेटोरियम में आये थे। मैं दो घंटे पहले आया था और घटपांडे दो घंटे पीछे। सेनेटोरियम का नियम था कि नये आनेवाले रोगियों को पहले ऐक्यूट-वार्ड[2] (Acute Ward) में रखा जाता था। यदि आठ-दस दिन उन्हें ज्वर न आये अथवा उनका ज्वर उतर जाय तो उन्हें दूसरे वार्डों में भेज देते थे। इसी प्रकार दूसरे वार्ड में यदि किसी रोगी को ज्वर आने लगे तो उसे ऐक्यूट-वार्ड में भेज दिया जाता था। गर्मी का जोर हो

---

१. एक्यूट=पुराना, नाजुक २. एक्यूट-वार्ड—उन रोगियों का वार्ड जिनकी दशा चिन्ताजनक हो अथवा जिनका रोग पुराना हो।

गया था और रोगी धड़ाधड़ आ रहे थे, इसलिए वार्ड भर गया था और हमें बरामदे में स्थान मिला था। बरामदे में से होकर डाक्टर और नर्स-आदि अन्दर आते-जाते थे, परन्तु जगह की तंगी के कारण यहाँ भी दो बेड रख दिये गये थे। दीवार के साथ जहाँ बेड लगे थे, दो झरोखे थे, जिनमें खुलने और बन्द होने वाले शीशे लगे थे। मुझे पहले मिस्टर घटपांडे वाला बेड मिला था। जब मुझे उस पर लिटा दिया गया, भंगीने स्पीटून[1] (Spittoon) और नावदान रख दिया, सिस्टर ने मुझे पूरा आराम करने का आदेश दे दिया और मेरे घर वाले मुझे हर तरह से तसल्ली देकर चले गये तो रतजगे और यात्रा से थकी हुई मेरी आँखें ज्वर और खाँसी के बावजूद, झप चलीं। परन्तु अभी आँख बन्द भी न हुई थी कि वातायन के उस ओर वाले रोगी की खाँसी के अतीव करुण स्वर से मेरी नींद खुल गयी। अन्दर वाला वह रोगी (जैसा कि मुझे बाद में ज्ञात हुआ) वोहरा था। पाँच वर्ष से सेनेटोरियम में पड़ा था और अब उसकी दशा बड़ी शोचनीय थी। उसे खाँसने में बड़ा कष्ट होता था। बलगम कदाचित् उसके कंठ से निकलती ही न थी। बड़े प्रयास से वह उसे निकाल पाता था। सोखे के मारे हुए किसी रिरियाते बच्चे की-सी उसकी खाँसी थी। सहसा मेरी नींद उड़ गयी। यद्यपि मेरी अपनी दशा अत्यन्त शोचनीय थी, पर उस की दशा कदाचित् मुझ से भी खराब थी। बार-बार एक कपकपी-सी मेरे शरीर में दौड़ जाती थी। 'इस करुणाजनक खाँसी की उपस्थिति में कैसे सो सकूँगा'—मैंने सोचा—और स्व-रक्षा की सहज भावना से विवश हो मैंने वार्ड-ब्वाय से कहकर बिस्तर बदलवा लिया। सिस्टर आयी, उसने मुझे इस बिस्तर पर लेटे देखा

१. स्पीटून=पीकदान।

और घूरा तो वार्ड ब्वाय ने कह दिया कि साहब की आँखें खराब हैं, वहाँ रोशनी सीधी आँखों में पड़ती थी। सिस्टर के जाने पर मैंने कृतज्ञता के रूप में चार आने पान तम्बाकू के लिये वार्ड-ब्वाय के हाथ पर रखे और उसे सदा प्रसन्न रखने का वादा किया।

यद्यपि सूरज काफी चढ़ आया था और सब लोग खुले गले कि कमीजें पहने घूम रहे थे, किन्तु अशक्ति के कारण मुझे सर्दी लगने लगी थी और कंठ तक कम्बल ओढ़ कर मैं सो गया था। नहीं जानता कितनी देर तक सोया रहा, परन्तु मेरी नींद सिस्टर के कर्कश स्वर से खुल गयी। देखा, आगे आगे सिस्टर और पीछे-पीछे एक हृष्ट-पुष्ट युवक तथा सिर पर बिस्तर और सूटकेस उठाये एक कुली चला आ रहा है। बरामदे की सीढ़ियों से दस कदम दूर ही से सिस्टर ने वार्ड ब्वाय को आवाज दी, "गन्नू !"—और इधर वह बरामदे में दाखिल हुई, उधर गन्नू अन्दर से भागता हुआ वहाँ पहुँच गया। मिनटों में फिर बिस्तर बिछ गया। मेरी उत्सुक आँखें बाहर की ओर उठ गयीं। ख्याल था कि रोगी धीरे-धीरे मेरी भाँति स्ट्रेचर पर आता होगा। स्ट्रेचर तो न आयी, कुछ क्षण बाद अच्छे से सूट में आवृत एक कृशकाय बुजुर्ग धीरे-धीरे आये। मैंने समझा, यही रोगी है और सिस्टर के साथ आनेवाला युवक उनका लड़का है और उनको छोड़ने आया है। उनके साथ दो और आदमी थे। सिस्टर के पास आकर उन बुजुर्ग ने अँगरेजी में कहा कि वे आर० एम० ओ०[1] से मिल आये हैं और सब ठीक कर आये हैं।

सिस्टर ने उनसे कहा कि अब रेस्ट टाइम है, आप जायँ, थके होंगे, आराम करें। साँझ को साढ़े छः बजे तक आप आ सकते हैं। उन्होंने कहा कि वे दूसरी बस ही से वापस पूना जा रहे हैं। इतवार

आर० एम० ओ० = Residential Medical Officer

को फिर आयेंगे। उस युवक से उन्होंने कहा कि किसी प्रकार की चिन्ता न करे कोई कष्ट हो तो सिस्टर अथवा आर० एम० ओ० से कहे, किसी चीज की आवश्यकता हो तो लिखे, वे इतवार को पूना से लेते आयेंगे।

तब मुझे ज्ञात हुआ कि वह युवक रोगी को छोड़ने नहीं आया, स्वयं रोगी है और वे वृद्ध रोगी नहीं, रोगी के पिता हैं। युवक का नाम बिनायकराव रामराव घटपांडे था, जैसा कि अपने पिता और सिस्टर के जाते ही कपड़े बदलते-बदलते उसने मुझे बताया।

घटपांडे के बराबर, वातायन के उस ओर वह रोगी उसी प्रकार अत्यन्त दयनीय दशा में खाँस रहा था। मुझ तक उसकी क्षीण ध्वनि मुश्किल से पहुँचती थी, उनके बेड पर तो वह कराहती हुई सी खाँसी, अपनी समस्त करुणा के साथ, चोटें मार रही होगी, परन्तु उस ओर से निश्चिन्त मिस्टर बिनायक रामराव घटपांडे बड़े आराम से सो रहे थे। मुझे उनकी इस निश्चिन्तता के प्रति बड़ी ईर्षा हुई। मेरी दशा तो उनसे बड़ी भिन्न थी। मुझे अव्वल तो नींद ही न आती थी। आती भी तो बड़े भयानक स्वप्न आते। यक्ष्मा से मरना मुझे धीरे-धीरे, पग-पग, किसी तिमिराच्छन्न महागर्त में उतरने-सा लगता। एक दिन मेरे पाँव उस महागर्त के तल को छू लेंगे। इस परस की अनुभूति के साथ ही सदैव मेरी नींद उड़ जाती। एक दिन मैं इस दुनिया में नहीं रहूँगा—यह विचार किसी अदृश्य छुरे-सा हृदय में धँस जाता। सदैव एक लम्बी साँस लेकर मैं करवट बदल लेता। कदाचित् इस बात का अभास पाने के लिए कि मैं जीवित हूँ।

मिस्टर घटपांडे धीमे-धीमे खर्राटे ले रहे थे। मैंने धीरे से

करवट ली, क्योंकि अभी-अभी मृत्यु के विचार के साथ ही एक अज्ञात छुरा मेरे हृदय में दूर तक धँसता चला गया था। सामने काटेज के ऊपर, लम्बे-लम्बे सिलवर के पेड़ों के पीछे, बादल झाँक रहे थे; मन्द-मन्द बयार चलने लगी थी; न जाने किधर से बुलबुलों की एक टोली फर्र से आयी। कई जोड़े सामने बिजली के तार पर बिगन बेलिया की लम्बी लम्बी शाखाओं और मेंहदी की बाड़ पर बैठ गये। इतनी ढेर-सी बुलबुलें। मैं देखने लगा कि उनमें से कोई जोड़ा लड़ता है या नहीं। बुलबुलों का गाना तो सभी को पसन्द है, पर मुझे दो बुलबुलों का आपस में लड़ना बहुत भाता है। साधारण चिड़ियाँ जब लड़ती हैं तो लड़ते-लड़ते नीचे गिर जाती हैं। परन्तु एक दूसरे पर अपनी नन्हीं-नन्हीं चोंचों से प्रहार करती हुई बुलबुलें सीधी ऊपर को उठती चली जाती हैं। उनका यह लड़ना बड़ा सुन्दर लगता है। मैं बड़ी देर तक उन्हें देखता रहा, पर न तो वे लड़ीं, न चहकीं और एक-एक करके उड़ गयीं।

मुझे एक विचित्र एकाकीपन-सा प्रतीत हुआ। घर की याद आ गयी। मरना जब अनिवार्य है तो किसी अस्पताल अथवा सेनेटोरियम के रूखे, स्नेहहीन वार्ड की अपेक्षा घर कहीं अधिक अच्छा है। मैं तो माँ की गोद में मरना चाहता था। मुझे इस दशा में उन्होंने क्यों घर से निकाल दिया। भाई-बहन और पिता के विरुद्ध क्रोध का एक बवंडर-सा हृदय में उठ आया। माँ की स्नेहमयी स्मृति आते ही नन्हें बच्चे की भाँति मेरी आँखें सजल हो गयीं। तभी मिस्टर घटपांडे ने जोर से खर्राटा लिया और उनकी वक्तृता मेरे कानों में गूँज उठी और उनका कथन याद आ गया कि बीमारी का सबसे बड़ा इलाज है कि उसे अपने ऊपर अधिकार न पाने दिया जाय। अपने आपको कई तरह से तसल्ली देते और

अपनी मृतप्राय: इच्छा-शक्ति को जगाने का प्रयास करते न जाने कब मेरी आँखें झप गयीं।

"कहिए सोते ही रहिएगा! चाय ठंडी हो रही है," मिस्टर घटपांडे की आवाज़ से मैं जागा।

वार्ड ब्वाय प्याला तिपाई पर रख गया था, पर मुझे तो सीधा बैठने की मनाही थी। मैंने वह टुनटुनी घंटी बजायी। वार्ड ब्वाय ने आकर मेरे सिर की ओर पलंग को तनिक ऊपर उठा दिया। मैंने प्याला उठा लिया। मिस्टर घटपांडे सामने बैठे थे। बोले, "कहिए, कैसे हैं?"

बोलने की मुझे बिलकुल आज्ञा न थी, इसलिए मैंने हाथ के इशारे से समझाया कि अच्छा हूँ। बोले :

"मैं तो सो गया था। कदाचित् आपको ज्ञात नहीं—टी० बी० में जितनी भी नींद आये, अच्छा है। नींद बेफ़िक्री का चिह्न है और बेफ़िक्री टी० बी० के घावों पर शीतल, स्वास्थ्यकर लेप का काम करती है। मैं तो खूब सोता हूँ और चिन्ता को पास फटकने नहीं देता। समाचार-पत्र तक नहीं पढ़ता। लड़ाई-झगड़े और बेकारी बीमारी के अतिरिक्त इन समाचार-पत्रों में होता ही क्या है। मन खिन्न और अशान्त हो जाता है। मैं समाचार-पत्र उठाकर नहीं देखता और बात किसी की सुनता नहीं। अब मैं आपसे क्या कहूँ—दोस्त-मित्र और सगे-सम्बन्धी बीमारी का हाल सुनकर प्रकट सान्त्वना देते हैं, परन्तु अपनी बातों और भाव-भंगियों से ऐसा डराते हैं कि जैसे न जाने क्या होने को है। मैं अपने दिल में सोचा करता हूँ कि भाई टी० बी० तो हो गयी, अब क्या होने को शेष है।

विचार आते हैं—बड़े दुखद भी, पर अपनी इच्छा-शक्ति से काम लेकर मैं सबको भगा देता हूँ और बेहोश होकर सो जाता हूँ······"

मिस्टर घटपांडे चाय को समाप्त कर चुके थे। दो तकिये उन्होंने अपनी पीठ के पीछे रख लिये थे और मजे से टाँगे पसार कर बैठ गये थे। मुझे भी इस तरह लेटे हुए खाँसी कम आती थी। मैं दत्तचित्त होकर उनकी बातें सुन रहा था। कदाचित् वे इच्छा-शक्ति के सम्बन्ध में अपने विचार, जो वे सिस्टर के कारण प्रकट न कर पाये थे, सविस्तार प्रकट करनेवाले थे, पर उस समय अन्दर से एक रोगी—"कहिए साहब, आप आज ही आये हैं ?"—कहते हुए और एक ही दृष्टि से हम दोनों का अभिवादन करते हुए, अभिनेताओं की-सी अदा से निकले और मेरे बिस्तर से लटका हुआ मेरा चार्ट देखने लगे।

यद्यपि वे चल-फिर रहे थे, उनके ओंठों पर मुस्कराहट भी थी, पर उनकी आकृति पर जैसे यक्ष्मा ने अपनी मैत्री के चिह्न अंकित कर रखे थे—छः हाथ को छूता हुआ क़द; पतला-दुबला शरीर; चौड़ी पर अन्दर को धँसी हुई छाती; गोरा पर यक्ष्मा के कारण पीला, बल्कि कालिमा का सम्मिश्रण लिये हुए वर्ण और कल्ले धँस जाने के कारण बाहर को निकली हुई, यथार्थ से अधिक लम्बी दिखने वाली, नाक !—इस नाक के अतिरिक्त उनके मुख पर और कुछ दिखायी न देता था।

मेरे चार्ट को देखकर उन्होंने ऐसे मुँह बनाया मानो, जैसा वे चाहते थे, वैसा ही है और एक बार ओंठों से "बाईलेट्रल [१]!" कह कर सन्तोष से मुँह मरोड़ कर वे मिस्टर घटपांडे के बेड की ओर बढ़े।

१—बाईलेट्रल—जिसके दोनों फेफड़े ख़राब हों।

परन्तु घटपांडे का चार्ट खाली था। मैं तो प्रातः आया था, डाक्टर ने मेरा निरीक्षण करके चार्ट भी भर दिया था और मुझे कैलशियम गलूकोनेट तथा कांगोरेड का इन्जेक्शन भी दे दिया था। मिस्टर घटपांडे जब आये, तो डाक्टर जा चुका था। उनका निरीक्षण शाम को होनेवाला था।

खाली चार्ट देखकर उन महाशय ने प्रश्नसूचक दृष्टि से मिस्टर घटपांडे की ओर देखा।

"मुझे तो जरा सी इन्फिलट्रेशन है", मि० घटपांडे ने बेपरवाही से कहा।

"दायें बाजू ?"

"नहीं बायें बाजू।"

"ए० पी०[1] लेते हो ?"

मिस्टर घटपांडे ने बताया कि वे तो दो महीने से ए० पी० ले रहे हैं और ए० पी० बड़ी सफल हुई है, उन्हें अच्छा कोलैप्स (Collapse)[2] मिला है और उनका फेफड़ा सिकुड़ कर बस इतना-सा रह गया है—कितना, यह उन्होंने अँगुलियों के इशारे से बताया।

"बम्बई से आये हो कि सूरत से ?"

मिस्टर घटपांडे हँसे। "मैं तो पूना से आया हूँ।" उसी बेपरवाही से उन्होंने कहा, "आने की कोई जरूरत भी न थी, पर वहाँ गर्मी थी, इसलिये, चला आया। जरा-सी इन्फिलट्रेशन है, दो-चार महीने ही में नेगेटिव (Negative)[3] हो जाऊँगा......"

"अजी साहब, जरा क्या और ज्यादा क्या" लम्बी नाकवाले,

१—ए० पी० = कृत्रिम हवा जो फेफड़े में भरी जाती है।

२—इससे फेफड़ा सिकुड़ जाता है उसे कोलैप्स कहते है।

३—Negative जब बलग़म में टी० बी० के कीड़े न हों।

बोले, "टी० बी० इज टी० बी० । मैं जब आया था तो सी माइनिस (—c)[1] था, पर अब देखिए, साल भर से पड़ा हूँ, फ्लूइड (Fluid) हो गया, फिर पस [2](pus) पड़ गयी। सातवें-आठवें इतनी बड़ी सूई लगती है पस निकालने को।"

और उन्होंने बायें बाजू से कमीज उठा कर पसली पर वह जगह दिखायी, जहाँ से पस निकलती थी। स्टिकिंग प्लास्टर के दो बड़े टुकड़े उस स्थान पर लगे हुए थे।

मिस्टर घटपांडे का रंग फक हो गया। उन्होंने पूछा, "यह फ्लूइड क्या होता है?"

"ए० पी० में १०० में से ९० आदमियों को पानी पड़ जाता है", लम्बी नाकवाले महाशय ने कहा, "ए० पी० की हवा का पानी बन जाता है। आप समझते हैं, आप दो महीने में ठीक हो जायँगे, आपको दो वर्ष लग सकते हैं। डाक्टर यहाँ भेजते समय ऐसा ही कहते हैं। सामने काटेज में मिस्टर मनीलकर हैं। दो साल हो गये उन्हें यहाँ बैठे। पिछले साल नेगेटिव हो गये थे, पर तीन बार फ्लूइड हो गया।

"मुझे तो एक महीने में २५ पाऊंड वजन मिला।"

"अजी साहब, वजन की क्या बात है? यह आपके बराबर में जो बोहरा है, पांच वर्ष से यहाँ पड़ा है। १६० पाऊंड वजन हो गया था इसका, पर अब देख लीजिए। इस वजन का क्या है, चर्बी है साली; चार दिन के ज्वर से उतर जाती है।"

तभी वह बोहरा उसी दयनीय रूप से खाँसा। एक ठंडी झुरझुरी मेरी रीढ की हड्डी पर से होती हुई चली गयी।

१—सी माइनिस = नेगेटिव का दूसरा नाम।

२—पस = पीप।

बड़ी कठिनाई से बलग़म थूक कर उसी रिरियाती आवाज़ में अन्दर से उसने कहा:—

"अपनी-अपनी किस्मत है साहब ! सबको थोड़ा ही होता है।"

उन लम्बी नाकवाले साहब को जैसे इस बयान से अपनी बात कटती दिखायी दी। कुर्सी पर उकंड़ूँ बैठते हुए बोले। "टी० बी० के सम्बन्ध में तो कहा जा सकता है कि यह बुरे भाग्य का फल है, पर फ्लूइड तो ए० पी० ही का फल है। ए० पी० लेने वालों में ९० प्रतिशत को यह हो जाता है।

और वे कुछ विचित्र बेतुकेपन से हँसे। घटपांडे निश्चेष्ट से पड़ गये और मैं घटपांडे ही के शब्दों में अपने आप को तसल्ली देने लगा कि टी० बी० तो हो गयी (और मेरे तो दोनों फेफड़े ख़राब हैं) फिर अब फ्लूइड से क्या डरना। दूसरों की बातों पर ध्यान न देना चाहिए। सुबह डाक्टर इन्जेक्शन देने आयेगा तो उस से पूछूँगा।

"आप ठीक महीने में नहीं आये मिस्टर," उन्हों ने कुर्सी पर बैठे बैठे कहा, "पन्द्रह बीस दिन तक तो यहाँ वर्षा आरम्भ हो जायगी और वर्षा में फ्लूइड का अधिक डर है। १५ जून तक तो आधा सेनेटोरियम ख़ाली हो जायगा।"

वे न जाने टी० बी० और फ्लूइड सम्बन्धी हमारे ज्ञान को और कितना बढ़ाते कि डाक्टर आ गया और मिस्टर घटपांडे को आवाज पड़ी।

तब वे मेरी ओर मुड़े। किन्तु मैं तो सिस्टर के आदेशानुसार मौनावतार बना बैठा था। एक दृष्टि मुझ पर डाल कर उन्हों ने कहा, "आप पूरा आराम कीजिएगा। आप को ख़ून आता है। बोलिए भी नहीं। उससे फेफड़ों पर दबाव पड़ता है। यदि आप के ए० पी०

सफल हो गयी तो भला, नहीं वे आप को पी० पी०[1], देंगे। चिन्ता न कीजिए, बहुतों को पी० पी० से लाभ हो जाता है और पी० पी० वालों को फ़्लूइड का भी डर नहीं।" और वे मुस्करा कर चले गये।

मैं क्षण भर के लिए चकित रह गया। 'मुझसे उन्हें सहानुभूति क्यों हुई और मि० घटपांडे को उन्होंने सहानुभूति का शब्द क्यों न कहा?' यही सोचता रहा। कदाचित् घटपांडे की हृष्ट-पुष्ट देह को देखकर उन्हें उनके प्रति ईर्षा हुई थी और मेरे स्वास्थ्य से ईर्षा का कोई कारण न था।

आध घंटे बाद मिस्टर घटपांडे वापस आये, तो उन्होंने एक जोर का ठहाका लगाया। "मैंने अभी डाक्टर से फ़्लूइड के सम्बन्ध में पूछा," मिस्टर घटपांडे ने कहा, "वे बोले कि उसकी सम्भावना उतनी ही है जितनी तुम्हारे मोटर के नीचे आने की!" घटपांडे फिर हँसे और बोले—"डाक्टर कहता है कि 'मोटर के नीचे आने की बात कोई नहीं सोचता, फ़्लूइड की बात क्यों सोचते हैं?' मेरी बीमारी तो ज़रा-सी है। कदाचित् फ़्लूइड की कोई सम्भावना नहीं।

यह कहते हुए वे फिर चारपाई पर आराम से बैठ गये। तकियों से पीठ लगाकर फिर हँसे। उनके मुख का रंग वापस आ गया था। बोले, डाक्टर कहते थे कि यहाँ का नियम है, सात दिन तक रोगी को देखते हैं, ज्वर-आदि न हो तो दूसरे वार्ड में बदल देते हैं। और चलने-फिरने की भी आज्ञा मिल जाती है।

मैंने लम्बी साँस ली, क्योंकि मुझे उस वार्ड से निकलने की आशा कम थी।

१—पी० पी० = पेट में हवा भरने को पी० पी० कहते हैं। नीचे से हवा भर कर फेफड़े को दबाया जाता है।

"आप बिलकुल चिन्ता न करें" मिस्टर घटपांडे ने कहा, "किसी की बात नहीं सुननी चाहिए। अपने में विश्वास रखना चाहिए। आत्म-विश्वास के सम्बन्ध में नेपोलियन ने कहा है ...."

मिस्टर घटपांडे आत्म-विश्वास के सम्बन्ध में नेपोलियन के विचार प्रकट करनेवाले थे कि अन्दर से सिर-मुँडा एक युवक ख़ाकी क़मीज़ और पायजामा पहने आया। उसका क़द मँझला, अंग खुले, चौड़ी छाती और बड़ा-बड़ा मुँह था। परन्तु कल्ले अन्दर को धँसे हुए थे और आँखों में कुछ विचित्र विक्षिप्तता-सी दृष्टिगोचर होती थी। लगता था जैसे वे आँखें निरन्तर इधर-उधर भटक रही हैं। एक विचित्र-सा शून्य उन आँखों में बसा हुआ था।

"लीजिए साहब, आप आये और हम जा रहे हैं," दाँत निकोस कर उसने दरवाजे ही से कहा। पहले मेरे और फिर मिस्टर घटपांडे के चार्ट पर एक दृष्टि डाली।

घटपांडे ने हँस कर कहा "क्या आप को भी फ्लूइड का डर है?"

"फ्लूइड का भी डर है," वह बोला, "और फिर एक साल हो गया मुझे यहाँ पड़े हुए। जरा भी लाभ नहीं हुआ। न ज्वर हटा है, न जी (G) घटा है।"

"मैं तो दो-एक महीने बाद चला जाऊँगा, डाक्टर कहता

१, G — Germs — टी० बी० के कीटाणुओं का पैमाना। जिसकी बलग़म से अगणित कीड़े हों, उसे G. ५. कहते हैं। जैसे-जैसे कीड़े कम होते जायँ, G ४, G ३, G २, G १, होता है। जब कोई कीड़ा न रहे तो बलग़म नेगेटिव् हो जाता है।

है......" घटपांडे कहना चाहते थे, पर उसने बात काट दी :—

"डाक्टर सब ऐसे ही कहते हैं। मुझे भी ऐसे ही कहते थे, पर साल हो गया है मुझे यहाँ पड़े। आप ने ग़लती की जो इस सेनेटोरियम में आये। यहाँ रोगियों का ख्याल कौन रखता है? यह तो साला बिज़नेस है। मैं तो मिराज जा रहा हूं। वहां का डाक्टर टी० बी० का सब से बड़ा स्पेशेलिस्ट है। आप ने ग़लती की जो यहां आये। केस ख़राब चाहे हो जाय, यहां लाभ की सम्भावना नहीं। यहां हफ्तों, महीनों पानी बरसेगा और मिराज में मौसम वंडरफुल (wonderful) होगा।"

और वे बाहर जाकर रिक्लाइनर पर बैठ गये। मेरा ख्याल था मिस्टर घटपांडे अपने वक्तव्य को जारी रखेंगे, किन्तु वे चुपचाप खिड़की से बाहर देखने लगे। अन्दर वह बोहरा उसी दयनीय दशा से खाँसने लगा। मुझे इस प्रकार लेटे कुछ आराम मिल रहा था। मैं भी बाहर की ओर देखने लगा। संध्या ढलने लगी थी। ठंडी हवा चलने लगी थी। सिलवर के पेड़ धीमे-धीमे सरसरा रहे थे। एक चिड़िया सामने के ओक की पतली-सी डाली पर आ बैठी और लम्बी-लम्बी सीटियां हवा में भरने लगी। तभी वह लम्बी नाक वाले साहब अपने साथ एक ईरानी को लेकर आये और उन्होंने मिस्टर घटपांडे से ईरानी का परिचय कराया।

ईरानी छोटे कद और श्वेत-पीत रंग का हँसमुख युवक था। उसका नाम हसन था। अँगरेजी और हिन्दुस्तानी—दोनों में उसका उच्चारण बड़ा मनोरंजक था। मेरी ओर देखकर कहने लगा, "डोंन वारी (Do'nt worry) सब ठीक हो जाएँगा। हम एक साल से इधर पड़ेला है। सी-माइनिस आया था। फ़्लूइड हो गया, पस पड़ गया। इतना बड़ा मुइ लगता है। अरे बाप रे! देखना, हम कितना

चिल्लाता है[1]। कल हमको सुई लगेंगा। तुम को इदर सुनाइ देंगा।"

"यह साला फ़्लूइड कैसे हो जाता है?" सहसा घटपांडे ने पूछा।

मियाँ हसन मिस्टर घटपांडे की ओर मुड़े और बोले :

"जिस माफक गर्म भाफ को ठंडी लगने पर त्रप-त्रप टपकने लगना है, उसी माफक ठंडी लग जाने पर ए० पी० का हवा त्रप-त्रप टपकने लगता है।"

और उन्होंने अंगुली से बताया कि कैसे 'त्रप त्रप' टपकता है। और बोले, "बरसात में इदर तो आम लोग को फ़्लूइड हो जाता है। अपना सीना तो नाजुक है, साला बालून के माफ़क, ठंडी का अपने को ख्याल रखना माँगता है।"

वे जाने हमें और क्या-क्या सूचना देते कि दूर क्लब-रूम में खाने की घंटी बजी और लम्बी नाकवाले महाशय मियाँ हसन को लेकर चले गये।

वार्ड ब्वाय खाना ले आया, पर मेरे कंठ से एक कौर भी न उतरा। खाना खिलाकर मेरे बिस्तर को सीधा कर वार्ड ब्वाय चला गया तो मैं बार-बार यही सोचने लगा कि मैं यहाँ आने पर क्यों राजी हो गया। शरीर में पहले ही शक्ति नहीं के बराबर थी, अब ए० पी० की सुइयाँ खाओ; फ़्लूइड हो जाय या पस पड़ जाय तो और भी मोटी सुइयाँ खाओ। टी० बी० से मरना पहले ही कम भयानक नहीं, पर सुइयाँ खा खाकर मरना······मेरी आँखों में आँसू आ गये। पर तभी मेरे मस्तिष्क में मि० घटपांडे के शब्द गूँज गये—अपने में विश्वास रखो। इच्छा-शक्ति से काम

---

१. चिल्लाता है।

तो और किसी दूसरे की बात न सुनो। साढ़े नौ बजे ही वार्ड ब्वाय ने बत्तियाँ बुझा दी थीं। कृष्ण-पक्ष की अँधेरी रात थी। नहीं जानता घटपांडे सो रहे थे या नहीं। मैं उनसे बातें करना चाहता था। पर उनके बिस्तर पर तो करवट लेने तक की आवाज भी सुनायी न देती थी। 'वे प्रबल इच्छा-शक्ति के स्वामी हैं'—मैंने मन को समझाया—'सो गये होंगे'। तब उनके शब्दों का सहारा लेकर मैं अपने मन को तसल्ली देने लगा। इच्छा-शक्ति, इच्छा-शक्ति, इच्छा-शकित ! अपनी इच्छा-शक्ति को जगाते; मन को कई तरह समझाते; ए० पी० के पानी की 'त्रप त्रप' सुनते न जाने कब नींद आ गयी। प्रातः उठा तो वार्ड में शोर मचा हुआ था। पता चला कि मि० घटपांडे प्रातः ही से गायब हैं। लम्बी नाक वाले महाशय सुबह उठते ही उन्हें 'नमस्कार' करने और अपने 'परिचय' को 'प्रगाढ़ मैत्री' में बदलने आये थे। उन्होंने देखा कि मि० घटपांडे का बिस्तर खाली है। सोचा कि मि० घटपांडे बाथ-रूम में गये होंगे। आध घंटे बाद वे फिर आये। तब भी वे नहीं थे। वे बाथ-रूम गये तो वहाँ नहीं थे। नये आये रोगियों को लघुशंका तक निवारण करने बाथ रूम में जाने की आज्ञा न थी। उन्होंने जाकर नर्स के क्वार्टर में खबर दी। तभी से भगदड़ मची हुई थी। बड़े डाक्टर तक खबर की गयी। काफी दौड़-धूप के बाद उनके पिता को तार दी गयी। संध्या को वे आ गये। खिसियानी-सी हँसी हँसते और क्षमा माँगते हुए उन्होंने बताया कि पहली बस पकड़ कर मि० घटपांडे पूना पहुँच गये हैं। किसी पेशेंट ने उन्हें डरा दिया है कि यहाँ फ्लड्ड हो जायगा और न जाने क्या क्या और वे किसी तरह भी आने को तैयार नहीं। उनके पिता, महीने का जो पेशगी रुपया दिया था,

उस में से पन्द्रह दिन के नोटिस के पैसे कटा कर अपने पुत्र का सामान ले गये।

उनके जाते ही आर० एम० ओ० आये। उन्होंने सब पुराने रोगियों को डाँट पिलायी, धमकी दी कि यदि उन्होंने यह न बताया कि मि० घटपांडे से किसने बातें कीं, किसने उन्हें बहकाया तो वे सब को चौबीस घंटे के अन्दर-अन्दर सेनेटोरियम से निकाल देंगे। डाक्टर और सिस्टर को डाँटा कि जो नया पेशेंट पहले से इलाज कराता आया हो, यदि उसका स्वास्थ्य ठीक हो और उसे ज्वर न आता हो तो उसे कभी एक्यूट-वार्ड में न उतारा जाय। आदि आदि……।

मिस्टर घटपांडे चले गये। उन्हें तो कदाचित् मेरी याद भी न आती होगी, पर मैं उन्हें कभी नहीं भूला। मैं सेनेटोरियम में तीन वर्ष रहा। मेरे दायें-बायें फेफड़ों में आठ-आठ-दस-दस दिन बाद ए० पी० की सुइयाँ लगती रहीं। पेट में पी० पी० की सुई भी लगती रही। मेरे दोनों फेफड़ों में एढ्हीयन आप्रेशन (Adhesion Operation) भी हुआ। दोनों बार आप्रेशन के पश्चात् फ्लूइड भी हो गया। कई कठिन घड़ियाँ मुझ पर आयीं। पहले वह बोहरा और फिर दूसरे दो-चार रोगी इस बीच में मर भी गये, पर स्टालन का उदाहरण देकर टी० बी० का जो सब से बड़ा इलाज मि० घटपांडे ने बताया था, उसका साथ मैंने नहीं छोड़ा।

तीन वर्ष बाद जब मैं जाने लगा तो आर० एम० ओ० ने मुझ से हाथ मिलाते हुए कहा, "हमारे उपचार से कहीं अधिक आपकी

निरोगिता में आपकी इच्छा-शक्ति का हाथ है। इस स्वास्थ्य-लाभ पर मैं आपको बधाई देता हूँ। हम कई बार निराश हो गये पर आप नहीं हुए ·····”

आज पाँच वर्ष बाद अचानक ये सब घटनाएं आँखों के सामने आ गयी हैं। मैं पूर्णरूप से स्वस्थ हूँ, परन्तु गर्मी का मौसम पहाड़ पर चला जाता हूँ। इस बार मैं धर्म-पुर सेनेटोरियम में आया हुआ हूँ। अभी चन्द घंटे पहले मेरे साथ के काटेज में एक पेशेंट आया। यों ही उत्सुकतावश में देखने चला गया। बड़ी शोचनीय दशा में है। दोनों फेफड़े खराब हैं। कंकाल-मात्र। मैंने सुना—इंचार्ज डाक्टर कह रहे थे:

“मि० घटपांडे, अपने आप में विश्वास रखिए। इतने सेनेटो-रियम घूमने की आवश्यकता नहीं। उपचार सब जगह लगभग एक जैसा ही होता है। जरूरतइस बात की है कि आप इच्छा-शक्ति से काम लें और टिक कर इलाज करायें।”

ज्ञानी

मेरे पड़ोसी सरदार करतार सिंह ज्ञानी पुरुष थे। पढ़े हुए तो वे जैसा कि पंजाबी भाषा की कहावत है 'मात्र दहलीज़ ही तक' थे अर्थात् शिक्षा के विशाल भवन की चौखट के अन्दर जाना भी उन्हें नसीब न हुआ था, पर जैसा कि वे सदा आप ही कहा करते थे, उनके अन्तर की आँखें खुली थीं और 'पढ़े' हुए होने की अपेक्षा वे 'गुढ़े' हुए अधिक थे।

कोई बड़ी ज़मीन जायदाद उनके पास न थी। एक हल की छोटी सी खेती थी, पर वे सन्तुष्ट थे। उनके अपने कथनानुसार ज्ञान की दौलत से 'वाहेगुरु' ने उन्हें माला माल कर रखा था। "धन दौलत तो माया है।—बनेरे का काग!" वे कहते, "आज हमारी मुंडेर पर कल दूसरे की, सच्ची दौलत तो सत नाम की है। जिसके पास वह दौलत है, उसे किसी और धन-सम्पत्ति की आवश्यकता है

न आकांक्षा।"

गाँव में मेरी कपड़े की छोटी सी दुकान थी। कारबार में थोड़े बहुत लाभ की आशा न हो तो कारबार ही क्या और ज्ञानी जी इस थोड़े से लाभ को 'लूट' का नाम देते थे। फिर मैं उधार भी कम देता था—और उन्हें शिकायत थी कि मैं माया-मोह में फँसा हुआ हूँ, दिन रात धन कमाने की चिन्ता मुझे सताती है। मुझे प्राय: उपदेश दिया करते, कहा करते कि तुम लखपति भी क्यों न हो जाओ, यदि सत नाम की दौलत तुम्हारे पास न हुई तो तुम कंगाल के कंगाल रहोगे। "तुम चाहते हो कि सबकी दौलत तुम्हारी तिजौरी में आ रहे लाला," वे मुझ से कहते, "परन्तु जिसके पास सत नाम का धन है वह चाहता है कि अपनी उस सम्पत्ति को सब में बाँटे।"

तभी पंजाब की बाँट के फल-स्वरूप साम्प्रदायिक दंगे की प्रति क्षण फैलती हुई आग हमारे गाँव तक आ पहुँची। पश्चिमीय पंजाब में निरीह सिख स्त्रियों, बच्चों और बूढ़ों पर तोड़े जाने वाले अत्याचारों की खबरों ने इस आग पर तेल का काम किया और एक सुबह गाँव के सिख लाठियों, कुल्हाड़ों, गंडासों और छवियों से लेस होकर मुसलमानों पर पिल पड़े और फिर उस हत्या-काँड और लूट-मार की पुनरावृत्ति हमारे गाँव में भी हुई, जिस की खबरें दूसरे गाँवों से आती थीं।

लूट-मार मची हुई थी और मुसलमानों के टोले की ओर से जो जिसके हाथ आता था, लूटे लिये आ रहा था। पुरुष तो पुरुष, स्त्रियाँ भी इस शुभ-काम में पीछे न थीं। मैं अपने घर की छत पर बैठा ज्ञानी जी की बातों पर विचार कर रहा था—'जब सब को एक दिन मरना है; जब धन दौलत चलती फिरती छाया है;

जब मनुष्य सब कुछ यहीं छोड़ कर खाली हाथ यहाँ से जायगा, तो यह लूट-मार, कत्ल, गारतगरी क्यों ? जब लोग दूसरों को मारते हैं तो वे अपनी मौत क्यों भूल जाते हैं ? जब वे दूसरों का धन लूटते हैं तो क्यों भूल जाते हैं कि यह सब यहीं रह जायगा।' ये सब ज्ञानी जी के शब्द थे। इस हत्या-कांड से पहले उनकी सत्यता मुझ पर यों प्रकट न हुई थी। जब गाँव में प्रतिहिंसा से पागल हिन्दू-सिक्खों की मार-धाड़ और निर्दोष मुसलमान स्त्री-बच्चों की चीख पुकार मची हुई थी, ज्ञानी जी का एक एक शब्द मेरे कानों में गूँज रहा था।

तभी मैंने देखा ज्ञानी जी भी कंधे पर एक हल रखे और हाथ में नूर दीन की दोधार गाय की रस्सी थामे चले आ रहे हैं । दोनों के पीछे निरीह बछड़ा इस सारे हत्या-कांड से अनभिज्ञ कुदकड़े मारता चला आ रहा था।

नूर दीन की गाय गाँव भर में प्रसिद्ध थी। दूध सी श्वेत, पाँच साढ़े पाँच फुट ऊँची, भरी-पूरी और जवान ! दूर ही से मैंने पहचान लिया। जब सरदार जी समीप आये तो मैं न रह सका। छत पर ही से मैंने पूछा "ज्ञानी जी आप भी !"

दार्शनिकों के से अन्दाज़ में ज्ञानी जी ने कहा, "अजी लाला, हम न लाते तो कोई और ले जाता। यहाँ हमारा क्या है, सब वाहेगुरु का है। इसका दूध भक्तों के काम आयगा।"

यह कह कर वे घर के अन्दर चले गये और फिर जब बाहर निकले तो उनके हाथ में मोटा ताला था जो वर्षों बेकार पड़े पड़े ज़ंगा गया था। तेल उसमें डाल कर बड़ी कठिनाई से उन्होंने उसे फिर चलता किया और इसे दरवाज़े पर लगाकर वे चले गये। सारा दिन वे वाहेगुरु का भंडार भरते रहे।

इसके बाद उन्होंने कभी मुझे उपदेश नहीं दिया, बल्कि मुझे भी वाहेगुरु के भक्तों में शामिल कर लिया, क्योंकि दूसरे ही दिन वे छाछ का लोटा और दही का छन्ना[1] भर कर मेरे घर दे गये।

---

१ कटोरा

मनुष्य—यह !

अपनी पत्नी की मृत्यु के चौथे रोज़ जब पं० परसराम श्मसान से फूल चुनने के बाद मुहल्ले की धर्मशाला में आकर बैठे, तो उस समय उनके मन में असीम वैराग्य उत्पन्न हो उठा। उस समय ही क्यों, पत्नी उनकी जिस दम बीमार पड़ी, और जिस दम उन्हें मालूम हुआ कि डाक्टरों, हकीमों और वैद्यों की दवाएँ और उनकी माँ के देवी-देवता, पीर-फ़क़ीर सब उसे काली मौत के मुँह से न बचा सकेंगे, उसी समय से एक अज्ञात वैराग्य उनकी नस-नस में समाया जाता था।

प्रातः का अँधेरा अभी क़ाफी गहरा था। लोग चुपचाप आकर दरी पर बैठ गये थे। धर्मशाला के मन्दिर का पुजारी भी मन्दिर के चबूतरे को धोने का काम छोड़ कर शोक प्रकट करने के निमित्त चुपचाप आ बैठा था। परे दरवाज़े पर लालटेन, जैसे अपनी

अन्तिम साँसों को भरसक रोककर, प्रकाश देने का प्रयास कर रही थी। तेल शायद समाप्त हो चुका था और उसका मद्धम प्रकाश, अँधकार की गहराई को और भी व्यग्रता से प्रकट कर रहा था।

पं० परसराम ने दीर्घ-निश्वास छोड़ा। चाहा उन्हों ने कि अंधेरा उन्हें भी चुपचाप लील जाय, उसी तरह निगल जाय, जैसे मृत्यु का अँधकार उन की पत्नी को निगल गया था। गर्म कम्बल उन के कंधों से खिसक कर धरती पर आ रहा था। क़मीज़ का गिरेबाँ खुला था; शरीर में तीर की भाँति चुभ जाने वाले शीत का उन्हें लेश भी ज्ञान न था। उनकी तो मानो चेतना ही सन्न हो गयी थी।

नाई ने कहा, "यजमान, उठकर हाथ दे दो !*"

परसराम अन्यमनस्क भाव से कम्बल को सम्हालते हुए उठे। खोये-खाये-से धर्मशाला के दरवाज़े पर आ खड़े हुए और उपस्थित लोगों की ओर उन्हों ने हाथ बढ़ा दिया। तब सबको सुनायी देने-वाली एक लम्बी साँस के साथ; मानो उम्र-भर के अनुभवों से दबी हुई कमर को लेकर लाला राम लुभाया उठे और कुछ समीप आकर उन्होंने कहा, "देखो बच्चा, अब राम को छोड़कर आगे की चिन्ता करो, यह संसार तो ऐसे ही चलता है।"

इस 'आगे की चिन्ता' में जो संकेत निहित था उसे समझकर परसराम का हृदय ग्लानि से भर आया और उन्होंने उपेक्षा से मुँह फेर लिया।

लाला राम लुभाया फिर लम्बी साँस लेकर चल पड़े और

---

* चौथे के रोज जब श्मशान से अस्थियाँ चुनने के बाद लोग आकर बैठते हैं तो फिर उन्हें अपने घर जाने की आज्ञा देने को हाथ देना कहते हैं।

उनके बाद दूसरे लोग, एक-एक करके शोक प्रकट करते हुए उनके पास से गुज़रने लगे :

"भाई मौत के आगे क्या चारा है, अपने मन को शान्ति दो और अपना घर-दर बसाओ।"

"संसार में आना-जाना तो लगा ही है पंडितजी, इस तरह दुःख करके आदमी कहाँ तक जी सकता है?"

"माँ के बुढ़ापे का ख्याल करो भाई, और कोई ऐसी सबील करो जिससे उसे भी सहारा मिले।"

"पंडितजी, आपकी अभी उम्र ही क्या है, इस उम्र में तो हमें खाने-पहनने तक का भी ज्ञान न हुआ था।"

जब शोक-पूर्ण शब्दों के साथ प्रायः प्रत्येक पड़ोसी के कुछ ऐसे ही वाक्य उनके कान में पड़े तो पं० परसराम का विषाद और भी गहरा हो गया। और जब सबके चले जाने के बाद, वे नाई के साथ मिलकर दरी उठाने लगे और नाई ने एक खिसियान-सी मुस्कराहट के साथ कहा, "यजमान, वे तो देवी थीं, दया-धर्म का जैसा उन्हें ज्ञान था, वैसा किसे होगा!" और फिर दरी लपेटते-लपेटते यह देखकर कि उसकी बात से यजमान के चेहरे पर एक बदल-सा होकर गुज़र गया है, नाई ने कहा, "उन जैसी देवी तो यजमान, अब कहाँ मिलेंगी, पर यदि आप 'हाँ' करें तो, सुन्दर, शिक्षित, घर के काम-काज में चतुर······" तो परसराम रूखी हँसी हँसे और, "हाँ, हाँ, क्यों नहीं" कहते कम्बल को लपेट, अँगोछा कंधे पर रख, जैसे अंगारों पर से गुज़रते हुए, घर को चल पड़े।

दुपहर को ऊपर छत पर, धूप में आरामकुर्सी डाले वे चुपचाप पड़े थे और सुबह की बातें एक-एक करके उनके कानों में गूँज रही थीं—'आगे की चिन्ता करो'...'घर-दर बसाओ'...'माँ के बुढ़ापे को सहारा मिले, ऐसी सबील करो'...'अभी आपकी उमर ही क्या है'?—और सोच रहे थे कि वे लोग कैसे शुष्क और हृदयहीन हैं? कैसे वे किसी की अस्थियों पर बैठकर विवाह की बातें कर सकते हैं? यह संसार कितना स्वार्थी है? हृदय नाम की वस्तु इसके यहाँ कितने कम परिमाण में मौजूद है?...तभी उन्होंने सुना, सीढ़ियों पर उनकी माँ, इस अपने बुढ़ापे को, इन न खत्म होने-वाली निगोड़ी सीढ़ियों को कोसती, चढ़ी चली आ रही है।

माँ जब पास आकर बैठ गयी और साँस को उसने ठीक कर लिया और बीमारी के दिनों में परसराम ने बहू की जो सेवा की और जिस जिस तरह अस्पताल में उसे रखा और जिस तरह पैसा पानी की तरह बहाया, उन सब बातों का जिक्र करके, जब अन्त में दो आँसू भी बहा लिये, तो कहने लगी कि बेटा जो बना है, अवश्य टूटेगा, इस जग में और किस चीज को स्थायित्व है कि मनुष्य ही अमर रहे। यदि आदमी इस तरह चुप बैठ जाय तो फिर संसार के काम कैसे चलें। और फिर एक लम्बी साँस लेकर उसने गली बालमातावाले पं० दीनदयाल की चची का जिक्र छेड़ा कि बेचारी बड़ी भली है, जब से पति की मृत्यु हुई है, उसने भूलकर भी उजला कपड़ा नहीं पहना। अपने मन को उसने घर के काम-काज और साधु-सन्तों की संगति में लगा दिया है और धर्म-कर्म की तो मानो वह मूर्ति है। और फिर बोली कि उसका भतीजा दीनदयाल तो बड़ा ही भलामानुस है। बिजली की कम्पनी में हेड क्लर्क है। दो-सौ वेतन पाता है। अपनी चची को वह माँ की

तरह मानता है। उस बेचारे के कोई सन्तान नहीं। ले-देकर एक ही लड़की भागवन्ती है जो अपने पिता की धर्मपरायणा चची के चरणों में बैठकर घर के काम-काज और धर्म-कर्म के कामों में दक्ष हो गयी है।

तभी पं० परसराम को आकाश में कहीं से एक कटा हुआ पतंग, असहाय-सा, बेबस-सा, इधर-उधर डोलता, क्षण-प्रतिक्षण नीचे गिरता दिखायी दिया। जिधर को वह जा रहा था, उधर ही उनकी दृष्टि भी जा रही थी और उनकी माँ उस समय यह जानकर कि उनका लड़का दत्तचित्त होकर सुन रहा है, सोल्लास भागवन्ती के रूप-गुण का बखान कर रही थी। सहसा एक झपकी खाकर पतंग दूर किसी मकान के आंगन में जा गिरा।— पं० परसराम ने लम्बी साँस ली। माँ तब कह रही थी कि बच्चा दीनदयाल की चची ने तो कहा था कि यदि परसराम माने तो भागवन्ती......

तब पं० परसराम ने सहसा उन आँखों से माँ की ओर देखा, जिनमें सफ़ेदी होने पर भी आग बरस रही थी और एक बार उनके मुँह से निकला—'माँ!' उनकी कल्पना के सम्मुख तब उनकी सास का उदास और विवर्ण मुख फिर गया। कितनी मिन्नतों, कितनी प्रार्थनाओं के बाद एक-एक करके सात बच्चों को मृत्यु की गोद में सुलाने के बाद, उसने यह लड़की पायी थी। उसे अपने पति के साथ सुखी देखकर ही वह अपने सारे अभाव को अपने बच्चों के निधन को, अपने पति की मृत्यु को, सब दुःख को भुलाये हुए थी। अपनी लड़की और दामाद को देखकर ही वह जीती थी; पर आज वह भी न रही। अपनी सास के दुःख का ख्याल करके परसराम सिहर उठे। उन्होंने निश्चय कर लिया कि धर्म का जो

नाता एक बार स्थापित हो गया, उसे वे कदापि न टूटने देंगे। उसे सान्त्वना देंगे: उसे तसल्ली देंगे; कहेंगे, 'क्या हुआ यदि तुम्हारी लड़की मर गयी, तुम्हारा लड़का तो है। आख़िर दामाद और लड़के में अन्तर ही क्या है?' वे उसके चरणों पर सिर रख देंगे और कहेंगे कि माँ, तुम्हारा यह लड़का तुम्हारी हर सेवा के लिए प्रस्तुत है।"

यह सोच वे उठे, सुसराल उनकी नगर ही में थी, चुपचाप वे उधर को चल पड़े।

ड्योढ़ी में स्त्रियों के घेरे में बैठी उनकी सास अपनी जवान लड़की की मृत्यु पर क्रन्दन कर रही थी। उसे तो आयु भर रोना था, पर समाज का भी यह अनुरोध है कि ग्यारह दिन तक उसे दिखाकर रोया जाय। उसके करुण-क्रन्दन को सुनकर परसराम का दिल भर आया। चुपचाप वे ड्योढ़ी के पास जाकर खड़े हो गये। रोना कुछ क्षण के लिए बन्द हो गया। अन्दर जाने के लिए उन्हें मार्ग दे दिया गया। तभी उन्हें पहचानकर एक बुढ़िया ने गहरा निश्वास छोड़कर कहा—"बेचारे का इस घर से इतना ही नाता था, अब सूरत तक को भी तरस जायँगे।"

दूसरी ने कहा, "भला यह कोई बात है, विमला जो है।" और तब परसराम की सास से उसने कहा, "अपना तो जो जाना था चला गया, बित्तो की माँ, पर घर की आग दूसरे क्यों सेकें?"

बित्तो की माँ ने केवल एक दीर्घ-निश्वास छोड़ा।

परसराम के कानों में भी इन बातों की भनक पड़ी। उन्हें उन

दोनों बुढ़ियों पर दया हो आयी। उनके दिल पर जो गुज़र रही थी, उनकी सास के हृदय पर जो बीत रही थी, उसे वे शुष्क, हृदय-हीन बुढ़ियाँ क्या जानें ?

जब स्त्रियों के चले जाने के बाद सास उनके पास आयी तो अनायास ही उसकी आँखों में आँसू आ गये, पर शीघ्र ही व्यस्त-व्यस्त होते हुए बोली—"सुबह का काहे को कुछ खाया होगा ?" और फिर उसने अपने भतीजे की बहू को बुलाकर कहा कि जल्दी से कुछ बना दो। परसराम ने बहुतेरा कहा कि मुझे भूख नहीं, मैं कुछ न खा सकूँगा; पर जब सास ने एक लम्बी साँस भरी और दुःखी होकर कहा—कि बच्चा, अब तू कब-कब मेरे घर खायेगा—तो परसराम चुप हो गये, खाना बना तो भूख न होने पर भी वे चुपचाप खाने लगे। सास पास आ बैठी। तब अचानक ही उसकी आँखें भर आयीं। कंठ अवरुद्ध हो गया। घुटे-घुटे स्वर में बोली—"इतना ही सम्बन्ध था भाग्य में, मैं तो तुम्हें पाकर निश्चिन्त हो गयी थी; पर जिस विधाता ने अपने लड़के ही छीन लिये वह दूसरे······"

परसराम ने विनीत कंठ से कहा, "तुम क्या बात करती हो माँ। यह नाता इतना साधारण नहीं, इतना कच्चा नहीं कि मृत्यु सूत के तागे की भाँति इसे तोड़ दे।"

"दुनिया में यह होता ही आया है बच्चा !',—सास ने कहा।

"दुनिया, दुनिया, मुझे तुमने दुनिया जैसा देखा है !"

सास ने कहा, "बेटा, पराई लड़कियाँ तो आकर भाई-भाई में बिछोह डाल देती हैं, फिर मेरा तो नाता अब कल की बात हो गयी।"

"पराई लड़की......"

"हाँ, अन्त को पराई लड़की तो आयेगी ही। अभी तुम्हारी उम्र ही क्या है बेटा"—और फिर एक दीर्घ-निश्वास छोड़कर, दबे स्वर में सास ने कहा—"लोग कहते हैं कि घर की आग घर ही में रहे। विमला है—मेरे जेठ की लड़की, तुमने उसे देखा ही होगा, छोटी-सी ही थी जब अपने बाप के पास चली गयी थी, पर अब तो बेटा, वह ब्याहने योग्य है, मेरे यदि कोई दूसरी लड़की होती तो क्या मैं तुम्हें जाने देती; पर अब यही......"

परसराम ने कहा—"तुम कहती क्या हो माँ ?"

"सोचती हूँ कि यह रिश्ता हो जाय तो मेरा भी आना-जाना खुला रहे; नहीं तो पराई लड़की कब......"

परसराम को गुस्सा आ गया। क्रोध से बोले—"माँ ने यह बात कही, चची ने यह बात कही, पास-पड़ोस ने यह बात कही; कई आँख के अंधे सगाइयाँ लेकर भी आये; पर मैं चुप रहा। किन्तु तुम—उसकी, मरनेवाली की माँ होकर, यही बात कहोगी और वह भी उसकी मृत्यु के चौथे दिन ही!—इस बात की मैंने स्वप्न में भी कल्पना न की थी।"

क्रोध और भावावेश से परसराम का गला रुँध गया, तभी किसी ने धीरे से कहा—"नमस्कार, जीजाजी ?"

परसराम ने सिर उठाकर देखा। अत्यन्त सुन्दर पर उदास, बड़ी-बड़ी आँखें लिये, लज्जा के भार से जैसे सिमटी, विमला उनके सामने आकर बैठ गयी है।

क्रोध के आवेग में परसराम कुछ और भी कहनेवाले थे कि रुक गये और हैरान-से विमला की ओर देखने लगे कि यह वही विमला है, जिसे उन्होंने आठ वर्ष पहले-अपने विवाह के दिनों में फटी पुस्तकें

और कटे बालों को लिये स्कूल जाते देखा था।

"पहचाना नहीं ?"—सास ने दीर्घ निश्वास भरकर कहा, विमला है, तुम्हरी साली !"

परसराम ने धीरे से कहा—"पहचानता हूँ, अब तो यह सयानी हो गयी है। और विमला का मुख लाल-लाल हो गया।

साँझ पड़े जब परसराम लौटे तो उनका हृदय उदास न था, कुछ प्रफुल्लित ही था और रह-रहकर उनकी आँखों के सामने कान्तकामिनी विमला की सूरत फिर-फिर जाती थी।

"छि: छि:"—वे अपने आप कर क्रुद्ध होते चले जा रहे थे। पर जितना ही वे क्रुद्ध होते, जितना ही उस चित्र को मस्तिष्क से हटाने का प्रयास करते, उतना ही वह और भी गहरा होकर अंकित होता जाता और अनजाने ही वे विमला के गुण-दोषों का विवेचन करने लगते।

वहीं बैठे-बैठे उन्होंने पूछा था, "कहो विमला, क्या करती रहीं वहाँ ? कुछ पढ़ीं भी या यों ही वक्त गँवाया कीं ?

तब विमला ने कहा था, "आठ जमातें पढ़ी हूँ।" और फिर अपनी रौ में कह चली थी, "वहाँ से बहुत कुछ सीखा है जीजाजी मैंने चादरों में ऐसे अच्छे फूल निकालती हूँ कि इधर कौन निकालेगा। दुसूती का काम नफीस-से-नफीस सीख गयी हूँ। इतने किस्म के स्वेटर बुन लेती हूँ कि गिना नहीं सकती। फिर धोतियों के किनारों से ट्रंकों के गिलाफ बना लेती हूं। फटे कपड़ों के तागों से आसन बुन लेती हूं और कसीदा......"

और परसराम सोचते—ऐसी ही पत्नी तो मैं चाहता हूं। और

तभी अपनी मृत पत्नी के अनेकों दोष उनकी आँखों के सामने फिर जाते—वह कहाँ इतनी चुस्त थी, अनपढ़ और अकर्मण्य ! उसे कहाँ यह सब करना आता था और तभी वे अपने-आपको कोसने लगते। "छिः छिः यह क्या उचित है; बित्तो से विमला का क्या मुकाबला ? उस जैसा सरल, अबाध प्रेम उन्हें कौन दे सकता है ? लेकिन विमला ''

उनके वहीं बैठे-बैठे विमला की बड़ी बहन आ गयी थी और आँखों में आँसू भरकर उसने कहा, "जीजाजी, बित्तो को कहाँ छोड़ आये !" और वह ऊँचे-ऊँचे रो उठी थी।

उसका यह क्रन्दन उन्हें बहुत बुरा लगा था। विमला से बातें करते-करते वे एक और ही दुनिया में खो गये थे और विमला की बड़ी बहन की वह संवेदना उन्हें रुचिकर प्रतीत न हुई थी। उस समय अपने घर को जाते-जाते अपने इसी व्यवहार के अनौचित्य पर वे खीज उठे थे। "क्या उनके लिए ऐसा करना उचित था ? क्या उन्हें इस तरह खो जाना चाहिए था ? अपनी प्रिय पत्नी की मृत्यु के चौथे दिन ही ! "छिः छिः !!"

अपने आप से इसी तरह लड़ते-झगड़ते वे चले जा रहे थे कि मार्ग में उन्हें उनका मित्र रूप मिल गया। रूप—वह सदा ख़ुश, सदा प्रसन्न रहनेवाला कुँवारा !

"तुम्हारी पत्नी मर गयीं !"—रूप ने ज़रा गम्भीर होकर कहा, "मैंने कल ही सुना।" और फिर एक साँस में कह उठा "देखो, अब शीघ्र ही विवाह के फन्दे में न फँसना, कुछ देर आराम करना !"

पं० परसराम को उसका यह कथन अच्छा न लगा। विमला का चित्र फिर विद्युत्-सा उनकी आँखों के सम्मुख फिर गया। दीर्घ-निश्वास लेकर उन्होंने कहा, "नहीं, अब क्या शादी करूँगा !"

रूप ने कहा, "हाँ अब इस जंजाल में हरगिज न फँसना और फिर तुम तो इस जीवन का आनन्द भी ले चुके हो।"

पं परसराम के यह दूसरा घाव लगा; पर मन के भावों ही में दबाकर कुछ दबे-दबे स्वर में उन्होंने कहा, "नहीं, अब शादी क्या करूँगा। मेरी सास मेरी साली के लिए कह रही है उसके कोई और लड़की भी नहीं। चाहती है कि उधर नाता कर लूँ तो उसका आना-जाना भी बना रहे।" और फिर सहसा जोश से कह उठे "पर मैं तो शादी करने का ख्याल भी नहीं रखता, बिन्तो की मृत्यु के बाद

"हाँ-हाँ कहीं भी न फँसना, बिल्कुल न फँसना। आकाश में विचरनेवाले पक्षी की भाँति आजाद, स्वतन्त्र!"—और रूप यह कहता कहता चला गया।

पं० परसराम कुछ परेशान-से वहीं कुछ क्षण खड़े रहे। एक तीव्र अट्टहास की भाँति रूप के वाक्य उनके कानों में गूंजने लगे।

रात को खाना खाते समय माँ ने गली-बाल मातावाली पं० दीनदयाल की चची की बात छेड़ी तो वे चुप सुनते रहे। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ जैसे रूप की बातों से उनके हृदय पर जो घाव लगे थे, उन पर माँ की बातें ठंडे लेप का काम दे रही हैं।

सुबह उठे, तो पं० परसराम का सिर भारी था। रात वे बहुत देर तक सो न सके थे। एक द्वन्द्व-सा सारी रात उनके मन में छिड़ा रहा था और प्रातः उठने के साथ ही जैसे ससुराल जाने की एक प्रबल आकाँक्षा उनमें जाग उठी थी। विमला की वह सरल, सुन्दर मूर्ति सारी रात उनकी आँखों में घूमती रही थी। शौचादि से निवृत्त

हो, नहा-धो, जल्दी-जल्दी खाना खा, कपड़े पहन वे तैयार हो गये। तभी दरवाजे के ऊपर टँगे हुए अपनी स्वर्गीय पत्नी के चित्र पर उनकी नजर गयी। वे खड़े के खड़े रह गये। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ जैसे चोरी करने को जाते समय उनका पाँव किसी ने पीछे से पकड़ लिया है। अपना यह कृत्य भयावह रूप धारण करके उनके सामने आ गया। कोट उतारकर खूँटी पर टाँगते हुए वे कुर्सी पर बैठ गये और मन ही मन में इस कृत्य के लिए उन्होंने अपनी पत्नी के उस चित्र के सामने हाथ जोड़कर क्षमा माँगी।

इसके बाद वे कई दिन तक अपने कमरे से बाहर न निकले। द्वन्द्व उनके मन में शान्त हो गया हो, यह बात न थी; पर उन्होंने निश्चय कर लिया था कि वे उसे शान्त कर देंगे।

इन सात दिनों में कई अच्छे-अच्छे घरों से पैग़ाम भी आये, पर परसराम अपने कमरे से बाहर ही नहीं निकले। माँ के पास भी वे नहीं बैठे कि कहीं वह गली-बालमातावाले पं० दीनदयाल की चर्चा और उनकी भतीजी का जिक्र न ले बैठें।

क्रिया-कर्म के दिन जब उनकी सास और उनकी बड़ी साली शोक प्रकट करने के निमित्त आयीं तो विमला भी उनके साथ थी। तब भी पं० परसराम सामने न आये। क्रिया-कर्म से निबटकर ऊपर अपने कमरे में जा बैठे। जा तो बैठे; पर जैसे वहाँ से उठकर बाहर जाने के लिए उनका मन व्यग्र हो उठा। विमला आयी हुई है, यह बात वे न भूल सके। रह-रह कर उनका मन उठकर खिड़की में जा बैठने के लिए, नजर-भर विमला को देख लेने के लिए व्याकुल हो उठता। अपने मन को रोकने का उन्होंने भरसक प्रयत्न किया। उनकी पत्नी का चित्र अब भी वहीं लगा था। उसे देख अपने-आपको उन्होंने कोसा भी; पर इन सब बातों के बावजूद जब

उन्होंने सुना कि वे सब जा रही हैं तो वे खिड़की में जा खड़े हुए। तभी जैसे विमला ने उधर देखा और निमिष मात्र के लिए उनका हृदय धक-धक करने लगा।

जब वे दूर निकल गयीं, तो उन्होंने खिड़की लगा ली और जाकर कुर्सी पर बैठ गये। तब फिर प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। पर इस बार वह अधिक देर तक न टिक सकी। आराम-कुर्सी पर लेट, आँखें बन्द करके वे कल्पना की सुन्दर, सुरम्य वाटिकाओं की सैर में निमग्न हो गये, जिनमें विमला की स्मिति की स्निग्ध धूप खिलती थी, उसकी सुगन्धित केशराशि के परस से भारी होकर हवा चलती थी और उसके मादक स्वर-संगीत को सुनकर सरिता कल-कल बहती थी—विमला...विमला...उन्होंने गुनगुनाया, वे उससे ही विवाह करेंगे।

तभी किसी ने कहा—बित्तो! और घबराकर उन्होंने आँखें खोल दीं। सामने दीवार पर उनकी स्वर्गीय पत्नी का चित्र टँगा था। उन्हें मालूम हुआ जैसे यह आवाज़ वहीं से आयी है। दिल धक्-धक् करने लगा। स्तब्ध बैठे कुछ क्षण वे उस चित्र को देखते रहे। फिर अचानक जैसे कोई दृढ़ निश्चय करके उठे। दरवाज़ा उन्होंने धीरे से बन्द कर दिया। चिटकनी लगा दी। तब मेज़ को घसीटकर वे दरवाज़े के पास ले आये, उस पर कुर्सी को रखा, चढ़े और चित्र को उतार लिया।

कमरे में अँधेरा छा गया था। रौशनदान के शीशों से आनेवाले धीमे प्रकाश में उनकी नज़र दायीं ओर के क़दादम शीशे में गयी और उस वक्त उन्हें अपना प्रतिबिम्ब एक प्रेतात्मा की भाँति दिखायी दिया। तभी बढ़कर उन्होंने एक समाचार-पत्र उठाया, तस्वीर को उसमें लपेटा और अन्दर कोठरी में जाकर चार ट्रंकों को उठाकर

नीचे के बड़े ट्रंक में रख आये। मेज़ को उसकी जगह घसीट, कुर्सी को उसके ऊपर से उठा, उन्होंने दरवाज़ा खोलकर बिजली का बटन दबा दिया। तब उन्होंने समझ लिया, उस आवाज़ का उन्होंने गला घोंट दिया है।

रात को खाना खाते समय उन्होंने माँ से स्वयं ही विवाह की बात चला दी।

माँ का चेहरा खिल गया। गली-आलमातावाले पं० दीनदयाल की चची की बात उन्होंने फिर चलायी। कहने लगीं—"बेटा, वे तो आज भी आयी थीं। लड़की तो भागवन्ती ऐसे सलीकेवाली, चतुर और बुद्धिमती है कि क्या कहूँ? न हो तू जाकर एक नज़र देख लेना।"

तब परसराम की आँखों में विमला की मूर्ति बैठी थी। सुन्दर चंचल आँखें, लज्जा के आवरण में लिपटी रहने पर भी, उन्हें निमन्त्रण दे रही थीं। और माँ कह रही थीं—

"बेटा, कँवारे के तो अढ़ाई पट होते हैं, रिवाज ही ऐसा है, लोग एक-दो महीने तक तो आते हैं, फिर कोई बात भी नहीं करता, मैं यह नहीं कहती कि तू कँवारा रहेगा, पर अच्छे घर-दरवाले तो पूछ-पूछकर हार जायँगे।"

अपनी कल्पना में निमग्न परसराम सुनते रहे, जैसे विमला उन्हें बुला रही थी, उन्हें कह रही थी—"जीजाजी, तुम्हारे लिए ही तो मैं इतनी दूर से आयी हूँ, इतनी दूर से— गया से......

और माँ कह रही थी, "तुम हाँ तो करो बेटा, मैं कल ही उसे बुलवा लूँ।"

परसराम ने जैसे अपने आप 'हूँ' कहा। माँ ने समझा, उसके

पुत्र को समझ आ गयी है और मन उसका फूल उठा। और पुत्र ने समझा कि गया से चलकर आनेवाली उस कान्त-कामिनी विमला ने उसे बुलाया है, और वह उसे मिलने जरूर जायगा। लम्बी साँस लेकर वे उठे।

दूसरे दिन जब उनकी माँ घर के काम-काज से निबटकर गली-वालमाता की ओर अपनी सहेली से मिलने जा रही थी, परसराम एक अत्यन्त सुन्दर, पर सूफ़ियाना सूट पहनकर अपने ससुराल की ओर अग्रसर थे।

दिसम्बर का महीना था और आकाश खिला हुआ था। सूरज जो सुबह कंजूस की भाँति अपने धन को आँचल में छिपाये था, अब दोनों हाथों से उसे लुटा रहा था। बड़े दिनों की छुट्टियों में लाहौर में एक विशेष चहल-पहल थी। दुःख को जैसे दबाकर, व्यथा को जैसे भुलाकर और अपनी विपन्नता को जैसे छिपाकर लोग घूम रहे थे। परसराम को सब ओर एक नयी स्फूर्ति, एक नया जीवन दिखायी दे रहा था। मन उनका जैसे निर्मल आकाश की गहराइयों में उड़ने वाली चीलों की भाँति पंख फैलाकर उड़ने को हो रहा था और उनका मस्तिष्क सुख के एक नये साम्राज्य का सृजन कर रहा था—जिसके राजा वे थे और रानी थी अनिन्द्य सुन्दरी विमला—तभी उनकी ससुराल आ गयी।

सास उनकी आँगन में बैठी सूत अटेर रही थी। वे चुपचाप उसके पास जा बैठे। एक बार उसने अन्यमनस्कता से पूछा—"कहो अच्छे हो!" और जब उत्तर में उन्होंने कह दिया—"आपकी कृपा है!" तो वह फिर चुपचाप सूत अटेरने लगी।

पाँच मिनट बीते, दस मिनट बीते, पन्द्रह मिनट बीते, परस-राम के लिए यह वातावरण असह्य हो उठा। खिसियाने-से स्वर में उन्होंने पूछा, "तबीयत तो ठीक है?"

उत्तर में सास ने केवल एक दीर्घ-निश्वास छोड़ा।

पं० परसराम का सारा नशा हिरन हो गया। वे बैठे क्या करें। सास के मुँह की ओर तकते रहे। वे कुछ भी तय न कर सके। हार कर उन्होंने पूछा—वे सब लोग किधर हैं?"

"क्रिया के बाद अपने घर चले गये।"

कृत्रिम हैरानी के साथ परसराम ने पूछा, "गया!"

"नहीं अभी गया कैसे जायँगे, विमला का विवाह करके ही वापस लौटेंगे।"

"तो कहाँ सगाई की?"—परसराम ने जैसे बेपरवाही के साथ पूछा—

"यहीं शहर में की है। आज ही शगुन देकर आये हैं, तुम तो माने ही नहीं और उनको वापस भी जाना है।"

शहीदी भाव से वे बोले, "मैं कैसे मान सकता, सावित्री की मृत्यु के बाद इतनी जल्दी......"

सास बोली, "मुझसे तो उन्होंने अनुरोध किया था, पर मैंने कह दिया, भाई उसके दिल पर बड़ी चोट लगी है, वह न मानेगा इतनी जल्दी......"

परसराम ने दिल में जैसे रोते हुए कहा, "अच्छा किया, अच्छा किया" और प्रणाम करके सास से छुट्टी ली और उठ आये।

घर पहुँच कर वे खट-खट सीढ़ियाँ चढ़ गये। माँ ऊपर आँगन में बैठी मटरों से दाने निकाल रही थी। उन्हें आते देखकर उसने शिकायत भरे स्वर में कहा, "बेटा तुमने बड़ी देर कर दी।

गली बालमातावाले पं० दीनदयाल और उनकी चची......"

गरज कर पं० परसराम ने कहा, "तुम पागल हो गयी हो क्या, यदि वह तुम्हारी लड़की होती तो तुम्हें अपने दामाद का इतनी जल्दी शादी कर लेना भाता क्या......?

और धम-धम पैर रखते वे अन्दर अपने कमरे में जाकर सूट समेत ही बिस्तर पर लेट गये।

मटर की फली माँ के हाथ से गिर गयी और चकित सी, भौंचक्की सी वह उसी शून्य में देखती रह गयी।

आर्टिस्ट

प्रोफेसर साहब ने कहा, "मैं जी-जान से प्रस्तुत हूँ, पर की आपने जबर्दस्ती। मुझसे पूछे बिना मित्रों को वचन दे आये। उनकी दावत का क्या कहना, सेर भर दूध लाये और बीस आदमियों की चाय कर दी। अधिक होगा, चार डबल रोटियाँ और आ जायँगी।"

मैंने कहा, "मुझ से भूल हो गयी, परन्तु एक बात थी जो मैंने उनका कहना मान लिया। उन्हें मालूम है कि आप मुझ पर कृपा रखते हैं। यदि मुझे आप का भरोसा न होता तो कभी 'हाँ' न करता। यों दावत उनकी बहुत भारी है, सब ने पाँच-पाँच रुपये चन्दा इकट्ठा किया है।"

"अजी, हम क्या दावतों के भूखे हैं? बड़े-बड़े राजाओं महा-राजाओं के यहाँ जाते हैं, एक-एक बैठक में सौ-सौ रुपये ले लेते हैं।

वैसे तो यहाँ से हिलते तक नहीं, जिसे गाना सुनने का शौक हो, यहाँ चला आय। उस दिन वह श्यामबिहारी दस रुपये दे रहे थे, घंटे मात्र के लिए जाना था, पर मैंने साफ़ इनकार कर दिया।"

"दस रुपये देना आपका अपमान करना था" मैंने कहा, "ऐसे ही लोगों ने तो कला की क़द्र घटा दी है।

"ख़ैर! तबले का प्रबन्ध किया है तुमने?" उन्होंने तनिक नर्म होकर पूछा, "तुम जानते हो, अभी कोई तबलची नहीं रखा।"

"जस्सो को ले चलेंगे," मैंने उत्तर दिया।

"पहले बताते तो बीस प्रबन्ध कर देता," प्रोफ़ेसर साहब ने कहा, "पर ख़ैर, अब जस्सो को ही तैयार कर लेना, दो रुपया दे देना।"

"इसका प्रबन्ध हो जायगा।"

"तानपूरा भी ले चलें?"

"ले चलिए, इसके बिना शान क्या होगी? मैं छेड़ लूँगा।"

मैं दौड़ कर एक कुली बुला लाया। प्रोफ़ेसर साहब ने बाजा, तबला और तम्बूरा उसके हवाले किया और स्वयं अचकन और चूड़ीदार पाजामा पहन तैयार हो गये। सिर पर उन्होंने रागियों जैसी पगड़ी बाँधी—बिजली रंगी और लटकेदार और रेशमी रूमाल जो वर्षों से ऊपर की जेब की शान बनता आ रहा था, यथास्थान रखा। एक बारह आने वाला फाउन्टेन कलम भी, जो दूर से 'ब्लैक-बर्ड' दिखायी देता था, रूमाल के ऊपर सजाया, छड़ी उठायी और चल पड़े। मार्ग में जस्सो को भी साथ ले लिया गया।

प्रोफ़ेसर साहब माने हुए गायक थे। आपके स्वर में दर्द था,

लोच था, और लय थी। प्रसिद्ध भी आप काफी थे। पर हाल पतला था। शिमला के मिडल बाजार में एक छोटा सा कमरा उन्हों ने ले रखा था। कुछ इधर-उधर से माँग कर सजा भी लिया था। किराया किसी न किसी तरह पहले दे चुके थे, परन्तु रोटियों के लाले पड़े रहते थे। गाने के शौकीन तो बहुत हैं, पर दाम देकर सुनने वालों का अभाव है।

लेकिन मैंने उन्हें कुछ रुपये दिलाने का प्रबन्ध कर रखा था।

गाना हुआ। आपने उस दिन कमाल कर दिया। इतने में खाना तैयार हो गया। भाँति-भाँति के भोजनों की सुगन्ध से बहुतों को जोर की भूख लग आयी। किन्तु प्रोफेसर साहब उठ खड़े हुए। मैंने कहा, "खाना तो कम से कम यहीं खाइएगा।"

"कृपा आपकी, मेरी तबीयत कुछ खराब है।"

बहुत जोर देने पर भी प्रोफेसर साहब न रुके। मैंने जलसे को दो रुपये दिला दिये और मन्त्री को संकेत किया। उसने धन्यवाद देते हुए पन्द्रह रुपये के नोट आपकी सेवा में पेश किये।

प्रोफेसर साहब ने उन्हें लौटा दिया और कहने लगे, "यदि इसी भाँति मेरा अपमान करना था तो मुझे यहाँ क्यों लिवा आये? मैं तो मित्रता के नाते चला आया, नहीं तो पचास से कौड़ी कम नहीं लेता। दस-दस क्या, दो-दो पर आने वाले बहुत मिल जायँगे, उन्हें बुला लिया होता।"

मैंने क्षमा माँगी, प्रोफेसर साहब चले गये।

उसी दिन सन्ध्या को मैंने होटल में देखा, जस्सो ने रौग़न जोश की दो प्लेटें मँगायीं और पैग भी चढ़ाया। जब प्रोफेसर साहब को मिला तो उनका चेहरा उतरा हुआ था, उन्होंने खाना नहीं खाया था।

मैंने पूछा, "आपने खाना नहीं खाया आज ?"

"तबीयत ठीक नहीं !"

और कुछ दूर जाकर मुझे बातों में निमग्न देख आपने दो पैसे के गरम-गरम चने लिये और एक-दो फँके मार कर जल्दी-जल्दी चले गये। मुझे पूरा विश्वास है, यदि मैं चने ख़रीदने के सम्बन्ध में प्रश्न करता तो आप उत्तर देते :—

"ज़ुकाम है, गरम चने सूँघने से आराम हो जाता है।"

पुनर्मूषक

'नील कमल' जी का पूरा नाम तो घासी राम था, परन्तु यह बात कुछेक मित्रों के अतिरिक्त किसी दूसरे को ज्ञात न थी। साधारण जन तो उन्हें घ० र० 'नील कमल' के ही नाम से जानते थे। यह घ० र० क्या बला है? इस की व्याख्या अपने आप को समझाने के लिए वे कई तरह से कर लेते थे। अधिकांश का मत यह था कि घ० उनके पिता के नाम का द्योतक है और र० उनके अपने नाम का और 'नील कमल' उनका गोत्र है। आपत्ति करने वाले यदि यह कहते पंजाब और यू० पी० में अपने नाम के साथ अपने पिता, गाँव, तहसील का नाम देने की प्रथा नहीं तो उन्हें समझा दिया जाता कि गुजरात के प्रसिद्ध विचारक र० घ० पाटन वाला (जिनके बहुत से विचार हिन्दी के द्वारा हम तक पहुँच चुके हैं) और हिन्दी के ख्याति-प्राप्त लेखक फ० टी० वैशम्पायन की देखा-देखी हिन्दी वाले भी इस

रीति से अपने द्वारा अपने पिता का नाम रौशन करना और यदि पिता का नाम रौशन है तो स्वयं उस का लाभ उठाना बुरा नहीं समझते। रहा गोत्र, तो जहाँ पंजाब में भल्ला, पकौड़ी, बहल, टहल, कक्कड़, मक्कड़ आदि और सिंध में पानी की तर्ज पर बाबलानी, मलकानी, खिलनानी, सुरमेदानी और महाराष्ट्र में पत्थर की तर्ज पर ठक्कर, नक्कर, फड़कर, वरोकर बोंदे, बोगड़े आदि गोत्र हो सकते हैं तो 'नील कमल' ऐसा सुन्दर गोत्र क्यों नहीं हो सकता।

कुछ भी हो हिन्दी में इस प्रथा के आरम्भ ने नील कमल जी की बड़ी सहायता की और माता-पिता ने उन्हें कुदृष्टि से बचाने के लिये उन का जो दृष्टि-प्रूफ़ नाम रखा था, उसे मित्र-शत्रुओं के उपहास की दृष्टि से बचाने का उपाय सुझा दिया। घासी राम जी की सूरत-शक्ल कुछ ऐसी न थी कि उन्हें कुदृष्टि का डर होता पर बात वास्तव में यह थी कि उन के माता-पिता के सन्तान होकर मर जाती थी। उनके स्व० भाइयों के नाम उनके माता-पिता ने बड़े उत्साह से सुरेन्द्र नाथ, देवेन्द्र नाथ आदि रखे थे। पर जब वे सब के सब अपने जन्म के कुछ मास अथवा कुछ वर्ष बाद काल-कवलित हो गये तो 'नील कमल' जी तक पहुँचते पहुँचते उनका उत्साह ठंडा पड़ चुका था। उन के जन्म पर उन्होंने हतोत्साह होकर विनम्रता-वश अपने काल्पनिक शत्रु की कुदृष्टि से नवजात-शिशु को बचाने के हेतु यह सीधा सा नाम रख दिया—घासी राम। प्रथा भी ऐसी है। इसी प्रथा की फैक्टरी से प्रति वर्ष फ़कीर चन्द, साधूराम, टीकमलाल, घुहड़ चन्द, कौडूमल आदि न जाने कितने दिलचस्प नाम निकलते हैं। उनके माता-पिता की यह युक्ति बड़ी सफल सिद्ध हुई। अपने से पहले और अपने से बाद आने वाले अपने भाई बहनों में केवल घासी राम जी बचे। बच तो गये, पर जब उन्होंने कुछ होश

सम्हाला और बचपन से लेकर युवावस्था तक कुछ अपने रूप रंग और कुछ इस नाम के कारण वे अपने साथियों के उपहास का कारण बने, तो यह नाम उन्हें इस हद तक अखरने लगा कि एक दिन वे घासी राम से घ० र० बन गये। लेकिन घ० र० के साथ एक और शब्द की आवश्यकता पड़ी जिससे कि उनके मित्र अथवा पाठक (उन्हीं दिनों उन्होंने कविता करना आरम्भ किया था) उन्हें पुकार सकें।

'नील कमल' जी का गोत्र बड़ा अच्छा था—'सोनरेक्सा।' उन्होंने एक बार एक कार्ड पर बड़े सुन्दर अक्षरों में गोत्र सहित अपना पूरा नाम—घासी राम सोनरेक्सा— लिख कर ओरियंटल कालेज के हॉस्टल में अपने कमरे के दरवाजे पर लगा भी दिया था। पर उनके मित्र पिछले 'स' को 'श' पुकारते थे। इसके अतिरिक्त 'सोनरेक्सा' पुकारने में उन्हें कुछ कठिनाई होती थी। इसलिए वे उन्हें सोनरिक्शा जी पुकारने लगे। और सोनरिक्शा से क्योंकि—सोने की रिक्शा का बोध होता था, इसलिए उनके सहपाठियों ने उन्हें सोने की रिक्शा वाला बना दिया। जब भी कोई उनसे मिलने आता और उनके कमरे का पता पूछता तो उनके साथी सदैव उससे प्रश्न करते—"क्यों जी, आप किन घासी राम से मिलना चाहते हैं? सोने की रिक्शा वाले घासी राम से अथवा दूसरे से।" एक दिन नील कमल जी ने यह सुन लिया। बस, उसी दिन न केवल कार्ड उतार कर उन्होंने फेंक दिया वरन इस गोत्र से भी विरक्त हो उठे। इस विरक्ति का एक दूसरा कारण भी था। नील कमल जी कवि थे। उनके मित्रों का और उनका अपना भी यह विचार था कि यदि वे अभ्यास जारी रखें तो 'निराला' से किसी तरह पीछे न रहेंगे। भगवान ने उन्हें डील डौल भी निराला का सा दिया था। भावुक-

हृदय और प्रतिभा-सम्पन्न मस्तिष्क दिया था। फिर उनके निराला बनने में उस सर्व-शक्तिमान को क्या आपत्ति हो सकती थी। जबकि इस सम्बन्ध में वे स्वयं भी ज़ोर लगाने को तैयार थे। इसी कारण उन्हें अपने भावी पाठकों की बड़ी चिन्ता रहती थी। चन्द्र मणि सोनरेक्सा या चारु चन्द्र सोनरेक्सा तो ठीक पर घासी।राम सोनरेक्सा······एक तो कड़वा करेला दूसरे नीम चढ़ा······उनको विश्वास था कि नाम पढ़ कर ही न केवल सम्पादक बिन पढ़े कविता लौटा देंगे, बल्कि यदि किसी ने छाप भी दी तो पाठक कविता वाला पृष्ठ पलट देंगे। उन्हीं दिनों वे 'चित्र लेखा' फ़िल्म देखने गये और जब उन्होंने उसका गाना 'नील कमल मुस्काये' सुना तो उनकी समस्या हल हो गयी। घ० र० बनने का निश्चय उन्होंने उसी दिन कर लिया था जिस दिन एक लेख पर उन्होंने क० टी० वैशम्पायन लिखा हुआ देखा था। सोनरेक्सा से वे घबराते थे सो 'चित्र लेखा' ने उनकी मुश्किल आसान कर दी। उसी दिन से वे घ० र० नील कमल बन गये।

नील कमल जी मैट्रिक तो थे, पर उसके बाद कालेज में प्रवेश करने की सुविधा न होने के कारण हाथ धोकर संस्कृत की परीक्षाओं के पीछे पड़ गये थे। तब उनका विचार था कि शास्त्री करके किसी न किसी प्रकार मात्र अँग्रेजी में एम० ए० करेंगे और जीवन को अध्यापन के शुभ काम में लगायेंगे। परन्तु तभी जब वे एक शाम 'चित्र लेखा' देख कर आये, उन्होंने रात भर में एक साथ कई गीत सृज डाले और उपनाम भी रख लिया। मित्रों ने उनके गीत सुने, डील डौल को देखा और उनके उपनाम की घोषणा सुनी तो फ़तवा

दे दिया कि उनमें महाकवि बनने की अपार प्रतिभा है और अध्यापक का नीरस जीवन उन जैसे प्रतिभावान् के लिए नहीं बना। अपने मित्रों का यह फ़तवा सुन कर 'नील कमल' जी ने भी मन ही मन निश्चय कर लिया कि वे उच्च कोटि के कवि बन कर ही दम लेंगे। बड़ी निष्ठा से उन्होंने गीत लिखने आरम्भ कर दिये और दिनों ही में महाकवि टैगोर के अनुसरण में 'गीतांजली' सृज डाली। उनके मित्रों ने भी घोषित कर दिया कि यदि इस पर 'नोबेल पुरस्कार' नहीं मिलता तो इसका एक मात्र कारण यही हो सकता है कि टैगोर सम्पन्न थे, विलायत जा सकते थे, बड़े बड़े कवियों से भूमिका लिखवा सकते थे और 'नील कमल' जी विपन्न हैं।

मित्रों की यह बात सुन कर 'नील कमल' जी को पहली बार प्रचार और पत्र-पत्रिकाओं का ख़्याल आया और उन्होंने पत्र-पत्रिकाओं पर गीतों और कविताओं की ब्लिट्ज़ (Blitz) कर दी।

उनकी कविताएँ वापस आ गयीं। जो वापस नहीं आयीं, वे छपी नहीं। तब अपने मित्रों के परामर्श से उन्होंने निश्चय किया कि वे स्वयं समाचार-पत्र अथवा कोई मासिक-पत्रिका निकालें। पत्र अथवा पत्रिका निकालने के लिए बड़ी पूंजी और पूंजी से अधिक अनुभव ज़रूरी था। 'नील कमल' जी के पास दोनों का अभाव था। परन्तु एक बार जब बात उनके मन में समा गयी तो फिर उन्हें रोकना देवताओं के वस में भी न था। शास्त्री पास करते ही कविताओं के पुलंदे बग़ल में दबाये वे लगे पत्र-पत्रिकाओं के आफ़िसों, उनके सम्पादकों और व्यवस्थापकों और संचालकों के घरों का चक्कर लगाने। अत्यधिक प्रयास करने पर भी उन्हें किसी पत्र-पत्रिका के सम्पादन विभाग में नौकरी न मिली। घासी राम जी हतोत्साह नहीं हुए। अपने प्रयास उन्होंने जारी रखे। आख़िर

उनकी इस 'घोर-निष्ठा' से प्रभावित होकर एक व्यवस्थापक ने उन्हें अपने विभाग में बीस रुपये मासिक पर क्लर्क रख लिया। काम उनका था घूम फिर कर विज्ञापन-दाताओं के यहाँ से रुपये उगाहना और चपड़ासी से लेकर एकाऊंटेंट तक, दफ़्तर के समस्त छोटे मोटे काम करना।

चन्द महीने 'नील कमल' जी ने उस जगह काम किया और सम्पादक की मिन्नत-समाजत से उस पत्र में अपने चन्द गीत छपवा दिये। अपने इसी चन्द महीने के अनुभव और उन चन्द छपे हुए गीतों की पूंजी से उन्होंने 'नव-निर्माण' के व्यवस्थापक का स्थान प्राप्त कर लिया। वेतन तो उनका वही बीस रुपये रहा, पर पत्र के स्वामी ने उन्हें यह आश्वासन दिया कि यदि वे अपने परिश्रम के बल पर पत्र को बन्द होने से बचा दें, 'नव-निर्माण' उस समय अवसान की ओर त्वरित-गति से अग्रसर था, तो जो भी लाभ हो, उसमें आधा उनको मिलेगा।

परन्तु 'नील कमल' जी व्यवस्थापक बनने तो आये न थे। व्यवस्थापक बनते ही उन्होंने सम्पादक को आदेश दिया कि पत्र बड़ा नीरस है और इसमें कुछ रस उत्पन्न करना चाहिए और इस काम में उसकी सहायता करने के विचार से अपने गीत उसे दिये। सम्पादक स्वयं अपने आप को 'टैगोर' से कम न समझता था और मुफ़्त में सम्पादन करता था। उसने इस नोट के साथ कि—'आप व्यवस्थापन तक ही अपनी सरगर्मियों को सीमित रखें'—कविताएँ लौटा दीं। नोट पढ़ कर नील कमल जी बड़े नीले-पीले हुए और दूसरे ही दिन न केवल वे पत्र के व्यवस्थापक थे वरन् सम्पादक भी।

हुआ यों कि उस शाम जब वे मालिक से मिलने गये (वे रोज

संध्या को वहाँ हाजरी देने जाते थे।) उन्होंने उसको समझाया कि पत्र की संख्या में कमी होने का बड़ा कारण यह है कि सम्पादक निरा बुद्धू है और पत्र में तनिक भी रस नहीं। जब मालिक ने उन्हें बताया कि वह तो मुफ्त में काम करता है तो उन्होंने समझाया कि इसी कारण वह उसमें रस नहीं उत्पन्न कर सकता। उसका अधिक समय दूसरे पत्रों में काम करने में गुजरता है। हमारा पत्र तो वह कैंची की सहायता से भरता है। और सम्पादक के रूप में जो उसका नाम जाता है, उसका लाभ उठाता है, और उन्होंने मालिक से कहा कि वे स्वयं सम्पादक का भार भी सम्हालेंगे। उन्हें वेतन नहीं चाहिए। बस लाभ पर चलने लगे तो वे आधे के भागी होंगे।

उनका डील डौल, निष्ठा और उत्साह देख कर मालिक बड़ा प्रभावित हुआ और उसे विश्वास हो गया कि उसका पत्र, जिसे वह नित्य बन्द करने की सोचता था, अब फिर अपना पुराना गौरव पा लेगा। 'नील कमल' जी पत्र के सम्पादक बने और पहला अंक जो उनके सम्पादन में निकला, उसके पहले पृष्ट पर उनकी कविता थी।

कविताओं के प्रचार की चिन्ता मिटी तो 'नील कमल' जी पत्र की प्रकाशन-संख्या बढ़ाने की ओर लगे। लेकिन यहीं पहुँच कर उनकी गाड़ी ऐसी दलदल में फँसी कि अपने वृषभ-कंधों से वे जोर लगा लगा कर हार गये, उसे रंच-मात्र भी आगे न बढ़ा सके।

एक अनुभवी पत्रकार का कहना है कि पत्र-पत्रिकाओं का जीवन भी मानव-जीवन ही सा उन्नति और अवनति की सीमाओं में बद्ध है। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ मानव गिर कर भी उठते

देखे गये हैं, वहां कोई पत्रिका, जो एक बार गिरी, उठती नहीं देखी गयी। लेकिन 'नील कमल' जी नेपोलियन ही की भाँति 'असम्भव' को कायरों के शब्द-कोष की चीज़ बताते थे। उन्होंने इस डूबे हुए पत्र को उभारने के लिए दोहरा प्रयास आरम्भ कर दिया।

जहाँ तक सम्पादन का सम्बन्ध है, उन्होंने नये नये सतम्भ सोच निकाले। अग्र लेख, नोट, कहानियाँ, कविताएँ तो पहले भी होती थीं। 'नील कमल' जी ठहरे कवि। वे पत्र की ऊबा देने वाली विर-सता को एकदम सरस बना देना चाहते थे। सो उन्होंने 'पद्य संसार' 'गद्य-वाटिका' 'रजत पट के पीछे से' 'रंग मंच के आगे से' 'प्रान्त के कोने कोने से' 'मार्केट के बीचो बीच से' आदि कई नये स्तम्भ स्थापित किये। एक मित्र की सहायता से इब्सन और मैत्रलिंक के अनुवाद अपने साप्ताहिक पत्र में प्रकाशित किये। उन दिनों पत्रकार-जगत में विशेषांकों का ज़ोर था। 'कमल' जी ने महीने के चारों अंक चार-विशेषांक बना डाले और 'गृहस्थी अंक' से लेकर 'वेश्या अंक' तक निकाल दिये।

व्यवस्थापन-पक्ष में उन्होंने पहला काम जो किया, वह यह था कि उन्होंने पत्र के मुख्य-पृष्ठ पर—'उत्तरीय भारत के मुख्यतम बहु-संख्यक'—छपवा दिया और पत्र के पुराने आडिटर से उस समय का सार्टिफ़िकेट ले लिया जब पत्र छकड़ों पर लद कर डाकखाने जाता था। उसपर की तारीख़ उड़ा कर इस का ब्लाक बनाया और उसे पत्र में छपवा दिया और प्रतियाँ सभी विज्ञापन दाताओं को भेज दीं। इसके साथ ही उन्हों ने कई औषधिओं और पुस्तकों के रिव्यू, बिना वे औषधियाँ और पुस्तकें पाये छाप दिये।

सम्पादन और व्यवस्थापन में इन सुधारों के पश्चात् 'नील-कमल' जी को पूरा भरोसा था कि जहाँ एक ओर पत्र की ग्राहक

संख्या बढ़ेगी, वहाँ विज्ञापन भी जूतों की भाँति बरसने लगेंगे। लेकिन जब दोनों में से कोई बात न हुई और मैनेजरी और संम्पादकी के अतिरिक्त उन्हें पत्र के मालिक तथा मालकिन की फ़रमाइशें पूरी करने को बाध्य होना पड़ा तो वे बड़े दुखी हुए। मालिक पत्र को बन्द करना चाहते थे। इस के साथ ही 'कमल' जी को अपने सब स्वप्न भंग होते दिखायी देते थे। उन्होंने वेतन लेना छोड़ दिया था। रोटी मालिक के घर ही खा लेते थे। लाभ होने पर आधे के भागीदार होने की शर्त के कारण एक दिन पत्र के एक मात्र स्वामी होने का तो उन्हें पूरा विश्वास था ही, पर एक पत्र के स्वामी होकर 'पत्र-शृंखला' के संचालक होने, अपना बंगला और मोटर रखने के स्वप्न भी वे नित्य देखा करते थे। जब पत्र का स्वामी पत्र बन्द करने की धमकी देता तो उन्हें अपने समस्त स्वप्न-महल धराशाई होते दिखायी देते। इसी कारण उन्हों ने वेतन लेना छोड़ दिया था और मालिक तथा मालकिन की छोटी मोटी फ़रमाइशें पूरी कर देते थे कि किसी प्रकार पत्र बन्द न हो और उनके स्वप्न न टूटें।

एक दिन जब वें कड़कती धूप में डेढ़ मील चल कर मालकिन के लिये कोयले लाये और कोयलों की दलाली में हाथ-मुँह काला करने के उपरान्त भी उन्हें सुनना पड़ा कि कोयले अच्छे नहीं आये तो वे खिन्न-मन से आकर दफ्तर में बैठ गये। उन की खिन्नता दूर करने के लिए न कोई विज्ञापन आया, न कोई मनीआर्डर! लेकिन तभी सहसा एक साप्ताहिक के पन्ने पलटते पलटते उन्हें एक ऐसी चीज़ दिखायी दी कि वे फड़क उठे। उल्लास के मारे उनके लिए कुर्सी पर बैठे रहना कठिन हो गया। यह चीज़ थी बलदेव स्वामी के 'ईश्वरीय कवच' का विज्ञापन।

बलदेव स्वामी प्रसिद्ध विज्ञापन-दाता थे और उनका पूरे पृष्ठ का विज्ञापन प्रायः पत्र-पत्रिकाओं के विशेषांकों में निकलता था। अपने कवच के सम्बन्ध में उनका दावा था कि वह विशेष सूर्य-ग्रहन के दिन विशेष मन्त्रों की सहायता से उन्होंने तैयार किया है। जो उसे दस रुपये की नगण्य-राशि व्यय कर अपनी भुजा पर बाँधेगा, उसकी समस्त कामनाएँ पूरी हो जायँगी। गरीबी दूर हो जायगी, लक्ष्मी क्रीत दासी बनी हर समय इच्छा पूरी करने को प्रस्तुत रहेगी। रूठी हुई प्रेमिका अपने आप आकर गले का हार बन जायगी। परीक्षा-फल सदैव अच्छा होगा। कारोबार में कभी घाटा न होगा। नाराज़ हाकिम प्रसन्न होगा और प्रसन्न हाकिम, हाकिम होने पर भी दास बन जायगा आदि आदि...... क्योंकि नवयुवकों के आगे उन्नति का पूरा क्षेत्र होता है और प्रेमिका को बस में करने की चिन्ता भी अधिकतर उन्हीं को सताया करती है, इस लिए देश की बढ़ती-पौध के लाभ-हेतु स्वामी जी ने शिक्षार्थियों के लिए उस का मूल्य आधा कर दिया था। और बड़ी बात यह थी कि मुख्यध्यापक का सार्टिफिकेट साथ भेजने की कैद न थी। जो भी छात्र चाहे पाँच रुपये भेज कर कवच मँगा सकता था।

'नील कमल' जी ने (जिन दिनों वे 'चित्र लेखा' देखने गये थे और उन पर नया नया कवि बनने का भूत सवार हुआ था और 'चित्रलेखा' सी एक सुन्दरी ने उनके मन को मोह लिया था) किसी न किसी प्रकार पाँच रुपये जुटा कर एक कवच मँगाया था। उस समय लाभ तो क्या होता, उल्टे हानि हुई थी। यदि वे अपनी गांधी टोपी उतार कर, लड़की के पिता के चरणों पर रख, गिड़गिड़ाना और अपनी प्रेमिका को बहन से लेकर माँ तक घोषित करना आरम्भ न कर देते तो न जाने उन की क्या दुर्गति होती, परन्तु इस समय जब

उन्होंने यह विज्ञापन पढ़ा तो उन्हें ऐसा लगा जैसे अँधकार में स्वर्ण-किरण उतर आयी हो और यद्यपि पहले इस कवच ने चाहे उन्हें जूते ही खिलवाये थे, पर अब वह उन्हें सब कठिनाइयाँ दूर करने वाला दिखायी दिया।

तनिक सोच कर उन्होंने कलम-दवात उठायी और स्वामी जी को एक पत्र लिखा जिस में पहले उनके कवच की प्रशंसा की, फिर अपने साप्ताहिक की, फिर बताया कि उन्होंने आते ही उस का जीर्णोद्धार कर दिया है और उसकी प्रकाशन-संख्या कुछ उनके सम्पादन और कुछ व्यवस्थापन के कारण उत्तरोत्तर बढ़ रही है। अन्त में उन्होंने स्वामी जी को नेक-सलाह दी कि यदि वे अपना विज्ञापन 'नव-निर्माण' में देंगे तो उन्हें बड़ा लाभ होगा।

स्वामी जी को पत्र लिख कर अपने जोश में 'नील कमल' जी ने दूसरे विज्ञापन-दाताओं को भी चिट्ठियाँ लिखी थीं, परन्तु उस ओर से उन्हें किसी प्रकार की सफलता की आशा न थी। स्वामी जी का विज्ञापन मिल जाने का उन्हें पूरा विश्वास था, एक बार स्वामी जी का विज्ञापन मिल जाय, फिर क्या बात है। तब दूसरे विज्ञापन ले लेना उनके लिए बायें हाथ का काम था। जब 'ईश्वरीय कवच' का विज्ञापन पूरे पेज में छपेगा तो फिर कौन विज्ञापनदाता है जो उन्हें विज्ञापन न देगा।

स्वामी जी अमृतसर में काम करते थे। दो, और अधिक से अधिक तीन, दिन बाद उनका पत्र आने की आशा थी, पर 'नील कमल' जी सप्ताह भर वहाँ से पत्र और विज्ञापन आने की बाट देखते रहे। और इधर पत्र के बन्द करने की धमकी पत्र के स्वामी की ओर से प्रति दिन बढ़ने लगी।

पहले पहल 'नील कमल' जी ने सोचा कि स्वामी जी को दिन में

बीसियों पत्र-आते होंगे, इतनी जल्दी सब का उत्तर कैसे दे सकते हैं। पर फिर सोचने लगे कि 'नव-निर्माण' में विज्ञापन देने का तो उन्हें लाभ ही था। फिर यह सोच कर मन को समझाया कि आखिर विज्ञापन आदि बनाने में देर लग जाती है और स्वामी जी, तो बीसियों पत्र-पत्रिकाओं में विज्ञापन देते होंगे।

होते होते पन्द्रह दिन बीत गये। एक दिन 'नील कमल' जी दफ्तर में आकर बैठे तो डाकिये ने कुछ पत्र-पत्रिकाओं और कुछ चिट्ठियों का बंडल उन्हें दिया। आशा और निराशा के मध्य झकोले खाते हुए उन्हों ने चिट्ठियाँ खोलीं। सब के सब नवीन लेखकों के पत्र थे, जिन के साथ कविताएँ कहानियाँ और लेख थे। उन्हें रद्दी की टोकरी में फेंक, 'कमल' जी अन्यमनस्कता से एक पत्र खोल कर देखने लगे। 'राग-रंग' ने अपना मनोरंजन-अंक निकाला था। पहले ही पृष्ठ पर बलदेव स्वामी राज-ज्योतिषी का विज्ञापन था। 'नील कमल' जी उसे देखते ही सहसा चौंके। मोटे मोटे अक्षरों में लिखा था।

ईश्वरीय कवच का चमत्कार

मैनेजर-सम्पादक नव-निर्माण लिखते हैं

'आदरणीय स्वामी जी ?

देर हुई जब मैंने आप से एक कवच पाँच रुपये में मँगाया था। भगवान को साक्षी करके कहता हूँ, उसे पहनने से मुझे बड़ा लाभ हुआ। मेरे हृदय में बचपन ही से किसी पत्र का सम्पादक बनने की बड़ी लालसा थी। आप को यह जान कर प्रसन्नता होगी कि आप के कवच की बदौलत मैं आज 'नव-निर्माण' जैसे प्रसिद्ध साप्ताहिक

का मैनेजर ही नहीं, सम्पादक भी हूँ। सचमुच आप का कवच अचूक और ईश्वरीय है।"

ये वही शब्द थे जो 'नील कमल' जी ने स्वामी जी को लिखे थे।

क्रोध के मारे 'नील कमल' जी का खून खौलने लगा। 'राग-रंग' का वह अंक उठा कर उन्होंने धरती पर पटक दिया। तभी चपड़ासी ने एक चिट्ठी लाकर उनके हाथ में दे दी। मालिक की ओर से थी। जिस में उन्हें सूचित किया गया था कि वे पत्र बन्द कर रहे हैं और दफ्तर उन्हों ने 'राग-रंग' को बेच दिया है।

'नील कमल' जी ने आग्नेय दृष्टि से 'राग रंग' पर छपे हुए 'ईश्वरीय-कवच' के विज्ञापन को देखा और चपड़ासी को दफ्तर सौंप कर बाहर निकल आये।

कुछ दिनों बाद मित्रों ने उन्हें फिर उसी बीस रुपये की कुर्सी पर बैठे देखा। यद्यपि इस बात को वर्षों बीत गये हैं, पर 'नील कमल' जी बड़ी निष्ठा के साथ उसी कुर्सी पर जमे हुए हैं। युद्ध के कारण उनका वेतन चालीस रुपये हो गया, पर मँहगाई के ख्याल से उनकी उन्नति नहीं वरन् अवनति ही हुई, क्योंकि युद्धकाल के चालीस रुपये पहले के दस रुपयों के बराबर हैं।

नील कमल जी ने न केवल अपना उपनाम छोड़ दिया है वरन् वे फिर घ० र० से विशुद्ध घासी राम हो गये हैं। अब न उन्हें गोत्र की अपेक्षा है न उपनाम की।

तमाशा

यह दुर्घटना कैसे घटी, यह डबल-दुर्घटना? (इसे दुर्घटना न कहा जाय, तो क्या कहा जाय?) यह मैं ठीक तरह से नहीं कह सकता। यों मेरे दूसरे मित्र इसका कारण दीन दयाल की मूर्खता अथवा बैजनाथ की लम्पटता और न जाने क्या-क्या बताते हैं। परन्तु मेरा विचार है कि कारण एक न था। जिस प्रकार अकेला चलता-चलता कोई एक व्यक्ति दो नहीं बन सकता, जब तक कि उसके साथ कोई दूसरा न आ मिले, इसी प्रकार दीन दयाल की गिरफ़ारी और बैजनाथ के सिर फूटने का भी कोई एक कारण नहीं। मुसीबत यह है कि मुझ से कोई पूछता ही नहीं। पूछे, तो मैं इसके कारणों की रूप-रेखा कुछ ऐसे बनाऊँ—

१—द्वितीय महायुद्ध के समय में सी० एम० ए० (कन्ट्रोलर ऑफ मिलिट्री एकाउंट्स) के स्टाफ की वृद्धि। क्लर्कों का आधिक्य

और काम की कमी।

२—काम कम होने के वावजूद दफ़्तर में आठ घंटे बैठने की क़ैद—इसका स्वाभाविक परिणाम—अवकाश !

३—दीन दयाल का इस अवकाश को ज्ञानार्जन में लगाना और इधर-उधर की पुस्तकें पढ़ते-पढ़ते राजनीति में दिलचस्पी लेना तथा फ्रांस, रूस तथा चीन की क्रान्ति पर पुस्तकें पढ़ना। फलस्वरूप अँगरेज़ अफसरों और उनके बूट चाटने वाले हिन्दुस्तानी हेड-क्लर्कों के प्रति उसके हृदय में तीव्र-घृणा का उत्पन्न होना।

४—ऐसी ही मनःस्थिति में उसकी बहन का बीमार होना, दफ़्तर में उसका देर से आना, हेडक्लर्क का डाँटना और दीन दयाल का उसकी डाँट का उत्तर डाँट से देना। मामले का कैप्टन से होते हुए कर्नल तक पहुँचना।

५—ऐन उस दिन वैजनाथ की जेब का खाली होना।

जी हाँ, वैजनाथ की जेब का खाली होना ! अब मेरे मित्र मेरे इस विश्लेषण पर हँस देंगे। परन्तु, सच मानिए, वैजनाथ की जेब के ख़ाली होने का इस डबल-दुर्घटना से बड़ा गहरा सम्बन्ध है।

•

वैजनाथ उन लोगों में से है, जो इस जीवन को महज-तमाशा समझते हैं। अपने-आप को साधु, संन्यासी समझ कर इस तमाशे से मुँह नहीं मोड़ते, न ही दार्शनिकों की भाँति निर्लिप्त-भाव से इसे देखते हैं, बल्कि तमाशाई बनकर इसमें रस लेते हैं। वैजनाथ का यह दोष समझिए कि उसे भलाई-बुराई से मतलब नहीं, तमाशे से मतलब है। दुखद से दुखद स्थिति में भी वह रस ले लेता है। आत्मा नाम की चीज़ उसके अन्तर में कदाचित् ऐसी गहरी

नींद सोयी पड़ी है, कि उसके अस्तित्व का भी उसे ज्ञान-नहीं। रीति-नीति, आचार-व्यवहार, देश-काल, किसी बात का उसे ध्यान नहीं रहता। देश में स्वाधीनता के लिए अंतिम-संग्राम हो रहा है; देश की संस्कृति के टुकड़े-टुकड़े हो रहे हैं; साम्प्रदायिकता की आग कलकत्ते से फैल कर देश भर को जलाये दे रही है; सुदूर चीन में क्रान्ति हो रही है और समीप दफ्तर में शीघ्र ही छटनी होने वाली है—उसे इनमें से किसी बात से कोई सरोकार नहीं है। व्यक्तिवादी जिस प्रकार समाज को अपने अन्तर के दर्पण से देखता है, अपने ही चेतन-उपचेतन की उलझनों को सुलझाता हुआ अपने से भिन्न किसी चीज में दिलचस्पी नहीं रखता, उसी प्रकार बैजनाथ भी अपने स्वार्थ के दृष्टिकोण से (और वह स्वार्थ एक तमाशाई का है) संसार के प्रत्येक व्यापार को देखता है। उसे रस मिलता है, तो वह उससे मतलब रखता है, नहीं तो कन्नी काट जाता है। "कोई मरे कोई जिये, सुथरा घोल बताशे पिये।"—सुथरा वर्ग के साधुओं का यह 'मॉटो' उसने अपना रखा है। इस दृष्टि से वह घोर-व्यक्तिवादी है।

ये सब बातें वह अपने सम्बन्ध में जानता हो, ऐसी बात नहीं। यह तो उसके सम्बन्ध में मेरे अध्ययन ही का सुपरिणाम है।

सो जिस दिन दीन दयाल हेड-क्लर्क से लड़ा, बैजनाथ की जेब खाली थी। पिछली रात पलाश में वह आठ रुपये, जो उन अंतिम दिनों में उसकी सारी जमा-पूँजी थी, हार गया था। दीन दयाल ने जब हेड-क्लर्क को खरी-खरी सुनायीं, तो दफ्तर के तालाब में जैसे एक बड़ी-सी ईंट गिर पड़ी। कुछ क्लर्कों ने तो इस अवसर से लाभ

उठा कर, हेड-क्लर्क का पक्ष ले, उन्नति की सीढ़ी पर अपने पाँव को मजबूत कर लेना चाहा, परन्तु बहुत-से ऐसे थे, जिनकी छटनी होने वाली थी। आज नहीं, तो दो महीने बाद उन्हें अलग होना ही था। इसलिए उनमें एक विचित्र-सा निराशाजनित साहस आ गया था। उन्होंने दीन दयाल के साहस को सराहा।

जब दीनदयाल लंच के समय दफ़्तर के चाय-घर में बैठा, तो बैजनाथ उसके साथ था। उसने दीन दयाल के साहस की बड़ी प्रशंसा की। कहा कि क्लर्क तो निरीह, निर्जीव, बेरीढ़ की हड्डी का जानवर है। बोझ ढोना और चुप रहना उसके गुण हैं। दीन दयाल ने आज बता दिया कि उसमें भी जान है। मिट्टी को भी ज्यादा ठोंको, तो सख्त हो जाती है और पैर को चोट पहुँचाने लगती है। फिर आदमी तो आदमी है।

दीन दयाल ने अपनी प्रशंसा से फूल कर बताया कि दफ़्तर के अधिकांश लोग उसके साथ हैं। उसके 'ऐक्शन' की प्रशंसा करते हैं।

"वे तो नेतृत्व चाहते हैं," बैजनाथ ने लुकमा दिया—"कोई ऐसा आदमी, जो उनके मन में उठते हुए विद्रोह को जबान दे दे, जो उनकी शिकायतों को उच्चाधिकारियों तक पहुँचाने का साहस रखे। तुम में वे अपना नेता देख रहे हैं!"

दीन दयाल ने लंबी साँस भरी। कहा—"काश, मुझे भाषण देना आता तो मैं आग लगा देता!"

"यह क्या कठिन है," बैजनाथ ने कहा—"एसेम्बली के बड़े-बड़े नेता लिखित भाषण (बल्कि यों कहो, कि लिखवा कर भाषण) देते हैं। जोर बोलने का नहीं होता, उन युक्तियों का होता है, जिनसे भाषण भाषण बनता है। फिर यदि भाषण लिख

कर तुम याद कर लो, तो कागज तुम्हारे हाथ में होंगे, बल्कि तुम शब्दों और वाक्यों पर आवश्यक जोर भी दे सकोगे। लिखित भाषण की प्रतियाँ प्रेस में भी भेजी जा सकती हैं। सप्ताह भर में तुम्हारा नाम देश के कोने-कोने में फैल सकता है। उसी भाषण के साथ तुम्हारा चित्र भी छप सकता है।"

"पर मुझे तो भाषण लिखना भी नहीं आता। दीन दयाल ने फिर निश्वास छोड़ा। उसकी कल्पना में देश के प्रसिद्ध पत्रों में चित्रों के साथ छपा हुआ उसका भाषण घूम गया। फिर कुछ रुक कर उसने कहा—"मेरे पास तो अपना कोई चित्र भी नहीं।"

"चित्र तो नया खिंचवाया जा सकता है। बल्कि मेरा एक फ़ोटोग्राफ़र मित्र है, जो सस्ते में तुम्हारा फ़ोटो उतार देगा और भाषण मैं तुम्हें ऐसा लिखवा दूँगा, कि एक बार सी० एम० ए० क्या सेक्रेटेरियट भर में तहलका मच जाय।"

"तुम भाषण लिखवा दो। मैं सारे सेक्रेटेरियट में स्ट्राइक करा दूँगा।" दीन दयाल ने नेताओं के-से .जोश में कहा—"ये अँगरेज़ अफ़सर हम भारतीय क्लर्कों के साथ जो दुर्व्यवहार करते हैं, ये अँग्रेज़ों के जूते चाटने वाले हेड क्लर्क जिस प्रकार हमारे साथ दुर्व्यवहार करते हैं, इसका प्रतिकार करना होगा!"

"मैं ऐसा भाषण लिखवा दूँगा, जो तुम्हें एक ही दिन में बड़े-बड़े लीडरों के समकक्ष बैठा दे। केवल इतनी बात है," यहाँ बैज-नाथ ने अपना स्वर धीमा कर कहा, "देखो मैं गरीब आदमी हूँ। मैं मन से सहयोग दूँगा, पर मेरी विवशताएँ हैं। मैं 'कन्फर्म' हो चुका हूँ और फिर मुझ में न तुम-जैसा साहस है, न विद्वत्ता। मैं भाषण तुम्हें अपने एक प्रोफ़ेसर मित्र से बनवा कर दे दूँगा। तुम इतने में क्लर्कों को अपने साथ मिलाओ और एक जलसे का प्रबन्ध

करो। मैं सम्मिलित नहीं हूँगा, पर गुप्त-रूप से सब काम करूँगा, इसका निश्चय रखो।"

फिर जाते-जाते उसने कहा—"मैं फोटोग्राफ़र से आज ही समय ले आऊँगा। सभी पत्र-पत्रिकाओं को भेजने के लिए काफ़ी कापियाँ दरकार होंगी। एसोशिएटेड प्रेस में मेरे कई मित्र हैं। उनसे पूछ आऊँगा कि कहाँ-कहाँ वे तुम्हारा भाषण भेजेंगे। उतनी कापियाँ तो करानी ही होंगी। तुम अभी बीस एक रुपये का प्रबन्ध कर रखना।"

"इसकी चिन्ता न करो," दीन दयाल ने कहा—"रुपये तो मेरे पास नहीं हैं, पर कहीं-न-कहीं से प्रबन्ध करूँगा।"

बैजनाथ ने लंच के बाद हेड क्लर्क से बहाना बना कर छुट्टी ली और दीन दयाल के कान में यह कह कर कि वह उसका काम करने जा रहा है, दफ़्तर से चला गया।

दीन दयाल ने दफ्तर के क्लर्कों को अपने साथ मिला कर भिन्न प्रकार की १४ माँगें संध्या होते-होते हेड-क्लर्क के सामने रख दीं कि सप्ताह भर में इनका उत्तर उन्हें मिल जाना चाहिए, नहीं तो वे 'स्टे-इन-स्ट्राइक' कर देंगे। और उस दिन एक सभा की घोषणा भी कर दी।

बैजनाथ ने भी अपना वचन पूरा कर दिया। दफ़्तर से छुट्टी लेकर वह अपने अंतरंग सखा प्रोफ़ेसर प्राणनाथ के पास पहुँचा, जिसे वह दूसरे मित्रों की भाँति केवल 'प्रोफ़ेसर' कह कर पुकारता था। प्रो० प्राणनाथ कहीं प्रोफ़ेसर हों, यह बात न थी। वे तो पी० आर० ए० में क्लर्क थे। एम० ए० पास करने के बाद, सुनते हैं, कि

किसी कालेज में नौकरी की थी, इसलिए उनके परिचित उन्हें 'प्रोफ़ेसर' कह कर पुकारते थे। किन्तु जब वे उन्हें प्रोफ़ेसर कह कर बुलाते, तो उसमें किसी सत्कार की भावना न होती। "सुना-भई प्रोफ़ेसर, क्या हाल है तुम्हारा?" या "कहो भई प्रोफ़ेसर, आज क्या इरादे हैं?" जैसे प्रोफ़ेसर उनका नाम और प्राणनाथ उपनाम हो। सुनते हैं, कि कालेज की उस संक्षिप्त नौकरी के दिनों में अपनी किसी छात्रा से उनका प्रेम हो गया था। उस प्रेम में वे असफल रहे और नौकरी छोड़ कर दिल्ली आ गये। प्रेम की निराशा को अब वे दफ्तर की फाइलों, काफ़ी की प्यालियों और मिल जाय तो सुरा-सुन्दरी के साहचर्य्य में भूलने का प्रयास करते थे। कभी जब महीने के अंत में शराब क्या, काफ़ी को भी पैसे न होते, तो वे कविता से मन बहलाया करते, जिसमें कभी प्रेयसि के दुर्व्यवहार का दुखड़ा होता और कभी सरकार के। उनके मित्र उनकी कविता सराहते और महीने के अंतिम दिनों में उनके दुःख को कुछ-न-कुछ हल्का करने का प्रयास करते।

"देखो, भई प्रोफ़ेसर" बैजनाथ ने प्राण के कंधे पर हाथ जमाते हुए कहा, "तुम जरा एक काम कर दो तो तंगी के इन दिनों में स्काच की एक बोतल का डौल हो जाय।"

"स्कॉच!" उन दिनों, जब काफ़ी के प्याले भी दुर्लभ हो गये थे, स्कॉच का मिलना तो चमत्कार था। बैजनाथ की बात सुन कर प्रोफ़ेसर साहब ने आँखें फाड़ दीं।

"बस, एक जरा-सा भाषण लिख दो," बैजनाथ ने कहा।

"किसके लिए?"

"यह पूछने की जरूरत नहीं। ऐसा भाषण लिख दो, जो क्लर्कों तक में जान डाल दे, उनमें विद्रोह की अदम्य भावना भर दे।"

"क्यों, क्या मेरा इस नौकरी पर रहना तुम्हें अच्छा नहीं लगता ?"

बैजनाथ हँसा। बोला—"किसने भाषण लिखा है, यह किसी को कानों-कान पता न चलेगा। तुम जो लिखो, उसकी मैं कापी कर लूँगा और तुम्हारे वाली कापी तुम्हारे सामने फाड़ दूँगा। जिन महाशय को भाषण देना है, उन्हें भाषण लिखवा कर मैं अपने वाली कापी भी फाड़ दूँगा। और क्या चाहते हो ?"

प्रोफ़ेसर साहब ने एक आश्वस्त ठहाका लगाया। "और फिर स्कॉच के लिए तो आज मैं इस नौकरी पर भी लात मार सकता हूँ !" वे बोले। और भाषण लिखने में जुट गये।

नये नेतृत्व के चाव में दीन दयाल ने वह भाषण न केवल स्वयं बड़े सुन्दर अक्षरों में लिखा, वरन् भाव-भंगियों-सहित उसे रट भी लिया। क्योंकि इस बात की संभावना थी कि शायद वह गिरफ़्तार हो जाय (और इस प्रकार तुरन्त नेता बन जाय) इस लिए फ़ोटोग्राफ़र से फ़ोटो की कापियाँ लेकर देश भर की पत्र-पत्रिकाओं को भेजने का जिम्मा स्वयं बैजनाथ ने ले लिया और इस काम के हेतु दीन दयाल से पन्द्रह रुपये झाड़ लिये। पहले रुपयों में से भी उसने केवल पाँच रुपये ही फ़ोटोग्राफर को पेशगी के रूप में दिये थे। इस सारी रकम से स्कॉच की एक बोतल आयी और बैजनाथ ने हम-मित्रों को 'लक्ष्मी' में आमंत्रित किया। प्रोफ़ेसर प्राणनाथ भी उपस्थित थे, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

हम लोग तीसरे पैग पर थे। प्रोफेसर प्राण इतने ही में निहाल हो गये थे। उन्हें वास्तव में प्रेम की निराशा ने रिंद बना दिया था।

नहीं तो वे दूसरे ही पैग में बहकने लगते थे। परन्तु बैजनाथ पूरा पियक्कड़ था। वह बात-बात में फुलझड़ियाँ छोड़ रहा था। चौथा पैग जब उसने ढाला, तो प्राणनाथ के गिलास में थोड़ा ही उँड़ेला, ताकि वह अंत तक साथ दे सकें। अभी वह पैग उँड़ेल ही रहा था कि बैरा संध्या का समाचार-पत्र मेज़ पर रख गया। पहले ही पृष्ट पर सेक्रेटेरियट में क्लर्कों की हड़ताल और दीन दयाल की गिरफ़्तारी का समाचार था। प्रोफ़ेसर प्राण ने पढ़ कर नशे के कारण हकलाते हुए स्वर में कहा—"हमें अपने इस बाग़ी नेता की सेहत का जाम पीना चाहिए!"

बैजनाथ ने ठहाका मारा। बोला—"नहीं, उसकी लीडरी का!" और फिर उठ कर उसने अपने मित्र दीन दयाल की लीडरी का जाम पेश किया, और सब के गिलासों से गिलास टकरा कर वहीं खड़े-खड़े एक घूँट भरा।

फिर वह उल्लास और नशे से झूम कर अपनी जगह बैठ गया और बड़े मजे से बताने लगा कि किस प्रकार पार्टी का खर्च उसी नेता की जेब से आया है और स्कॉच की वह बहुमूल्य बोतल मित्रों के लिए प्राप्त करने में स्वयं बैजनाथ की बुद्धि का कितना चमत्कार है। फिर ठहाका लगाते हुए उसने सभी मित्रों से अनुरोध किया कि वे शुद्ध मन से दीन दयाल के शीघ्रातिशीघ्र नेता बन जाने की प्रार्थना करें।

तब न जाने प्रोफ़ेसर प्राणनाथ को क्या हुआ। वे लड़खड़ाते हुए उठे। नशे में झूमते हुए जोर से चिल्लाये—"ट्रेटर!"* और खींच कर शराब का गिलास उन्होंने बैजनाथ के सिर पर दे मारा।

बैजनाथ का सिर फट गया, परन्तु वह भेड़िये की भाँति झपट

---

*Traitor = द्रोही

कर प्रोफेसर पर पिल पड़ा। लड़ाई होती देख कर रेस्तोराँ के मैनेजर ने पुलिस को बुलाया। नशे में लड़खड़ाते और हकलाते हुए प्रोफेसर प्राण ने भाषण लिखने की सारी बात बता दी और बैजनाथ की लम्पटता व द्रोह का जिक्र करते हुए उसे बड़ी अनूठी गालियाँ दीं। षड्यंत्र के संदेह में पुलिस ने दोनों को गिरफ्तार कर लिया।

दीनदयाल अभी हवालात में पहुँचा ही था कि पट्टी बाँधे हुए बैजनाथ और नशे में बकते हुए प्रोफेसर भी वहाँ पहुँच गये।

केवल जाति के लिए

पंडित दीनदयाल के पुनर्विवाह की बात सुनकर डाक्टर शर्मा बड़े लाल-पीले हुए—"ऐसे नेताओं को तोप के मुँह में रखकर उड़ा देना चाहिए," उन्होंने फ़तवा दिया, "वासनाओं के दास भी कहीं जाति का पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं? परसों पत्नी मरी, आज सगाई हुई, कल शादी हो जायेगी। यह हिन्दू जाति अब डूब कर रहेगी।"

हरिहर बोले—"घर का कुत्ता भी मर जाय तो चार दिन खाना अच्छा नहीं लगता। पत्नी तो फिर पत्नी ही है, जिसे संगिनि, सहचरि और न जाने किन-किन स्नेह और आदर भरे नामों में पुकारा जाता है, जिससे प्यार के बीसों सुखद-मधुर क्षण बिताये जाते हैं; वफ़ा के हज़ारों वचन दिये जाते हैं।"

"और कहा करते थे—दम्मो के बिना जी न सकूँगा मैं।" शर्मा

जी ने अतीव व्यंग और उपेक्षा से कहा, "अच्छी आत्म-हत्या कर रहे हैं, पंडित जी !"

"फिर आदमी शादी करता है सन्तान के लिए", हरिहर ने रद्दा जमाया। "इन भलेमानस के दो बच्चे हैं और वे भी दूध-पीते नहीं और आप चले हैं विवाह करने। अरे भाई, शादी करनी ही थी तो ज़रा चार दिन ठहर जाते। अपनी न सही, मित्रों की भावनाओं का तो ध्यान किया होता।"

"इन वासना के अंधों को भावनाओं की क्या चिंता है।" और यह कहते हुए शर्मा जी जल्दी-जल्दी चल पड़े, जैसे इस ज़िक्र ही से उन्हें आंतिरिक-कष्ट पहुँच रहा हो।

लेकिन जब शर्मा जी की सहधर्मिनी दो बच्चे छोड़ परलोक-गामिनी हुई तो इधर आप क्रिया-कर्म ने फ़ारिग़ हुए, उधर आपने शादी कर ली।

हरिहर भी बाज़ार में मिल गये। दूर ही से बोले—"शर्मा जी, बधाई हो।"

"आपको ही बधाई है"—दांत निपोरते हुए शर्मा जी ने उत्तर दिया।

"भला मित्र, कुछ दिन तो संतोष किया होता"—पास आकर हरिहर ने कहा—"शादी तो करनी ही थी। ज़रा चार दिन ठहर जाते।"

"ठहर जाते !" शर्मा जी गर्जे, "यहां एक हिन्दू नारी के समस्त भविष्य का प्रश्न था, मैं ज़रा भी देर करता तो उसका सारा जीवन नष्ट हो जाता।"

"जीवन नष्ट हो जाता ?" हरिहर की आँखें आश्चर्य्य से खुल गयीं।

"उसके पिता उसे एक बुड्ढे खूसट के हाथ बेच रहे थे।" अपने मित्र के आश्चर्य्य को दूर करने के विचार से शर्मा जी ने बताया— "मैंने दो सौ रुपया अधिक दिया और उस अबला का जीवन बचा लिया।"

परन्तु घटने की बजाय हरिहर का आश्चर्य्य और बढ़ गया और आँखों के साथ-साथ उनका मुँह भी खुल गया।

सम्वाददाता

रामपुर के छोटे से क़स्बे में उसको विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त थी। लोग उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे और हर समारोह पर उसे निमंत्रित करना अपना सौभाग्य समझते थे।

वह समाचार-पत्रों की सनसनीदार खबरों से भोले-भाले ग्रामीणों को आश्चर्य-चकित कर देता था। यद्यपि कविता से उसका छत्तीस का भी नाता न था, तो भी अपने नाम के साथ उपनाम और 'जरनलिस्ट' लिखना वह अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझता था।

उसके पास एक फ़ाइल थी। उसने बड़ी सावधानी से उसमें वे पत्र लगा रखे थे जो उसे समाचार-पत्रों की ओर से मिले थे, जिन में उसे उनकी ओर से प्रतिनिधि का अधिकार दिया गया था। यही उसका सर्वस्व था जिसे वह बड़ा सम्हाल कर रखता था।

जिस तरह महायुद्ध में मिले हुए पदकों और सनदों को गाँव का नम्बरदार प्राणों से भी प्रिय समझता है और किसी उच्चाधिकारी से मिलने को जाते समय उन्हें साथ ले जाता है, उसी तरह वह भी जब किसी बड़े आदमी से भेंट करने जाता तो इस फ़ाइल को सम्हाल कर साथ ले जाता।

जब क़स्बे में कोई समारोह होता और उसका समाचार पत्रों में छपता तो उपस्थित सज्जनों की सूची में अपना नाम देख कर वह प्रसन्नता से फूला न समाता। उस दिन उसके पाँव धरती पर न पड़ते। जिससे मिलता, किसी न किसी बहाने वह समाचार पढ़ कर सुनाता।

वह पत्रों का सम्वाददाता था और क़स्बे के समाचार-पत्रों को भेजा करता था।

एक दिन सम्वाददाता के एक मित्र ने समीप के गाँव से उसे एक उत्सव पर निमंत्रित किया। वह अपनी पत्नी और बच्चों के साथ उसके यहाँ चला गया।

उसकी अनुपस्थिति में उसके मकान में आग लग गयी। गाँव वालों को एकदम ताला तोड़ने का साहस न हुआ। किन्तु, पास के दूसरे मकान आग की लपेट में न आ जायँ, इस डर से उन्होंने ताला तोड़ डाला और वे मकान में घुस गये। जला हुआ सामान बाहर निकाला जाने लगा।

कड़े परिश्रम के पश्चात् आग बुझी, किन्तु इतनी देर में प्रायः सभी सामान जल चुका था।

संध्या को सम्वाददाता वापस लौटा। मकान की दशा देख कर उसकी पत्नी रोने लगी। माँ को रोते देख बच्चे भी चीख उठे। उनकी चीत्कार सुन पड़ोसी समवेदना प्रकट करने को अपने घरों से निकल आये।

सम्वाददाता ने किसी ओर ध्यान नहीं दिया। वह एक अधजली कुर्सी पर बैठ गया और उसने मेज को, जो आग के हाथों बच गयी थी, अपने सामने खींचा और जेब से छोटा सा लेटर-पैड निकाल कर निम्नलिखित समाचार लिखा।

रामपुर में अग्नि का भयानक प्रकोप

श्री कुमुदकान्त चातक का मकान—आग की भेंट

रामपुर, १. जनवरी, पत्रकार-हलकों में यह समाचार बड़े शोक से सुना जायगा कि रामपुर के प्रसिद्ध पत्रकार श्री कुमुदकान्त चातक के मकान में आज अचानक आज आग लग गयी। पत्रकार 'महोदय' उस समय घर में नहीं थे। लोगों के कठिन परिश्रम पर भी लपटें बुरे विचारों की भाँति बढ़ती गयीं, हमें इस आकस्मिक आघात में श्री चातक से हार्दिक सहानुभूति है।

कुमुदकान्त 'चातक' सम्वाददाता।

इस चिट्ठी की उसने कई नकलें कीं, उन्हें लिफाफों में बन्द किया और उन्हें स्वयं लेटर-बक्स में छोड़ आया।

वह रात उसने बेचैनी से काटी। दूसरे दिन सब से पहले उसने

समाचार-पत्रों की देख-भाल की, किन्तु उसे कहीं वह समाचार न मिला और यह सोच कर कि अभी तक सम्वाद पत्रों के दफ्तर में भी न पहुँचा होगा, उसने उन्हें अन्यमनस्कता से फैंक दिया और घर से बाहर चला गया। वह दिन उसने इधर-उधर भटकने में व्यतीत किया। दूसरे दिन वह डाकिये की प्रतीक्षा किये बिना पत्रों को डाकख़ाने से ले आया। उसने उनका एक एक पृष्ठ सरसरी नज़र से देख डाला; सब दो कालमे हैडिंग देख डाले, किन्तु 'रामपुर में अग्नि का भयानक प्रकोप' उसे कहीं दिखायी न दिया। आख़िर वह एक कालमी ख़बरें देखने लगा। उसने तीन समाचार-पत्र देख कर फैंक दिये। चौथे पत्र के आठवें पृष्ठ के पाँचवें कालम के नीचे बिना शीर्षक लिखा हुआ था।

> रामपुर, ३ जनवरी, परसों रामपुर के एक पत्रकार के मकान में आग लग गयी। पत्रकार 'महाशय' मकान पर नहीं थे। पड़ोसियों ने आग बुझायी। हानि का अनुमान नहीं लगाया जा सका।

कदाचित् सम्पादक ने जगह भरने के लिए ये चन्द सतरें ज़बानी लिख कर भेज दी थीं।

सम्वाददाता के हाथ से पत्र गिर पड़ा। वह जले हुए मकान की देहली पर बैठ गया। मकान की दीवारें, जिन्हें आग ने स्याह कर दिया था, ठहाका मार कर हँस दीं।

सम्वाददाता को लगा—जैसे उसके मकान को अब आग लगी है।

चैत्र शुक्ल तृतीया

रात को मैं सोया तो मुझे नींद न आयी। एक कारण तो यह था कि सरदार दिग्विजय सिंह लैंड-लॉर्ड के मकान का वह ऊपरी भाग, जहाँ मैं रहता था, अब शाम होते होते काफी गर्म हो जाता था, दूसरे, देसराज फ़ोटोगाफर के हाथों पंडित ओंकार नाथ वेदालंकार के साथ हमारी जो गत बनी थी, वह बार बार मेरे मस्तिष्क में कौंद जाती और पलक भारी तक न हो पाते।

तीन-चार दिन पहले की बात है पंडित ओंकार नाथ वेदालंकार मेरे पास एक छपा हुआ निमन्त्रण-पत्र लाये। वैसा ही एक उनके हाथ में था। मैंने लिफाफा खोला। बड़े सुन्दर और कलापूर्ण ढंग में छपा हुआ था।

निमन्त्रण

मान्यवर श्री (यहाँ हाथ से मेरा नाम लिखा था)

सेवा में निवेदन है कि चैत्र शुक्ल तृतीया, रविवार को, प्रात: ९ बजे मेरे भानजे चिरंजीव गोपीकृष्ण का यज्ञोपवीत-संस्कार है। आपसे अनुरोध है कि आप इस शुभ-अवसर पर मेरे यहाँ पधार कर उसमें योग दें और तत्पश्चात् दोपहर का खाना खाकर कृतार्थ करें।

साभार,
देसराज फ़ोटोग्राफ़र

मेरा यह स्वभाव है कि मैं इतवार को कहीं दावत पर नहीं जाता। सात दिनों के थके हुए शरीर को पूरा आराम देता हूँ। दिन बड़े हो जाने के कारण यद्यपि छ: बजे ही सूरज निकल आता है और चहल-पहल होने लगती है, पर मैं आठ साढ़े-आठ बजे तक सोया रहता हूँ और फिर चाय का एक प्याला पीकर, शौचादि से निवृत हो, नौ साढ़े नौ बजे हजामत बनाता हूँ और दस साढ़े-दस बजे नाश्ता करके फिर लेट जाता हूँ। इसलिए ९ बजे यज्ञोपवीत संस्कार में योग देना मेरे लिए कुछ उतना उत्साह-वर्धक न था। दोपहर के खाने की बात अलबत्ता थी, क्योंकि देसराज गोश्त का पुलाव और कोरमा बनाने में यकता था, परन्तु अपने भानजे के यज्ञोपवीत संस्कार पर वह ऐसा कर सकेगा, वह करना भी चाहे तो उसकी पत्नी उसे आज्ञा देगी, इस बात में मुझे संदेह था। इसलिए मैं इस निमन्त्रण से, जो मेरे मित्र पंडित ओंकार नाथ वेदालंकार दो सीढ़ियाँ चढ़ कर सोल्लास मेरे लिए लाये थे, लाभ उठाने का कुछ उतना उत्सुक न था।

यहाँ मैं अर्ज़ कर दूँ कि पंडित ओंकार नाथ वेदालंकार मेरे मित्र ही न थे मेरे पड़ोसी भी थे। सरदार दिग्विजय सिंह के सराय ऐसे मकान की निचिली मंज़िल में, दूसरे किरायेदारों के साथ, वे रहते थे। मध्य की मंज़िल में सरदार साहब स्वयं अपने कुटुम्ब के साथ निवास करते थे और ऊपर के चौबारे में विराजमान था। दो मंज़िलों की सीढ़ियाँ चढ़कर वे निमन्त्रण-पत्र लाये थे और उनका अनुरोध था कि मैं देसराज के भानजे के यज्ञोपवीत-संस्कार पर अवश्य जाऊँ। कारण का भी पता चल गया। देसराज ने उन्हीं को वह संस्कार सम्पन्न करने का आमन्त्रण दिया था।

पंडित ओंकार नाथ गोविन्द-गली आर्य-समाज के मन्त्री थे। सनातन धर्मी संस्कारों में जो व्यय होता है, पंडित जिस प्रकार यजमानों को ठगते हैं और ग़लत-सलत मन्त्र पढ़ते हैं, उसका सव्यंग्य बखान, उनका प्रिय-विषय था। जब वे अपनी सुरीली आवाज़ और शुद्ध उच्चारण से मन्त्र पढ़ते तो उनका चेहरा दुगना हो जाता। दक्षिणा कम, खर्च कम, सुरीली आवाज़, शुद्ध-उच्चारण और विधिवत् संस्कार—उन्होंने काफ़ी यजमान बना लिये थे। गली के आर्य समाजियों में एक देसराज ही था जो अपनी पत्नी की संकीर्णता के कारण उन के बाड़े में न आया था। इस अवसर पर जो उसने अपने भानजे के यज्ञोपवीत-संस्कार पर उन्हें आमन्त्रित किया तो उन्हें अपार-प्रसन्नता हुई।

यह सुसमाचार देते हुए पंडित ओंकार नाथ ने सनातन-धर्मी संस्कार-पद्धति की त्रुटियों पर एक छोटा-मोटा भाषण दे डाला और देसराज की बुद्धि की भूरि-भूरि प्रशंसा की, जिसने अपने भानजे के यज्ञोपवीत-संस्कार के लिए उन्हें बुलाया था। सोल्लास उन्होंने बताया कि वे किस प्रकार देसराज का कम से कम खर्च करायेंगे

और संस्कार में किसी प्रकार की त्रुटि न रहने देंगे।

सुबह अभी मैं बिस्तर से उठा भी न था कि पंडित जी सिर पर आ सवार हुए। ज़ोर देने लगे कि मैं उसी क्षण चलूँ। मैंने सौगंध खायी कि मैं अवश्य पहुँचूंगा, आप चल कर संस्कार की तैयारी करें, मैं तनिक नहा-धोकर नाश्ता कर लूँ।

"दस बजे नाश्ता करोगे तो वहाँ खाओगे क्या", पंडित जी ने कहा, "देसराज खाना सदा बढ़िया खिलाता है। मैंने तो प्रातः चाय भी नहीं पी।"

"आपको तो संस्कार कराना है। उपवास से रहना ही चाहिए, पर मेरे लिए तो कोई ऐसी क़ैद नहीं।" मैंने कहा।

"अरे भाई। व्रत-उपवास में हम लोग उतना विश्वास नहीं करते, पर स्वादिष्ट खाने का पूरा आनन्द तो भूखे पेट ही मिलता है।"

"खैर आप चलिए", मैंने कहा, "मैं शौचादि से निवृत्त होकर नहा लूँ।"

पंडित जी चले गये और मैं नित्य-कर्म से निवृत्त होने में संलग्न हुआ। तभी जब मैं नहा-धो कर कपड़े बदल रहा था, मेरी पत्नी नाश्ते की तश्तरी ले आयी। भरी तश्तरी देखकर मन में आया कि यदि मैं आज नाश्ता न करूँ तो क्या हर्ज है। बात पंडित ओंकार नाथ की सत्य थी। तबीयत भारी हो तो खाने का मज़ा ख़ाक नहीं आता। शनि की रात साधारणतः मुझ से बदपरहेज़ी हो जाती है। उस समय यद्यपि दस बजने को थे, पर भूख ज़रा भी न थी। मैंने पत्नी से कहा कि मैं नाश्ता नहीं करूँगा। और दोपहर का खाना देसराज के यहाँ खाऊँगा इसलिए वह छुट्टी मनाये। पत्नी कई दिन

से अपनी वहन से मिलने को जाना चाहती थी, इसलिए उसने तत्काल इस अवसर को उपयुक्त जान कर वहाँ जाने का निर्णय कर लिया और मैं सज-धज कर देसराज के घर की ओर चल दिया।

सीढ़ी ही में था कि ऊपर से पंडित ओंकार नाथ के मन्त्रोच्चारण का मधुर-स्वर कानों में पड़ा। मैं जान-बूझ कर बाजार की सैर करता हुआ और इस प्रकार आध-एक घंटा बाजार में गुजार कर देसराज के यहाँ पहुँचा था। पंडित ओंकार नाथ आसन जमाये बड़े तमतराक से बैठे संस्कार सम्पादन करा रहे थे। उनके गर्वोन्नत मस्तक पर मन्त्रोच्चारण के ताप से पसीने की बूँदें चमक आयी थीं। उनके सामने सिर मुंडाये, चोटी को गाँठ दिये, मात्र एक श्वेत धोती में आवृत जो छोकरा यज्ञोपवीत पहने बैठा था, वह कुछ परिचित सा लगा। घुटी हुई चाँद के नीचे जो सहमी सहमी सी आँखें थीं, वे मुझे जानी-पहचानी सी लगीं, पर देसराज के भानजे से कभी परिचय हुआ है, ऐसा मुझे याद नहीं आया। उधर से ध्यान हटा कर देसराज को बधाई देता हुआ मैं आगत मित्रों में जा बैठा। पंडित ओंकार नाथ से मेरी आँखें चार हुईं। मुझे देखते ही उन का स्वर कुछ और ऊँचा हो गया, उसमें माधुर्य की मात्रा भी बढ़ गयी।

मेरा ख्याल था कि संस्कार अब समाप्त होने ही वाला है, परन्तु एक घंटा मुझे वहाँ बैठे हो गया। आँतों में चूहे दौड़ने लगे, पर पंडित जी निरन्तर मन्त्रोच्चारण करते रहे। लगता था जैसे सभी वेद वे उसी अवसर पर पढ़ डालेंगे। एक डेढ़ बजे के लगभग जाकर संस्कार और हवन-यज्ञ समाप्त हुआ और उपस्थित मंडली ने देसराज को बधाई दी।

बधाई स्वीकार कर देसराज ने उपस्थित सज्जनों को धन्यवाद दिया, देर हो जाने के लिए क्षमा माँगी और सब से खाने के कमरे

में चलने की प्रार्थना करते हुए उसने अपने उस यज्ञोपवीत धारण करने वाले भानजे को आवाज़ दी, "चल बे हीरे सब के हाथ धुलवा !"

और वह हीरा, वह उनका भानजा, अपनी घुटी हुई चाँद पर हाथ फेरता हुआ, लोटा लिये सब के हाथ धुलवाने लगा।

अन्दर कमरे में दरी पर बड़ा सुन्दर जाजम बिछा था, जिस पर बड़े क़रीने से प्लेटें ढकी रखी थीं। जब सब लोग, अपनी-अपनी जगह जा बैठे और भूख से बेकरार उस पर्दे को ललचाई दृष्टि से देखने लगे, जो उन प्लेटों पर पड़ा था, तो देसराज भी दरवाज़े में आ नमूदार हुआ।

"सब ने हाथ धो लिए", उसने पूछा।

और जब सबने सकारात्मक सिर हलाया तो उस ने बड़ी मीठी सी मुस्कान ओठों पर लाकर कहा, "अच्छा तो अब आप खाने से भी हाथ धो लीजिए।"

पंडित ओंकार नाथ (*और हम ने भी, पर उनकी अपेक्षा कम*) आँखे फाड़ीं कि क्या मतलब है तुम्हारा। तब देसराज ने बड़े धीरे से वह पर्दा हटाया। प्रत्येक प्लेट पर बड़े सुन्दर अक्षरों में लिखी स्लिप लगी थी जिस पर लिखा था—"पहली अप्रेल।"

औरों की बात नहीं कहता, मेरा तो सिर चकरा गया। पत्नी अपनी बहन से मिलने गयी थी और इतवार होने के कारण वेतन मिला न था और जेब खाली थी। परन्तु 'पहली अप्रेल' की वह स्लिप देखकर खिन्नता से मुस्कराने के सिवा और कोई चारा न रहा।

यदि यह सब मज़ाक हम ने किया होता तो हम ज़रूर ठहाका मारते, पर यह किया तो देसराज ने था, इसलिए उसी ने ठहाका

लगाया। हम केवल मुस्करा कर रह गये। तब देसराज ने अपने भानजे हीरे को आवाज़ दी कि खाने के कमरे की खिड़कियाँ खोल दे ताकि मित्र लोग पेट भर कर हवा खा लें।

और उसने ठहाके पर ठहाका लगाया।

रात सोते समय सारी की सारी घटना आँखों में आ गयी। गत सब की बनी थी, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु पंडित ओंकार नाथ की दुर्गति में सब अपनी दुर्दशा भूल गये। और अपनी भूख-प्यास भूल कर पंडित जी को 'अप्रेल फ़ूल' बनानेमें पूरी निष्ठा से संलग्न हो गये। हुआ यह कि देसराज पर अपनी विद्वत्ता और आर्य-समाजी-सस्कार-पद्धति की उत्कृष्टता दिखाने के जोश में पंडित ओंकार नाथ वेदालंकार अपनी गिरह ही से संस्कार की सब सामग्री ले गये थे। जब उन से भी 'लंच' के स्थान पर 'हवा' खाने को कहा गया और बिगड़ कर उन्होंने उस 'उद्धत', 'उद्दंड', देसराजके घर से जाने का नाटक करते हुए, अपनी दक्षिणा के साथ सामग्री पर खर्च की हुई अपनी रकम माँगी तो देसराज ने खीसें निपोर दीं। "कौन भानजा", उसने कहा, "वह तो मेरा नया नौकर छोकरा है।"

तभी मुझे याद आया कि अरे यह छोकरा तो बहुत पहले एक दिन मेरे पास नौकरी को आया था। और मैं जोर से हँसा।

"तुमने निमन्त्रण-पत्र में अपना भानजा लिखा है," क्रोध के मारे पंडित जी के मुँह से झाग निकलने लगी।

"उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्"—देसराज ने मुस्करा कर कहा। और ठहाके पर ठहाके पड़ने लगे।

यह सुन पं० ओंकार नाथ वेदालंकार जिस प्रकार झल्लाये और

जिस प्रकार उनका मज़ाक उड़ाया गया, वह सब कल्पना में बार बार देखकर, मैं मुस्करा रहा था और नींद, मन ही मन कई बार इस घटना की पुनरावृत्ति के कारण, धीरे धीरे पलकों पर छाने लगी थी कि नीचे सहसा कुछ ऐसा अजीब सा शोर बुलन्द हुआ कि मैं उचक कर उठा।

उस शोर को शब्दों में व्यक्त करना कठिन ही नहीं असम्भव है। सरदार दिग्विजय सिंह की भारी भरकम आवाज़ और फिर उसमें भय और है त्रास का अपूर्व समावेश। मैं सीढ़ीयों की ओर लपका। नीचे के किरायेदार भी भागे आये। कोई 'चोर' 'चोर, का शोर मचा रहा था और कोई 'क़त्ल' की सूचना दे रहा था। उनके बरामदे को जाने वाला दरवाज़ा बन्द और अन्दर सारा का सारा कुटुम्ब चिल्ला रहा था। खैर, दो मनचले सीढ़ी लगा कर चोर-बत्ती लिये बढ़े, क्योंकि बरामदे में, जहाँ सरदार दिग्विजय सिंह सोते थे, गहन अँधकार था! झट जाकर उन्होंने दरवाज़ा खोला। चोर-बत्ती की रोशनी में देखा कि सरदार दिग्विजय सिंह, सरदानी दिग्विजय सिंह, उनकी लड़की और लड़का अपनी अपनी चारपाइयों पर पंजों के बल, हाथ ऊपर को किये कुछ ऐसी विचित्र मुद्रा में डरे और सहमे खड़े हैं जैसे कोने में कोई पिस्तौल ताने खड़ा हो।

"क्या है", "क्या है?" दो-चार पड़ोसियों ने चिन्तित स्वर में पूछा।

तब भयत्रस्त स्वर में सरदानी ने कहा, "साँप!"

साँप का नाम सुनते ही कुछ ऐसी अफ़रा-तफ़री मची और लोग कुछ इस तरह सीढ़ियों की ओर झपटे और एक दो, जो सरदार और सरदारनी की चारपाई के निकट पहुँच गये, उछल कर कुछ इस प्रकार चारपाइयों पर चढ़े और उन्हीं जैसी मुद्रा बना कर

ऐसे खड़े हो गये कि इस समय जब मैं उस स्थिति का ध्यान करता हूं तो मुझे हँसी आ जाती है।

सरदार दिग्विजय सिंह चौड़े-चकले, भारी-भरकम, हृष्ट-पुष्ट आदमी थे। चौड़ा चेहरा और घनी दाढ़ी। सूरत-शक्ल से सरदार हरि सिंह नलवे के भाई मालूम होते थे। बड़े सहमे स्वर में उन्हों ने एक व्यक्ति से, जो दीवार के साथ खड़ा था, बिजली जलाने को कहा। पर आप उसी प्रकार पंजों के बल खड़े रहे। हालाँकि उनका सारा चेहरा दाढ़ी से ढका था, पर यह कहना बेजा नहीं कि उनके मुख पर हवाइयाँ उड़ रही थीं।

इतने में जो लोग भाग गये थे, उन में से कुछ लाठियाँ लेकर आ गये और 'कहाँ है?' 'कहाँ है?' का शोर मच गया।

सरदार साहब ने उसी प्रकार खड़े खड़े बताया कि उनके लड़के ने चारपाई के नीचे देखा था। यह सुनते ही चारपाई पर चढ़े लोग तो पंजों के बदले अंगुलियों की पोरों पर खड़े हो गये। दो चार लाठियाँ लेकर आगे बढ़े। साँप सी कोई चीज चोर-बत्ती की रोशनी में अवश्य दिखायी दी। कई एक लठियाँ पड़ने पर भी जब वह हिली नहीं तो एक व्यक्ति ने उसे लाठी से खींचा। बेजान सी वह आ गयी। तब रोशनी में मालूम हुआ कि वह सरदार साहब के पेंट की पेटी है।

पेटी का चारपाई के नीचे से निकलना था कि उनका लड़का चारपाई से उछल कर उतरा और 'अप्रेल फ़ूल!' 'अप्रैल फ़ूल' कहता हुआ नाचने लगा।

पर दो तीन बार ही वह चिल्ला पाया होगा कि सरदार

दिग्विजय सिंह बबर शेर की भाँति उस पर झपटे। यदि लोग बाग 'बच्चा है' 'बच्चा है,' कहते हुए बीच में न पड़ जाते तो वे सच-मुच उसे निगल जाते।

गिलट

रात मैंने स्वप्न में देखा—मेरे हाथ की दोनों अँगूठियाँ आपस में झगड़ रही हैं—

असली सोने की अँगूठी, गिलट की नकली अँगूठी को डाँट रही थी—"तुझे मेरे बराबर बैठते लज्जा नहीं आती, मोर के पंख लगा कर कौवा मोर नहीं हो जाता। पानी उतरा कि तेरा वास्तव रूप निकल आयगा। जा कहीं अँधेरे में जा कर मुँह छिपा। तेरा युग अब बीत गया है।

नकली अँगूठी ने असली की बात काट कर मेरी ओर संकेत किया—"हम जिसके हाथ की शोभा बढ़ा रही हैं, वह स्वयं नकली है। मेरे जैसा ही पानी उस पर भी चढ़ा हुआ है। आज गिलट ही का युग है बहन!"

मैं चौंक पड़ा। मुझे ऐसे लगा जैसे मेरे सब आवरण उतर गये हों।

किन्तु मेरे आश्चर्य की कोई सीमा न रही, जब दूसरे दिन मैंने जिसे देखा, मुझे गिलट की हुई अँगूठी जैसा दिखायी दिया।

प्रचार-मन्त्री

"अनाहूत !" मेरे साथी ने कहा, "मुकूत, मबहूत, अनक़बूत की भाँति यह कोई अरबी का शब्द मालूम होता है।"

"अरे नहीं भाई" मैंने कहा, "यह तो शुद्ध संस्कृत का शब्द लगता है। हिन्दी के एक प्रमुख कवि ने इसका प्रयोग किया है और हिन्दी के प्रमुख कवि आजकल हिन्दी को संस्कृत के पद पर पहुँचा रहे हैं। अरबी का शब्द वे कैसे प्रयोग कर सकते हैं।"

मेरे साथी ने ठहाका मारा। "मैं भी पंजाबी हूँ, और तुम्हारी तरह हिन्दी बस कुछ दहलीज़ तक ही पढ़ा हुआ हूँ," वह बोला, "मेरे ख्याल में 'अ' तो प्रत्यय है जिसका मतलब है—नहीं। और 'नाहूत' भी मेरे विचार में 'नाँह-नूँह' से बिगड़ कर बना है। नाँह-नूँह का अर्थ भी है—नहीं—और 'नहीं' और 'नहीं' मिल कर मेरे विचार में अर्थ हुआ—'हाँ'......"

अब कि मैंने ठहाका मारा। "अरे, नहीं मित्र—'अनाहूत आया वह मेरे घर में'—में तो 'हाँ' का निशान तक दिखायी नहीं देता।"

साथी भी हँसा। बोला, "इन महाशय से पूछ लेते हैं। ये हिन्दी के बड़े विद्वान हैं।"

वे महाशय अभी अभी मेरे साथ की सीट पर आकर बैठे थे। मैंने पूछा, "क्यों जी, क्या आप 'अनाहूत' का अर्थ बताने की कृपा करेंगे।"

उन्होंने चश्मा नाक के बाँसे पर आगे को खिसका कर मेरी ओर देखा और बोले :—

"शब्द-सागर में देखिए।"

"जी यदि शब्द-सागर देखना होता तो आपको क्यों कष्ट देता" मैंने कहा।

अब कि उन्होंने चश्मा नाक की कोठी पर तनिक और खिसका कर पूरी तरह देखा कि कौन बदतमीज़ उनका दिमाग़ चाट रहा है और बन्दूक दागी—

"मैं आपसे कब बिनती करने गया था।"

मैं मुस्कराने का प्रयास कर रहा था कि उनका उत्तर सुन कर मेरा मुँह उतर गया। साथी उस समय बस के बाहर मुँह किये बाज़ार की रौनक देख रहा था। उसके कान के निकट मुँह ले जाकर मैंने पूछा, "ये महाशय हैं कौन ?"

"हिन्दी प्रचार सभा के मन्त्री," उसने सिर अन्दर करके उत्तर दिया, "तुम इन्हें नहीं जानते। क्या बताया इन्होंने अनाहूत का अर्थ ?"

अस्त्र

सवेरे जब कैखुसरो जहाँगीर पारिख नाश्ते पर बैठे तो उनकी आया ने उनके प्याले में चाय ढालते हुए अपने कर्कश, सानुनासिक स्वर में घाटन* कृष्णा बाई की शिकायत की।

आया की भाषा हिन्दुस्तानी का वह बिगड़ा हुआ रूप था जो बम्बई में गुजराती, मराठी, कोंकनी और पुरतगाली से मिल-जुल कर हो जाता है—स्त्रीलिंग के स्थान पर पुलिंग और पुलिंग के स्थान पर स्त्रीलिंग! किन्तु पारिख साहिब को एक बड़ी कम्पनी के मैनेजर की हैसियत से, अपने चपरासियों और नौकरों से बात करते समय, नित्य इसी भाषा का प्रयोग करना पड़ता था, इसलिए वह आया की हिन्दुस्तानी को समझ जाते थे।

"ए कृष्णा बाई, बड़ा खिटखिट करता है", आया कह रही थी। "हम तो कण्टाल गया इससे। अच्छी तराँ सफ़ाई नहीं करता। दो

---

* बम्बई प्रान्त में घरेलू काम करने वाली पश्चिमी घाट की स्त्री।

बर्तन ज्यादा हो जाता है तो बूमाबूम करने लगता है। साथ के घर का घाटन सात रुपया लेता है, चार कमरों में सफ़ाई करता है, बर्तन घाँसता है और इतना ढेर-सा कपड़ा धोता है। सात रुपया पर ओ बाई खुशी से आयेंगा और कपड़े भी साथ में धोयेंगा!"

पारिख साहब को दफ्तर जाने की जल्दी थी। चाय को सॉसर में उँडेल कर उन्होंने जल्दी-जल्दी चार घूँट भरे और चलते-चलते केवल इतना कहा—

"तो उसी को रख लो, आया!"

पारिख साहब के पड़ोस में काम करने वाली यह घाटन (जिसे आया रखना चाहती थी) दूर के रिश्ते में पारिख साहब की घाटन कृष्णा बाई की ननद होती थी। जब आया ने उसे काम पर आने के लिए कहा तो यद्यपि उसने अपनी अनुमति प्रकट की, परन्तु कहा कि वह अपने पति से बात करके एक दिन बाद अन्तिम उत्तर देगी।

काम से निबट कर वह सीधी कृष्णा बाई के घर पहुँची और उसने भावज को इस बात की सूचना दी कि आया ने उसे काम पर आने के लिए कहा है। साथ ही उसने यह भी बताया कि यदि वह इनकार कर देगी तो आया किसी दूसरी घाटन को रख लेगी। घर की आग घर ही में रहनी चाहिए, इसलिए यदि कृष्णाबाई वहाँ काम न करे तो उसकी उस ननद को वहाँ अवश्य काम करना चाहिए। वह एक दिन अपने पति से परामर्श करने का बहाना कर आयी है। यदि इस बीच में कृष्णा बाई आया से सुलह कर ले तो बड़ा अच्छा हो। वह उसकी नौकरी छीनना नहीं चाहती पर कोई

दूसरा घर उसे उड़ा ले जाय, यह भी उसे अभीष्ट नहीं।

चलते-चलते उसने इतना और कहा कि 'पारिख साब' की आया अव्वल दर्जे की 'हलकट रांड' है। 'पारिख साब' के घर में उसका एकछत्र राज है और उस समय तक रहेगा, जब तक 'पारिख साब दूसरी शादी नहीं बनाते' और उनके हृदय से अपनी दिवंगता प्रिय पत्नी और दस दिन जीवित रहकर माँ के साथ ही परलोक सिधारने वाले इकलौते बच्चे का शोक नहीं मिटता। उसने अपनी भावज को यह भी समझाया कि यद्यपि यह हलकट रांड बड़ा खिट-खिट करती है, पर खिटखिट किस घर में नहीं होती। जब भगवान ने यह दिन दिखाये हैं तो खिटखिट सहते हुए सब काम करना होगा।

उसकी ननद उसे यह सब सुनाकर चली गयी तो कुछ क्षण तक कृष्णा बाई स्तम्भित और सम्मोहित-सी चुप बैठी रही।

वह पारिख साहब के घर में आठ वर्ष से काम कर रही थी। उसके देखते-देखते यह आया आयी थी, बकरी-सी मिनमिनाया करती थी और यह भी न मालूम होता था कि उसके दाँतों में जबान भी है। उसके देखते-देखते उसकी मालकिन प्रसव के बाद बीमार हुई और अपने एकमात्र शिशु के साथ (जिसे उसने कई आपरेशनों के उपरान्त प्राप्त किया था) परलोक सिधार गयी। उसके देखते-देखते इस आया ने पर-पुर्जे निकालने शुरू किये और मालिक के अतीव दुःख का लाभ उठाकर, जिसने उसे घर के समस्त व्यापार से विरक्त बना दिया था, आयागीरी छोड़ रसोईगीरी आरम्भ कर दी और घर की मालकिन-सी बन बैठी।

क्रोध से कृष्णा बाई का गला रुँध गया। उसके जी में आया कि उसी समय जाय और अपने और उस हलकट आया के बाल नोच डाले। किन्तु तभी उसका भूखा बिलखता बच्चा अन्दर आया और अपनी माँ के समस्त क्रोध और क्षोभ से अनभिज्ञ रोटी के लिए चिल्लाने लगा। कृष्णा बाई के सामने उसके दूसरे पाँच बच्चों की आकृतियाँ घूम गयीं। उनके पेट में भूख की दिन-प्रति-दिन बढ़ती हुई ज्वाला और राशन की दुकान से मिलने वाले अनाज की दिन-प्रति-दिन घटती हुई मात्रा उसकी आँखों के सामने आयी और उसका क्रोध शांत हो गया। उसने ठंडे दिल से इस नयी परिस्थिति पर विचार किया, इससे समझौता करने का निश्चय किया और अपने भाग्य की इस नयी विधात्री से जूझने के लिये उसी अस्त्र से काम लेने की ठानी जिससे समझदार लोग आदि काल से बुद्धिमानों को मूर्ख और मूर्खों को वज्रमूर्ख बनाते आये हैं।

अपने बिलखते हुए बच्चे को कुल्हे से लगाये वह उसी समय पारिख साहब के यहाँ पहुँची। पारिख साहब अपनी विरक्ति में केवल सुबह का नाश्ता और शाम की चाय घर लेते थे। लंच और डिनर वे दफ्तर ही में करते थे और सुबह दस से लेकर रात के बारह-बारह बजे तक दफ्तर में बैठे रजिस्टरों, फ़ाइलों और कागज़-पत्रों से मन बहलाया करते। आया उस समय चपरासी के हाथ दोपहर का खाना भेजकर कुछ सोने की तैयारी कर रही थी। कृष्णा बाई को समय से पहले आया जान वह उसे डाँटने को तैयार होकर खड़ी हो गयी।

कृष्णा बाई ने उस वर्ष में पहली बार आया को सलाम किया

और अपने बिलखते हुए बच्चे को रसोई-घर के बरामदे में बिठा-कर स्वयं भी रोने लगी।

नाक-भौं चढ़ाते हुए आया ने पूछा—"क्या है ?"

तब रोते-रोते कृष्णा बाई ने अपनी स्वर्गीय मालकिन की उदारता और समवेदनशीलता का बखान किया और फिर कहा कि अब तो उन ग़रीबों के लिए आया ही मालकिन है और सहायता के लिए उसी की ओर देखेंगे।

आया की तनी हुई भृकुटी उतर गयी। नींद खराब करने के लिए जो डांट कृष्णा बाई को पिलाना चाहती थी, वह भी उसके ओठों ही में रह गयी।

"मेहतर तुम्हारी बहुत अच्छी बात बोलता था।" कृष्णा बाई ने आँसू पोंछते हुए कहा—"तुम हमसे काहे को गुस्सा हो गयी। राशन पूरा नहीं पड़ता। बच्चा लोग भूखा मरता है। तभी हम तुमसे कहता। नहीं तो आठ बरस काम किया है, कभी खिटखिट नहीं किया। तुम हमको काहे को निकालने को माँगता है। हमारा बच्चा भूखों मर जायँगा। हम तुम्हारा सब काम करेंगा, कपड़े भी धोयँगा। तुम्हारा मर्जी होये तो पगार बढ़ा देना, नहीं तो इसी पगार पर काम करेंगा।"

"सीधी तरां काम करो, हमको खिटखिट नहीं माँगता।" मालकिन के-से आदेश-पूर्ण स्वर में आया ने कहा और बड़ी उदारता से एक रोटी रोते हुए बच्चे के हाथ में लाकर थमा दी।

संध्या को जब पारिख साहब नाश्ते पर बैठे तो उनके प्याले में चाय ढालते हुए मिनमिनाते-से स्वर में आया ने कहा—"आज

हमने कृष्णा बाई को जाने के लिए बोला तो ओ रोने लगा। ग़रीब लोग है, छै बच्चा है और राशन पूरा नहीं पड़ता। बोलता था—हम सब काम करेंगा, बरतन भी घासेंगा, कपड़ा भी धोयेंगा और खिटखिट नहीं करेंगा। हमको निकालो नहीं। हम बोलता है साब, पुराना नौकर है, किसी गड़बड़ का डर नहीं। तुम उसका दो रुपया पगार चढ़ा देओ। तुम ग़रीबों को देखेंगा तो तुमको खुदा देखेंगा।"

नेता

स्वतंत्रता-आंदोलन में भाग लेने वाले लोग साधारणतः तीन प्रकार के होते हैं—अधिकांश तो स्वदेश-प्रेम की भावना से प्रभावित हो कर, चाहे वह भावना स्थाई हो, अथवा अस्थाई, आन्दोलन में कूद पड़ते हैं। दूसरे कुछ ऐसे भी होते हैं, जो एक ही तीर से दो शिकार करने के सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं और देश-सेवा के साथ साथ पेट-सेवा करते रहना भी पाप नहीं समझते। परन्तु तीसरे, यद्यपि उनकी संख्या इतनी अधिक नहीं, अपने स्वभाव में पारद की सी कुछ ऐसी अस्थिरता लिये होते हैं कि केवल विनोद के लिए अथवा मात्र विभिन्नता के हेतु ऐसे आन्दोलनों में शामिल हो जाया करते हैं। उन्नाव के शर्मा जी इसी तीसरी श्रेणी के देश-प्रेमियों में से थे।

शर्मा जी घर से खाते-पीते आदमी थे। उन्नाव में आप की

काफ़ी जायदाद थी। पिता महाजनी करते थे। कुछ मकान और दुकानें भी थीं। धरती भी पर्याप्त थी। फिर बीवी थी, बच्चे थे, सगे-सम्बन्धी थे। परन्तु आप को रहना अधिकतर कानपुर में ही पसंद था—एक ही रस की, एक ही तरह के काम की बेड़ी अपने पाँव में डाल रखना आप को कभी स्वीकार न था। नया रस हो नया रंग हो, नया जीवन हो। यह भी कोई बात है कि एक ही घिसी-पिटी लीक पर, एक ही ढिलमिल गति से चलते जायँ—और यही कारण है कि यदि आप आज एक काम को हाथ में लेते तो कल उससे ऊब कर दूसरा अपना लेते और परसों दोनों से परेशान होकर तीसरे के गुण गाते दिखायी देते। जीवन-समुद्र में आपने कभी डूब कर न देखा। नौका की भाँति ऊपर ही ऊपर तैरा किये। उन दिनों जब कानपुर में स्वराज्य-आन्दोलन आरम्भ हुआ तो आप पुरातत्व के अन्वेषण में निमग्न थे और आप का मस्तिष्क हड़प्पा और मोहंजोदड़ो के खंडहरों की सैर करते करते उकता गया था। बस, आन्दोलन आरंभ होते ही अन्वेषण-फन्वेषण छोड़ आप उसमें कूद पड़े। जेल जाने को आप ज़रा तकल्लुफ़ समझते थे, इसलिए स्वदेशी-प्रचार-समिति के मंत्री बन गये और क़स्बा-क़स्बा, गाँव-गाँव बड़े जोरों से खादी-प्रचार करने लगे।

उन्हीं दिनों गांधी-सप्ताह भी आ गया। शर्मा जी को अपनी कारगुज़ारी दिखाने का अवसर मिल गया। उन्होंने इस दिन के लिए जुलाहों के एक बड़े भारी जलूस की घोषणा कर रक्खी थी। दूर-दूर के जुलाहों को उसमें सम्मिलित होने का निमंत्रण दे रक्खा था। इतने दिन गाव-गाँव, क़स्बा-क़स्बा वे जो प्रचार करते रहे थे,

उसकी सफलता का उन्हें पूरा विश्वास था, और सचमुच जब जुलूस निकला तो मील भर लम्बी जुलाहों की टोलियाँ थीं। उनके आगे आगे देशी सूत के हारों में ढँका खादी का झंडा हाथ में लिये स्वयं शर्मा जी थे।

जनरलगंज पहुँचते पहुँचते शर्मा जी के जोश की सीमा न रही। कानपुर में कपड़े का बड़ा बाजार भी यही है। यहीं उन्हें भाषण देना था। उनके मुख पर लाली दौड़ गयी, नसें उभर आयीं। उन्होंने पूरे जोर से नारा लगाया—"खादी पहनना" और सहस्रों स्वर एक साथ गूँज उठे—"गरीबों को भूख से बचाना है।" तभी एक स्वयंसेवक कहीं से कुर्सी-मेज उठा लाया। शर्मा जी उस पर खड़े हो गये। झंडे को एक हाथ में थाम कर कंठ के पूरे स्वर से उन्होंने कहना आरंभ किया:—

"मित्रो! आज हम एक कठिन समय से गुजर रहे हैं। इस समय हमें अंग्रेजी सरकार ही से लोहा नहीं लेना है, बल्कि अपने उन भाइयों का भी सामना करना है, जो स्वार्थ से अँधे होकर हमारी दासता की जंजीरों को और भी सुदृढ़ बना रहे हैं, जो धनोत्पत्ति की धुन में हर प्रकार के धोखे को, छल कपट को, उचित समझते हैं। आज हम गांधी-सप्ताह मना रहे हैं। भारत की—भारत ही की नहीं, सारे संसार की—इस महान आत्मा का आदेश है कि आज अधिक से अधिक मात्रा में खद्दर बेचा जाय। परन्तु हमारे ये भाई मिल के कपड़े ही को खादी कह कर जनता को लूट रहे हैं।"

और यह कहते हुए शर्मा जी ने जनरलगंज की बड़ी बड़ी दुकानों की ओर संकेत किया और जुलूस में से सहस्रों कंठ "शर्म "शर्म!" चिल्ला उठे।

उस समय तक जुलूस कई गुना बढ़ गया था। जुलहों के अतिरिक्त स्कूल और कालेज के छात्र, दूकानदार और दूसरे लोग भी उसमें आकर सम्मिलित हो गये थे। उस बढ़ते हुए तूफ़ान को देख कर शर्मा जी का जोश भी दुगुना हो गया। अपने स्वर को वे धीरे धीरे ऊँचा करते गये। देश की दुर्दशा का चित्र उन्होंने बड़े मार्मिक शब्दों में खींचा। अन्य देशों की जनता के स्वदेश-प्रेम का दृष्टांत देकर बताया कि हमारे देश की जनता का क्या कर्तव्य है। खादी से गरीबों को क्या लाभ पहुँचता है और मिल के कपड़े से धनवानों की जेबें किस प्रकार भरती हैं, यह बताते हुए वे एक नाटकीय ढंग से जुलाहों की ओर मुड़े और उन्होंने कहा—

"पूंजीपतियों के स्वार्थ का शिकार बनने वालो, जागो। जागो, कि तुम्हारे हाथ से रोटी का आधा कौर भी छीना जा रहा है। जागो, कि तुम्हारे रक्त की अंतिम बूँद तक चूसी जा रही है—तुम चुप बैठे हो, हाथ नहीं हिलाते, रोते नहीं, चिल्लाते नहीं। बिना रोये तो, भाइयो, माँ भी बच्चे को दूध नहीं देती। महात्मा गांधी ने इधर खादी पहनने का आदेश दिया और उधर मिल-मालिकों ने धड़ाधड़ खद्दर तैयार करना आरंभ कर दिया है। वे भूखे के हाथ से सूखी रोटी का टुकड़ा भी छीन लेने को तैयार हैं। वे खादी के आन्दोलन को सफल होते देखना नहीं चाहते। परन्तु यदि तुम्हारी नसों में जान हैं, यदि तुम्हारे संगठन में शक्ति है, तुम्हारी प्रार्थनाओं में बल है, तुम्हारी फ़र्याद में असर है तो बाजी तुम्हारे हाथ रहेगी।"

जनता ने तालियाँ पीटीं। महात्मा गांधी के साथ साथ शर्मा जी की जय के नारे भी वायुमंडल में गूँजे। तब शर्मा जी दूसरे लोगों की ओर मुड़े। उन्होंने उनसे खादी खरीदने की प्रार्थना की और कहा—"हमने निश्चय किया है कि हम गली-गली, मुहल्ले-

मुहल्ले जायेंगे। इन ग़रीब जुलाहों की कहानी सब को सुनायेंगे और मुझे विश्वास है कि हमारे दर्दमंद देशवाशी हमारी पुकार को सुनेंगे।"

इसके बाद झंडियों की सरसराहट गगन-भेदी जयकारों के स्वर में गुम हो गयी। शर्मा जी ने खादी की गाड़ी आगे लाने को कहा और देखते-देखते कई सौ का कपड़ा बेच दिया।

कई दिनों तक डट कर मुकाबिला हुआ। शर्मा जी ने पूंजी-पतियों और बड़े-बड़े व्यापारियों को छकाने के लिए नये नये ढंग सोच निकाले। पिकेटिंग करना, कांग्रेस के कार्यक्रम का एक भाग ही था, परन्तु शर्मा जी ने स्वयंसेवकों का एक ऐसा दल संगठित किया जो जासूसी का भी काम कर सके। एक गज़ भर भी मिल का कपड़ा उन्होंने बिकने न दिया।

कारखाने दिन रात चलते, परन्तु माल की खपत न होती। मिल-मालिकों ने मजदूरी कम करने का निर्णय किया। मजदूरों ने आम हड़ताल की धमकी दी। बड़ी बड़ी दुकानों पर उल्लू बोलने लगे। जनरलगंज ग्राहकों के बदले, दुकानदारों और कांग्रेसी स्वयं-सेवकों की आँख-मिचौनी देखने वालों के लिए तमाशा बन गया। आखिर मिल-मालिकों और व्यापारियों का एक डेपूटेशन कांग्रेस के बड़े बड़े नेताओं से मिला और उनके सामने उसने मिल-मालिकों की मुसीबत का रोना रोया। उसने कहा कि हमारे लिए पहले ही विदेशी माल का मुकाबिला करना कठिन हो रहा है। यदि देश में हमारा विरोध होगा तो इस उद्योग-धँधे का खात्मा हो जायगा।

कारखाने बन्द कर देने पड़ेंगे और खादी से जितने जुलाहों को लाभ पहुँच रहा है उससे कहीं अधिक संख्या में मजदूर बेकार हो जायेंगे।

उसी सम्बन्ध में डेपूटेशन राष्ट्रपति से भी मिला। उन्होंने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—"कांग्रेस खादी का प्रचार अवश्य करती है, परन्तु स्वदेशी मिलों के कपड़े का बहिष्कार नहीं करती।" डेपूटेशन ने शर्मा जी के आंदोलन का हाल बताया तब राष्ट्रपति ने उन्हें स्वयं मामले को सुलझाने का विश्वास दिलाया।

शर्मा जी मामला सुलझाना न चाहते हों, यह बात न थी। वे स्वयं इस लीडरी की बक-झक से तंग आ गये थे, परन्तु लीडरी ही मधु की भाँति उन्हें ऐसी चिमटी थी कि छोड़ने ही में न आती थी। दिन-रात काम करते करते वे थक गये थे। उनका स्वास्थ्य भी ठीक न रहा और सब से बड़ी बात तो यह थी कि वे इस एक-रस्ता से ऊब उठे थे। वे इस आंदोलन से निष्कृति तो चाहते थे परन्तु सशरीर मुक्ति चाहने वालों की भाँति उनकी इच्छा थी कि लीडरी भी क़ायम रहे और निष्कृति भी मिल जाय। इसलिए जब स्थानीय नेताओं ने उनसे मिल के कपड़े पर पिकेटिंग बन्द कर देने को कहा तो उन्होंने उत्तर दिया, "आख़िर उन जुलाहों का क्या बनेगा जो आन्दोलन के जोरों में चलने से अपना कारबार फिर आरंभ कर बैठे हैं। यदि अब आन्दोलन बन्द कर दिया जाय तो वे सब के सब बेकार हो जायँगे।"

स्थानीय नेता अब इतने जुलाहों का क्या प्रबन्ध करते। शर्मा जी की माँग थी कि इन सब को मिल-मालिक नौकरियाँ दें।

आखिर फिर राष्ट्रपति को तार दिया गया। वे आये कॉन्फ्रेंस हुई और मामला सुलझ गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि शर्मा जी इन समस्त कॉन्फ्रेंसों में बड़े रोब से शामिल हुए। तय यह पाया कि मिल-मालिक शर्मा जी के अनुयायी जुलाहों में से कुछ को अपने यहाँ नौकर रख लें और शेष के लिए कुछ पूंजी से एक और करखाना खोला जाय और शर्मा जी मिल के देशी कपड़े का विरोध छोड़ दें।

शर्मा जी इसके लिए पहले ही तैयार थे। उन्होंने कहा—"मैं आज से तंग परिधि को छोड़ कर इस आन्दोलन को विस्तार दूँगा। और मात्र खादी के बदले समस्त देशी वस्तुएँ खरीदने का प्रचार करूँगा।"

और उसी शाम एक विराट सभा में उन्होंने खादी-संघ का सूत्रपात कर दिया।

दूसरे दिन शर्मा जी को तार मिला—"तारा की शादी है, तत्काल पहुँचो।" तारा शर्मा जी की भतीजी का नाम था। वे उसी सुबह उन्नाव को चल दिये।

कस्बे में उनके आने की सूचना पहले ही पहुँच चुकी थी। उनके श्रद्धालुओं ने उन्नाव की कांग्रेस कमेटी को तार से सूचित कर दिया था ज्यों ही गाड़ी स्टेशन पर रुकी, शर्मा जी की जय के नारों से वायुमंडल गूँज उठा। शर्मा जी कुछ चकित से रह गये। अपने कस्बे में उन्हें इस स्वागत-सम्मान की आशा न थी। किन्तु 'ख्याति का सूर्य जब चमकता है तब उसकी किरणें कहाँ कहाँ नहीं पहुँच जातीं! शर्मा जी गाड़ी से उतरे तो स्थानीय नेताओं ने उनके गले

में हार डाले। फिर देवियाँ आगे बढ़ीं। शर्मा जी का वक्ष कई इंच बढ़ गया और मुख पर उल्लास मिली लाली की लहर दौड़ गयी परन्तु तभी उनकी दृष्टि अपने सम्बन्धियों पर गयी और उनके मुख पर जैसे कालिख पुत गयी। इस सारी भीड़ में केवल उनके घर वाले ही विदेशी वस्त्रों में आवृत्त थे। जब उनकी पत्नी ने उनके गले में हार डाला तो उन्हें लगा, जैसे कोई भिगो-भिगो कर उन्हें जूते मार रहा है।

वह दिन शर्मा जी ने घर से बाहर ही बिताया। संघ की एक शाखा उन्नाव में खोली। अपने सत्कार में दी जाने वाली एक पार्टी में सम्मिलित हुए। मज़दूरों की एक सभा में भाषण दिया। काफी रात हो चुकी थी जब उन्होंने घर की ओर मुँह किया।

उनका विचार था अपने कमरे में जाकर चुपचाप सो रहेंगे। दूसरों से अधिक उन्हें अपनी पत्नी पर गुस्सा था। आखिर इस तरह उनका अपमान क्यों किया गया? यदि खादी के कपड़े न पहने जाते थे तो स्टेशन पर जाने की क्या आवश्यकता थी? घर पहुँचे तो मालूम हुआ कि श्रीमती जी ने अभी खाना नहीं खाया और रो रो कर आँखें सुजा ली हैं। अब क्या किया जाय। शर्मा जी कुछ निर्णय न कर पाये। वे तो सोचते आ रहे थे कि पत्नी से आँख मिलाये बिना चुपचाप जा कर लेट रहेंगे। बुलायेगी तो बात तक न करेंगे और आज जिस प्रकार उनका अपमान किया गया, उसका भरपूर बदला चुकायेंगे। परन्तु उन्हें उलटा अपनी पत्नी की मिन्नतें करनी पड़ीं। पार्टी में पेट भर खाने के बाद पत्नी को रिझाने के लिए उन्हें फिर खाना खाना पड़ा। तब जा कर देवी जी मानीं।

बस, यहीं शर्मा जी की हार थी। घर में सदैव उन्हें दबना पड़ता था। उनकी मुखरता, उनका जोश, उनकी चतुराई, उनकी योग्यता

सब यहाँ धरी रह जाती थी। दूसरे दिन पत्नी ने साथ चल कर कुछ कपड़ा ले देने को कहा। शर्मा जी को अपनी बात कहने का अवसर मिल गया। बोले—"मुझे साथ ले जा कर क्या करोगी पहले ही कहीं मुँह दिखाने योग्य नहीं रखा, अब कुछ दिन यहाँ रहने भी दोगी या नहीं ?"

पत्नी ने उनकी ओर इस तरह देखा जैसे पूछ रही हो कि इस भाषण का मतलब क्या है ?

"कल सवेरे स्टेशन पर विदेशी कपड़े पहन कर क्यों गयी थीं ?" शर्मा जी ने पूछा।

"अच्छा यह बात है।" पत्नी ने ठहाका मारा। "आप के सिर पर कुछ दिन के लिए यह सनक सवार हुई तो क्या इसका यह मतलब है कि सभी सनकी बन जायँ।"

"मैं सनकी हूँ ?" शर्मा जी गरजे।

परन्तु उस नारी-रत्न ने एकदम हँसते-हँसते, जैसे जादू के ज़ोर से, आँखों में आँसू भर लिये और लगभग रोते हुए कहा—"तो यह क्यों नहीं कहते कि कुछ लेकर न दूँगा, पहले ही आप क्या लाते हैं! विवाह का मामला था। इतने लोग आयँगे। इसलिए कह दिया, नहीं मैं आपसे कब किसी चीज़ के लिए कहती हूँ। कितने तीज-त्योहार आये और चले गये, मैंने कभी आपको एक निगोड़ी साड़ी तक के लिए तो नहीं कहा। तारा आप की भतीजी है, उसे तो अच्छे ही कपड़े लेकर देने होंगे। आप बुराई मोल ले सकते हैं, मैं तो नहीं ले सकती।"

और वह मुँह ढाँप कर सिसकने लगी।

शर्मा जी के तेवर ढीले पड़ गये। क्या करें और क्या न करें. यह निर्णय न कर सके। आख़िर उन्होंने कहा—"तुम जा कर ले

आओ मैं कब रोकता हूँ ?"

"मुझे क्या पड़ी है।" कह कर पत्नी मुड़ने लगी।

शर्मा जी जानते थे, साथ गये बिना मुक्ति न मिलेगी। अब न जायेंगे तो संध्या को जाना पड़ेगा। कलह-क्लेश अलग होगा। लम्बी साँस भर कर उठे और बोले—"चलो।"

रास्ते में उन्होंने पत्नी को समझाया कि जहाँ तक हो स्वदेशी कपड़ा ही लेना। "तुम नहीं जानती" वे बोले, "स्वदेशी कपड़ा पहनने से देश के आन्दोलन को कितना बल प्राप्त होता है। स्वदेशी का ही आंदोलन है जिससे मांचेस्टर के कारखाने बन्द हो गये और अँग्रेज़ की सिट्टी गुम है......

धीरे-धीरे वे अपनी संगिनी को देश के हानि-लाभ की बात समझाते रहे। कभी-कभी वे किसी वाक्य पर ज़ोर देते हुए चलते-चलते एड़ियाँ तक उठा लेते और हाथ से हवा को चीरते हुए इस विषय की महत्ता अपनी इस वज्र-मूर्ख संगिनी को समझाते।

उनकी पत्नी चुपचाप सुनती रही और शर्मा जी को आशा बँध गयी कि उनका भाषण अपना प्रभाव कर रहा है।

कपड़े वालों की दूकानें तो उन्नाव में और भी बहुत थीं, परन्तु शर्मा जी के यहाँ कपड़ा हरलाल ही की दूकान से आता था। वहाँ पहुँचे तो हरलाल को खादी के कपड़े पहने हुए देख कर शर्मा जी झिझके। उन्होंने सोचा था, उसका कोई नौकर दूकान पर होगा, कपड़ा लेंगे और चले आयेंगे। हरलाल से आँखें मिलाने में उन्हें बड़ा संकोच हुआ, परन्तु कोई चारा न था। आगे बढ़े।

शर्मा जी को देख कर हरलाल ने स्वदेशी कपड़े का ढेर लगा

दिया। शर्मा जी भी बड़े उत्साह से स्वदेशी के गुणगान करते हुए अपनी संगिनी को कपड़े दिखाने लगे। परन्तु देवी जी को कुछ पसन्द न आया। उन्होंने दुकानदार से पूछा—"तुम्हारे यहाँ वैसी साड़ियाँ नहीं, जैसी पहले तारा के लिए गयी हैं।"

दुकानदार ताड़ गया। कनखियों से शर्मा जी की ओर देखते हुए उसने कहा—"वे तो विदेशी थीं, हमने विदेशी माल। बेचना बन्द कर दिया है, कुछ थोड़ा सा अन्दर पड़ा है। कहिए तो दिखा दूँ।"

"दिखाइए।" देवी जी ने कहा।

शर्मा जी ने आग्नेय दृष्टि से श्रीमती जी की ओर देखा और खंखार कर थूकने के बहाने नीचे बाजार में आ गये।

वे अभी खांस ही रहे थे कि उनके कान में उन्नाव के चमार बिहारी की आवाज आयी। पति-पत्नी एक मनिहारी की दूकान पर खड़े झगड़ रहे थे। पत्नी कह रही थी, "हम गरीब मजदूर ठहरे हम इतने पैसे खर्च नहीं कर सकते!"

शर्मा जी ने देखा वह सस्ती जापानी बनियान उठा रही थी।

"नहीं मैं यह विदेशी माल न खरीदने दूँगा।" बिहारी ने बनियान छीनते हुए कहा—"तुम्हें मालूम है, ये अंग्रेज लोग सस्ती हिन्दुस्तानी चीजे खरीदने के बदले महँगी विलायती चीजें खरीदते हैं।"

देशी बनियान उन दिनों पाँच आने को आती थी।

बिहारी ने पाँच आने दुकानदार के सामने फेंक दिये और बनियान उठा ली।

पत्नी ने कहा—"मैं इस बनियान को अंग न लगाऊँगी, पाँच आने में तो धनुवाँ की तीन बनियान आ जायँगी।"

तब (शर्मा जी को आश्चर्य हुआ) बिहारी अपनी पत्नी से स्वदेशी के सम्बन्ध में वही सब कहने लगा, जो उन्होंने एक दिन पहले मजदूरों की सभा में कहा था। वे एक ओर हट गये। उस चमार के सामने होते हुए उन्हें शर्म आने लगी।

चमार अपनी पत्नी को समझाता हुआ चला गया। उसकी युक्तियाँ सब वही थीं, जो उसने शर्मा जी से सुनी थीं। एक लम्बी साँस भर कर उन्होंने दुकान की ओर देखा।

हरलाल ने कहा, "यह सब दो सौ का हुआ" और बिल उसने उनकी पत्नी की ओर बढ़ाया।

शर्मा जी का जी चाहा वे सब कपड़े उठा कर रख दें और स्वदेशी खरीद लें। परन्तु दूसरे क्षण नोटों का बंडल उन्होंने पत्नी की ओर फेंक दिया।

उस दिन से शर्मा जी ने राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेना छोड़ दिया और "नारी-मनोविज्ञान" पर एक वृहद्-ग्रन्थ लिखने में निमग्न हो गये।

डाँकी

लाला भाना मल ने कहा, "वे और होंगे जो इस निर्लज्जता को सहन कर लेंगे । मैं यह सब देखने से पहले तुम्हें छुरी भोंक दूँगा।"

पत्नी सहमी हुई दीवार के साथ खड़ी थी । धीरे से बोली, "मैं ही तो अकेली न थी, पंडित कुन्दन लाल की घरवाली भी तो थी।"

लाला जी के क्रोध ने, यह प्रतिवाद सुनकर, गालियों और थप्पड़ों का रूप धार लिया। दो थप्पड़ और दस गालियाँ देते हुए बोले, "वह यदि कुएँ में छलाँग लगायगी तो क्या तू भी डूब मरेगी?"

पत्नी रोने लगी।

लाला जी बड़बड़ाते हुए दूसरे कमरे में चले गये—'अकेली

सिनेमा देखने चली गयीं जैसे मैं मर गया हूँ। कोई पूछने वाला ही नहीं रहा। आज़ादी क्या दी, आसमान में थेगली लगाने लगीं— बाल सँवारे, पाउडर लगाया, झुमके डाले, साड़ी पहनी और बन-तन कर चली गयीं।'

अपने क्रोध में पत्नी के श्रृङ्गार की नकल उतारते हुए लाला जी चले जा रहे थे कि आगे सिंगार-मेज़ पड़ गयी और जैसे उनका क्रोध द्विगुन वेग से उबल पड़ा। एक एक चीज़ उठाकर वे नीचे खड्ड में फेंकने लगे। जब मेज़ साफ़ हो गया तो शीशा उठा कर उन्होंने पटक दिया, लकड़ी के फ़र्श को दहलाते हुए सोने के कमरे में चले गये और धप्प से बिस्तर पर जा लेटे।

लाला भाना मल बड़े आदमी थे। पी० डब्लयू० डी० में सुपरिन्टेंडेंट थे। परन्तु वे चालीस रुपया मासिक पाने वाले एक क्लर्क से उन्नति करके इस पद पर पहुँचे थे और चालीस रुपये मासिक पाने वाली संस्कृति से मुक्ति न पा सके थे। वे लाख प्रयास करते थे (जहाँ तक रहन-सहन के ढंग का सम्बन्ध है, वे अन्य अफ़सरों की भाँति बड़े ठाठ से रहते थे) परन्तु दिन में एक न एक बार अपने तीतरपन को भूल कर वे फिर बटेर बन जाते थे।

जब उनका क्रोध कुछ शान्त हुआ (जिसका कारण उनके मित्र कुन्दन लाल का आ जाना था) तो उन्हें अपनी इस बर्बरता पर बड़ा दुःख हुआ। बिस्तर पर लेटे-लेटे वे निरन्तर इसी घटना के सम्बन्ध में सोचते रहे, अपनी इस असभ्यता पर दुखी होते रहे और (जैसा कि सदैव होता था) अपने विपन्न संकीर्ण भूत को त्याग कर अपने भविष्य को सभ्य, सम्पन्न और प्रशस्त बनाने का

ध्रुवनिश्चय करते रहे।

दूसरे दिन उन्होंने अपनी पत्नी से क्षमा माँग ली और घर में छाये हुए तनाव को कम करने के विचार से उसे और बच्चों को 'डाँकी'※ खेलने की दावत दी, बल्कि एक तरह से उसे विवश कर लिया।

खूब मजे की बाज़ी रही। लाला जी बहुत अच्छा खेलते थे और प्रायः वही जीता करते थे, परन्तु उस दिन अपनी बड़ी लड़की के कारण वे हार गये। उसने हुक्म की बेगम उनको दे दी। लाला जी 'डाँकी' बन गये। उनकी पत्नी सब से पहले जीती थी और रानी (या राजा) बनी थी, इसलिए दण्ड उसी को नियत करना था। मुस्कराते हुए बोली, "आप डाँकी बने हैं तो डाँकी का कुछ काम कीजिए। यह मैले कपड़ों की गठड़ी पीठ पर उठा कर घुटनों के बल चलते हुए कमरे के पाँच चक्कर लगाइए।"

लाला जी बड़ा सिटपिटाए, परन्तु उनके बच्चे उनके पीछे पड़ गये। विवश हो वे घुटनों के बल धरती पर झुक गये, उनकी लड़की ने कपड़ों का बोझा उनकी पीठ पर लाद दिया और टिटकारी भरी। तीनों बच्चे टिटकारी भरते हुए उनके पीछे कूदने लगे।

तभी कुन्दन लाल आ गये। उनके पीछे कुली आमों का टोकरा उठाये हुए था। लाला जी को इस दशा में चलते देख कर बोले, "यह क्या हो रहा है?"

पत्नी बोली, "डाँकी साहब अपना काम कर रहे हैं। "फिर

※डाँकी=गधा=ताश के एक खेल का भी नाम है जिसमें जो हारे वह डाँकी बनता है और जो सब से पहले जीते वह हारने वाले को सज़ा देता है।

कुली की ओर देख कर बोली, "आप व्यर्थ कुली को लाये। डाँकी साहब जो यहाँ थे।"

इस उपाधि पर लाला भानामल ने डाँकी बने बने अपनी पत्नी की ओर देखा और दाँत निकोस दिये।

आँखों देखी बातें

एक दिन पंडित तेजभान और लाला झंडालाल की प्रतिद्वन्द्वता का जब जिक्र छिड़ा तब पंडित तेजभान, जो उस दिन कुछ रौ में थे, यों कहने लगे—

"झंडालाल से मेरी बहस की भी ख़ूब कही। प्राय: दोस्तों ने पूछा है कि जब भी हम इकट्ठे होते हैं, आखिर इस तरह क्यों बहस पड़ते हैं? मैंने स्वयं इस बात पर बहुत विचार किया है और मैं इसी नतीजे पर पहुँचा हूँ कि हमें यह बीमारी विरासत में मिली है। आप लोग शायद न जानते हों। पंडित झंडालाल और मैं पास पास ही रहते हैं और जिस प्रकार झंडालाल मेरे प्रिय मित्र हैं उसी तरह झंडालाल के पूज्य पिता स्वर्गीय खंडालाल मेरे पिता जी के अभिन्न मित्रों में से थे और आज भी जब कभी मैं बचपन की बातें याद करता हूँ तो मुझे लगता है कि उनमें और मेरे पिता में भी

यह प्रतिद्वन्द्वता किसी न किसी हद तक मौजूद थी। यदि झंडालाल के पूज्य पिता पटवारगीरी के ज़माने के अपने सनसनीदार अनुभवों का ज़िक्र करते, तो मेरे पिता पोस्टमास्टरी के ज़माने की घटनाओं को बढ़ा-चढ़ाकर और लाला खंडालाल की घटनाओं के मुक़ाबिले में और भी सनसनीदार बनाकर सुनाते। यदि लाला खंडालाल किसी गिरदावर या क़ानूनगो से अपनी टक्कर का और अपनी अक़्लमन्दी और निडरता से अपने विजयी होने का गर्व स्फीत स्वर में वर्णन करते, तो मेरे पिता जी विनम्र-अभिमान के साथ अपनी निर्भीकता तथा विद्वत्ता की कहानी कहते और सुपरिन्टेंडेंट या कम से कम हेड-पोस्टमास्टर से अपने सफल-द्वन्द्व का हाल सुनाना अपना फ़र्ज़ ख्याल करते। कहने का तात्पर्य यह है कि उनमें यह प्रतिद्वन्द्वता काफ़ी हद तक मौजूद थी। पर जहाँ उनमें यह दोष था, वहाँ एक गुण भी था। हम दोनों जब एक-दूसरे से बढ़-चढ़कर बातें करते हैं तब हमारा उद्देश्य एक-दूसरे का रोब कम करना होता है, और अपनी इस कोशिश के फलस्वरूप हम दोनों का ही रोब कम हो जाता है। उनमें यह बात न थी, उनकी हार्दिक इच्छा एक-दूसरे का प्रभाव कम करने की कभी न होती थी, बल्कि वे दोनों अपना रोब जमाते और यदि एक का प्रभाव कुछ कम होता दिखायी देता तो दूसरा उसकी मदद को आ जाता। मैं तो लाख चाहता हूँ कि हम भी उनका अनुकरण करें, समय आ जाय तो एक-दूसरे का समर्थन करने से परहेज़ न करें, पर झंडालाल कमबख़्त में अपने स्वर्गीय पिता की बीसवाँ हिस्सा भी अक़्ल नहीं। मुझे आज भी याद है, एक बार उन्होंने इसी तरह के एक मौके पर मेरे पिता को एक कठिन परिस्थिति से निकाला था और यह झंडालाल, यह तो......ख़ैर छोड़ो, मैं आपको वह बात सुनाता हूँ। क्या अजीब

दोस्त थे वे दोनों !"

और पंडित तेजभान ने अपने मित्र भंडालाल के स्वर्गीय पिता लाला खण्डालाल का एक किस्सा सुनाया आरम्भ किया—

"बचपन की बात है, भंडालाल और मैं तब बहुत छोटे थे। याद नहीं पड़ता, कोई त्योहार था या कोई और संस्कार जिसके कारण हम—मैं, पिता जी और माता जी—उसके घर गये थे। बाहर वर्षा होने लगी थी और हम उसी के यहाँ ठहर गये। ख़ैर, सर्दी बढ़ गयी, इसलिए मैं तो भंडालाल के पास लिहाफ़ में जा बैठा। छोटा बलराम शायद सो गया था और हमारी दोनों बड़ी बहनें परे चार-पाई पर बैठी थीं। उनके साथ ही अँगीठी के पास माता जी बैठी थीं। लाला खंडालाल के हाथ में हुक्के की नै थी और मेरे पिता शायद इस इन्तजार में थे कि वे अपनी बातों को पूर्ण विराम देकर एक-दो घूँट भर लें तो उन्हें भी गुड़गुड़ाने का मौक़ा मिले। बहरहाल कुछ ऐसा ही फ़िजा में लाला खंडालाल ने अपनी पत्नी की ओर एक नजर देख कर यह कहा—'वही बात सुनाने लगा हूँ जिसे सुन कर तुम इतना डर गयी थीं कि मुझे कई दिनों तक घर से बाहर नहीं निकलने दिया था।'

"उनकी पत्नी अँगीठी में और कोयले डालती हुई ओठों में मुस्करायीं और फिर मेरी माता जी के पास जा बैठीं।

'यह उस जमाने की बात है जब मैं जगाधरी में पटवारी बन कर गया ही था' लाला खंडालाल अपनी मक्खी ऐसी मूँछों को

नाक और ओठों के बीच भींचतें हुए बोले, "वहाँ के बीहड़ घने जंगलों में मुझे अपने जीवन की सब से रोमांचकारी घटना से दो-चार होना पड़ा और आज भी जब उसकी याद आती है तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं।"

"तब हम क्या जानते थे" पंडित तेजभान ने कहा कि जगाधरी में जंगल का निशान तक नहीं। हम दत्तचित्त होकर उनकी कहानी सुनने लगे। हुक्के का एक कश लगाकर वे बोले:—

'वहाँ जगल के रेंजर से मेरी गहरी दोस्ती हो गयी, ख़ूब आदमी था वह। जंगल के जीवन की ऐसी बातें सुनाता था, ऐसी दिलचस्प और ऐसी हैरान कर देने वाली कि मेरे दिल में घने जंगल में जाकर वहाँ क जीवन देखने की आकाँक्षा प्रबल हो उठती। कैसे चाँदनी रातों में वन का राजा वृक्षों जितनी ऊँची छलाँगें लगता हुआ विचरता है; कैसे उसकी दहाड़ से जङ्गल गूँज उठता है; कैसे चीते, बाघ और बघेले स्वच्छन्द-स्वतन्त्र घूमा करते हैं! यह सब देखने की उत्कट इच्छा होती। वैसे तो एक-दो बार जब हमारे क़स्बे में सरकस आया था और उन्होंने शेर और चीतों को देखने का टिकट लगाया था तब नक़द इकन्नी खर्च कर हम दो बार उन हिंस्र जन्तुओं के दर्शन कर आये थे, पर जंगल की तो बात ही दूसरी होती है। एक दिन हमारे मित्र रेंजर ने हमें अपने साथ जंगल में ले जाने की इच्छा प्रकट की। तब जनाब झंडालाल की माँ तो घबरा गयीं—आखिर अबला स्त्री हुईं न—पर मैं तो, आप जानते हैं, बचपन से ही निर्भीक हूँ। मेरी निडरता देखकर लोग-बाग मेरे पिता से कहा करते थे—'भई ठंडालाल, तुम्हारा लड़का तो शेरों का दिल रखता है, शेरों का! इसे तुम सेना में भर्ती करा देना।'

"लाला खंडालाल ने मेरे पिता के बाजू पर हाथ मारते हुए

कहा, 'सच जानना भाई, यदि मैं सेना में भर्ती हो जाता तो 'लफ़्टेंटी' तो वह पड़ी थी, पर यहाँ तो भाग्य में जरीब खींचना बदा था।'

"एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर लाला खंडालाल ने फिर कहना आरम्भ किया—'.खैर, हम झंडालाल की माँ के लाख मना करने पर भी चल पड़े। घना जंगल, सूची-भेद्य अन्धकार और कंटकाकीर्ण मार्ग! रात तो चाँदनी थी, पर वृक्ष इतने घने थे कि प्रकाश की एक किरण भी न दिखायी देती थी। तभी दूर कहीं शेर के गर्जने की गगनभेदी आवाज़ सुनायी दी। चिड़िया-घर के पिंजरे में बन्द शेर की आवाज़ और उस विस्तृत जंगल की आज़ाद फ़िज़ा में बबर शेर की आवाज़ में कितना अन्तर है, यह कुछ अनुभव से ही पता चलता है। मैं काफ़ी मज़बूत दिल का आदमी हूँ, पर ज़रा दिल पर हाथ रख कर देखो, आज भी स्मरण-मात्र से कलेजा काँप रहा है।'

"मेरी बहन गेंदा और झंडालाल की बहन चम्पा में गुपचुप कुछ बातें हो रही थीं। जब लाला खंडालाल ने मेरे पिता का हाथ अपने दिल की धड़कन दिखाने के लिए खींचा तब मेरी बहन ने पूछा—'क्यों तायाजी, हमने तो सुना है कि भारतवर्ष में बबर शेर मिलते ही नहीं और अब तो अफ्रीका में भी उनका आधिक्य नहीं रहा। फिर जगाधरी तो पंजाब में ही......।'

"मेरे पिता का हाथ छोड़कर बीच में ही बात काटते हुए लाला खंडालाल ने कहा—'बस, इसे कहते हैं पढ़-लिखकर भी मूर्ख रहना। अरे, मैं तब की बात कर रहा हूँ जब बबर शेरों की दहाड़ों से हिमालय से लेकर विन्ध्याचल तक से जंगल गूँजा करते थे। तब तो तू पैदा भी नहीं हुई थी।' और उन्होंने अपनी कहानी जारी रखते हुए कहा—'बस जनाब, उस बीहड़ जंगल में हम चले जा

रहे थे। कभी हाथी की भयावह चिंघाड़, कभी शेर की भयानक दहाड़ और कभी भेड़ियों की डरा देनेवाली गुर्राहट। काफ़ी दूर चलकर हम जरा खुले मैदान में पहुँचे। सामने कुछ दूर पर एक बड़ा ऊँचा टीला बना हुआ था। सुना था, एक बार वहाँ कई हाथी मर गये थे। उसी रात बड़ा भारी तूफ़ान आया, जिससे जङ्गल के कई वृक्ष उन पर गिर पड़े। बाद को मिट्टी जम जाने से वह टीला बन गया।'

"अब उनकी अपनी लड़की को कुछ आशंका हुई, वह बोली—'पिता जी, हमने तो सुना है कि हाथी इस प्रकार जहाँ-तहाँ नहीं मरा करते। किसी ख़ास जगह शाँति से जाकर मरते हैं।'

"लाला खंडालाल झल्लाकर बोले—'तुम्हें जिन बातों का पता नहीं उनमें बहस मत किया करो। परमात्मा की इच्छा के आगे क्या असम्भव है? आज वह चाहे तो सारा संसार ग़र्क हो जाय। हाथी बेचारे की बिसात ही क्या है?' और बेज़ारी से सिर हिलाकर उन्होंने फिर कहना शुरू किया—'उस मैदान में चाँद पूरी रोशनी से चमक रहा था। मैंने अंधकार से निकल कर जरा सुख की साँस ली। तभी कहीं समीप से ही शेर की दहाड़ आयी और इसके साथ ही उसके झाड़ियाँ फलाँगने की आवाज़! मेरे तो हवास गुम हो गये। आप जानते हैं, मैं काफ़ी निडर हूँ, पर निडरता भी जगह जगह की होती है। फिर भी बाहर से मैंने अपना संयम बनाये रक्खा। लेकिन कब तक? रेंजर मेरी घबराहट ताड़ गया, बोला—वाह डर गये! अरे भाई! मेरे साथ होते हुए डर कैसा? इतने वर्षों से इन जंगलों में काम कर रहा हूँ। ये सब हिंस्र पशु तो मेरे मित्र हो गये हैं। मजाल है, कोई तुम्हें कुछ कहे। अपने पशु-ज्ञान से वे झट जान लेंगे कि तुम मेरे मित्र हो। कोई और शिकार होगा, जिसे देखकर शेर दहाड़ रहा है।

'रेंजर ने अभी अपनी बात समाप्त भी न की थी कि बिजली की तेजी से बबर शेर मेरे पास से निकल गया। इतने पास से कि उसकी गर्दन के बाल मेरी कमीज़ की छोर से छूते गये। अब मुझे कुछ सान्त्वना मिली। रेंजर ने सत्य ही कहा था कि वहाँ के सब पशु-पक्षी उसके मित्र थे। हम अभी शेर की ओर देख ही रहे थे, जो टीले की ओर तेजी से दहाड़ता-फलाँगता बढ़ा जा रहा था कि पीछे से शेरनी भी उसी तेजी से आयी और मेरे बिलकुल पास से—इतना पास से कि उसका एक कान मेरी शलवार से छू गया—निकल गयी। मैंने अपने प्रिय मित्र रेंजर से पूछा—ये दोनों किधर जा रहे हैं? उसने उत्तर दिया,—अवश्य ही कोई शिकार होगा, चलो ज़रा आगे बढ़कर देखें।

'मेरी उत्सुकता को तो पंख लग रहे थे। हम उनके पीछे हो गये। ज़रा दूर जाने पर देखा कि एक भैंसा, टीले के समीप वृक्ष की छाया में, खड़ा है। छाया में होने के कारण दिखायी न दे रहा था। यद्यपि रेंजर ने कहा था कि और आगे बढ़ें और यद्यपि अब मेरे मन में भी डर का नाम तक न था, फिर भी मैंने वहीं से देखना उचित समझा। पशु आख़िर पशु ही है, बिल्ली को भी अधिक तंग करो तो पंजा मार देती है। फिर शेर तो शेर ही ठहरा।

'हम वहीं, ज़रा दूर, एक वृक्ष की ओट में खड़े होकर देखने लगे।'

"लाला खंडालाल ने यह कहकर हुक्का गुड़गुड़ाया और फिर उसे मेरे पिता जी की ओर कर दिया। पर शायद कोयले बुझ गये थे, क्योंकि उनके बार बार ज़ोर से गुड़गुड़ाने पर भी धुआँ न

निकला। तब लाला खंडालाल ने अपनी कहानी फिर शुरू की—"

'सिंह को आता देखकर भी भैंसा खड़ा रहा, भागा नहीं, हिला नहीं, जैसे मूर्तिमान् मृत्यु को देख कर उसके होश उड़ गये हों, जैसे उसे मौत ने सूँघ लिया हो। हमारे देखते देखते सिंह उस पर झपटा, और दूसरे क्षण रुधिर की धार भैंसे के शरीर से फौवारे की तरह फूट निकली। एक और हमला हुआ और भैंसा धरती पर गिरकर तड़पने लगा। उसे ज़मीन पर गिरा कर शेर ने अपनी प्रिय सिंहनी की ओर गर्वभरी दृष्टि से देखा। शेरनी ने सिर उठा कर हलकी सी गुर्राहट के साथ उसे शाबाशी दी। तब अभिमान के मद में झूम कर सिंह फिर भैंसे की ओर बढ़ा और उसने उसे अपने मजबूत दाँतों से पकड़ कर तोला।'

'यह कहते हुए लाला खंडालाल ने मूँछों को भींचते हुए, सिर तनिक नीचा करके (मानो शेर की तरह भैंसे को पकड़ कर) वज़न करते हुए, सिर हिलाया। सिर हिलाते समय लाला जी की टोपी पहले दायीं ओर, फिर बायीं ओर खिसकी और फिर जहाँ की तहाँ टिक गयी।"

'उसे एक जैसा तोलकर', लाला खंडालाल बोले, 'सिंह ने मृतक भैंसे को धरती पर रख दिया और सिंहनी की ओर एक बार देखकर, मानो बल प्राप्त करके, उसने फिर उसे वहीं से पकड़ा और एक बार सिर झुकाकर ज्योंही ऊपर को फेंका, भैंसा ऐन टीले की चोटी तक जा पहुँचा। फिर वहां से लुढ़क आया।'

"लाला जी की टोपी, जो सिर को झटका देने के कारण भैंसे की तरह उछल गयी थी, उनकी पत्नी ने उन्हें लाकर दी।

"लाला जी बोले—'यह देखकर शेरनी का सब उल्लास जाता रहा। अपने वीर पति की इस असफलता पर उसे हार्दिक-दुख हुआ और

क्रोध से उसकी आँखों में आँसू भर आये। शेर की ओर उपेक्षा की दृष्टि से देखकर उसने उसे हटने के लिए कहा। सिंह लज्जा से सिर झुकाकर पीछे हट गया। तब शेरनी आगे बढ़ी। उसने भैंसे को उठाया, उसे उसी तरह तोला।'

"लालाजी ने सिर हिलाकर बताया कि इस तरह तोला और उनकी टोपी ने बताया कि सचमुच उसने ठीक ही तोला। फिर लाला जी तनिक ऊँची आवाज़ से बोले—'तब शेरनी ने ज़रा सिर झुका कर ज्योंही टीले की चोटी की तरफ़ ज़ोर से एक झटका मारा, दूसरे क्षण भैंसा टीले के पार था।'

"इस बार झटका देते समय लाला जी ने टोपी पर हाथ रख लिया था।

"लाला जी बोले—'तब एक रहस्य-भरी मुस्कान के साथ शेरनी ने सिंह की ओर देखा। सिंह अपनी पत्नी की इस बहादुरी पर ख़ुशी से बारा बारा हो गया। वह मुस्कराया और आगे बढ़कर उसने सिंहनी को चूम लिया।"

लाला खंडालाल की कहानी सुनाकर पंडित तेजभान बोले—"हमने समझा था कि छोटा बलराम सोया पड़ा है, पर कहानी ख़त्म होते ही बिस्तरे से उचक कर उसने पूछा—फिर क्या हुआ? उसे शायद भैंसे की चिन्ता सता रही थी और मानो बच्चे के मन की बात को भाँपते हुए लाला खंडालाल ने कहा—'तब शेर और शेरनी अपना शिकार खाने के लिए टीले के पार दौड़ गये।'

तनिक खाँसकर पंडित तेजभान फिर बोले—"कहानी सुनाकर लाला खंडालाल ने रोब के साथ हम सबकी ओर देखा और एक

दो बार मूँछों को भींचते हुए कहने लगे—'इस घटना की याद मुझे मरते दम तक रहेगी। जब झंडा की माँ को मैंने यह बात सुनायी तब वह तो ऐसा डरी कि कई दिन तक उसे शेरों के स्वप्न आते रहे।'

पंडित तेजभान जरा मुस्कराकर बोले—"तब मालूम होता है कि हमारे पिता जी भी कुछ कहने के लिए आतुर हो रहे थे। एक बार हमारी माता जी की ओर देखकर और जैसे कुछ साहस पाकर उन्होंने कहना शुरू किया—"

'छाँगा-माँगा के बीहड़ और विस्तृत जंगलों में जब मैं वहाँ पोस्टमास्टर था, मुझे भी बिलकुल ऐसी ही एक घटना से दो-चार होना पड़ा था। तुम तो जानते ही हो खंडालाल कि छाँगा-माँगा का जंगल कितना बीहड़ और विकट है और हिंस्र पशुओं का वहाँ कितना आधिक्य है। एक बार हमारे एक मित्र जो बड़े नामी शिकारी थे, मेरे पास आकर ठहरे। उन्होंने सारा जङ्गल घूम डाला, कई भेड़ियों और चीतों का शिकार किया। पर बबर शेर का शिकार करने की उनकी इच्छा कभी पूरी न हुई। आमतौर पर इतवार के दिन छुट्टी होने के कारण मैं भी उनके साथ होता। बन्दूक चलाना तो मैं पहले से ही जानता था, पर हत्या के विचार से शिकार न करता था। फिर तुम जानते हो, मुझे तो तीतर-बटेरों का शिकार पसन्द भी नहीं। आदमी क्या निरीह चिड़ियों को मारता फिरे! शिकार ही करना हो तो हिंस्र-पशुओं का करे और इसी लिए जब जब अपने शिकारी मित्र के साथ गया, मैंने चीते को ही अपना शिकार बनाया। क्या बताऊँ? कई खालें इकट्ठी हो गयी थीं, पर मित्र छोड़ें तब न। अब एक भी देखने को नहीं रही।

'खैर, एक दिन एक जङ्गली आदमी ने बबर का पता दिया। बस, जनाब, उसी वक्त उसके शिकार का प्रबन्ध किया गया। जंगल

के जिस भाग में शेर का पता मिला था, वहाँ एक काफ़ी ऊँचा टीला भी था। उसके पास एक वृक्ष के साथ लोहे की मोटी ज़ंजीर से एक भैंसा बाँधा गया। टीले की दायीं ओर मचान बनावाया गया। जब रात ने संसार को अपने आँचल में छिपा लिया तब हम दोनों बन्दूकें सँभाले बबर शेर के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे। जाड़े के दिन थे, शरीर की नस-नस में चुभ जानेवाली सर्दी पड़ रही थी; अंग अंग शिथिल हो रहा था, पर शेर का कोई पता न था। आधी रात हो गयी, चाँद निकल आया। तभी उसके क्षीण प्रकाश में हमने देखा कि शेर आ रहा है। हमने यह फ़ैसला कर लिया था कि गोली तभी चलायेंगे जब वह अपने शिकार को मार कर खाने लगे। फिर देखा कि शेरनी भी उछलती-फलाँगती हुई वृक्षों से निकली। शायद भैंसे की बू पाकर वे दोनों ही आये थे। भैंसे को देख कर शेर दहाड़ा और एक लम्बी छलाँग मार कर भैंसे पर झपटा। भैंसा 'म्हें म्हें' करके रह गया।'

"तनिक खाँस कर हमारे पिता जी ने फिर कहना शुरू किया—'हम इस प्रतीक्षा में बैठे थे कि शेर और शेरनी भैंसे को मारकर खाने लगें तब एक ही साथ वे दोनों यमलोक को पहुँचाये जायँ। पर तुम तो जानते ही हो खंडालाल, बबर शेर अपने शिकार को मारकर एकदम खाने नहीं लगता, पहले उसे उछालता है। जैसे बिल्ली चूहे के साथ खेलती है, वैसे ही वह भी खेलता है। बस जनाब, उस शेर ने भी भैंसे को ज़मीन पर गिराकर अपने मज़बूत दाँतों में उसे पकड़ा और एक झटका देकर टीले की ओर फेंका। पर भैंसा ज़ंजीर से बँधा होने के कारण थोड़ी दूर जाकर लुढ़क आया। यह देखकर शेरनी क्रोध से बावली हो गयी। शेर को पीछे हटा कर वह आगे बढ़ी और भैंसे को उठा कर उसने क्रोध से झटका देकर

ज्योंही उसे टीले की ओर फेंका, भैंसे के साथ वृक्ष भी उखड़कर टीले के पार जा पड़ा।'

"कहानी सुना कर गर्व से सबकी ओर देखते हुए हमारे पिता जी ने कहा—'तब यह सोचकर कि अब ये भाग जायँगे, हमने तड़ातड़ गोलियाँ चलायीं, पर हवा इतनी तेज़ थी कि गोलियाँ उड़-उड़ कर दूसरी ओर चली गयीं।'

झंडालाल ने कहा—'तब शेर भाग गये होंगे।'

उन्होंने कहा—'हाँ, उस वक्त तो भाग गये, पर उसके बाद एक दिन शेर मेरे हाथ से मारा गया। शेरनी की क़िस्मत अच्छी थी कि बच निकली। और माता जी की ओर देखते हुए बोले—वही था, जिसकी खाल हमारे अँगरेज़ सुपरिंटेंडेंट की मेम ले गयी थीं। कितना बड़ा और भयानक था!'

पंडित तेजभान बोले—"हमारे पिता जी की कहानी के बाद एक क्षण के लिए कमरे में निस्तब्धता गयी। हमारे पिता ने यह बात सुनाकर गर्व से हमारी माता जी की ओर देखा, और मानों सारे कमरे पर और उसमें बैठे हुए सब प्राणियों पर उनका रोब छा गया।

"तब चम्पा को कुछ आशङ्का हुई। आखिर वह हम सबसे बड़ी थी और विद्यालय की आठवीं श्रेणी में पढ़ती थी। मुस्कुराकर बोली—'चाचा जी, यह तो आपने गप ही हाँक दी। भला यह कैसे हो सकता है कि भैंसे के साथ वृक्ष भी उखड़कर टीले के दूसरी ओर जा पड़े?'

"हमारे पिता जी बगलें झाँकने लगे।

"तब लाला झंडालाल उनकी मदद को आ गये। लड़की को झिड़क कर बोले—'पागली, जब मेरी बात सच्ची है, तब इनकी कैसे झूठी हो सकती है'?"

स्पोर्ट्समैन

जुगुल के आने से कृष्णनगर के अपेक्षाकृत नीरस वातावरण में रंगीनी सी आ जाती थी। कट्टर-समाज की रूढ़िग्रस्त प्रथाओं तथा क्रूर-रस्मों से तंग आकर, कुछ आदर्शवादी नवयुवकों को साथ लेकर, जुगुल के पिता चौधरी गोपालकृष्ण ने कृष्णनगर नाम से यह बस्ती बसायी थी। जमीन सस्ती मिल गयी थी; अनुयायी उनकी दयानतदारी, सच्चाई और आदर्श में अन्धविश्वास रखते थे; जवान थे और अपने इर्दगिर्द के दम घोटनेवाले वातावरण से दुखी! इसलिए कुछ दिनों ही में बस्ती बस चली थी। नवीन आदर्शों का प्रचार करने के लिए एक पत्रिका निकलती थी और वहाँ के निवासी स्वच्छता, प्रेम, स्वास्थ्य और स्फूर्ति में विश्वास रखते थे।

अभी अठारह-बीस कोठियाँ ही बनी थीं, इसलिए जीवन में

विभिन्नता और सरसता की कमी थी। एक दो बैडमिण्टन के कोर्ट और एक टैनिस की लॉन अवश्य थी, पर टैनिस-लॉन तो प्रायः सोयी ही रहती थी, हाँ बैडमिण्टन कोर्टों में से एक में सचदेव अपने जौहर दिखाया करते थे।

जुगल लाहौर के गवर्नमेण्ट कालेज का छात्र और बैडमिण्टन और क्रिकेट का माना हुआ खिलाड़ी था। वह जब भी छुट्टियों में कृष्णनगर आता बैडमिण्टन कोर्ट और टैनिस-लॉन में जान सी पड़ जाती। नौकरों तक को खिलाड़ियों में शामिल कर लिया जाता। मैच और इनाम रखे जाते। सचदेव और जुगल में तो अवश्य ही एक न एक मार्के का मुकाबला हो जाता।

इस बार वसन्त की छुट्टियों में जुगल आया तो बाकायदा बैडमिण्टन का टूर्नामेण्ट रखा गया। सिंगल फाइनल (Single Final) में मुकाबला सचदेव और जुगल में पड़ा।

सचदेव बैडमिण्टन के कोई बहुत बड़े चैम्पियन न थे। जुगल के साथ खेल खेल कर ही उन्होंने इतनी निपुणता प्राप्त कर ली थी कि अब उससे भी लोहा ले लेते थे। जुगल चाहे अभ्यास छोड़ दे, पर वे न छोड़ते। जुगल के आने पर वे उससे मैच खेलेंगे, इस विचार से उसके आने से कई दिन पहले तैयारी शुरू कर देते और उसके आने पर जी तोड़ कर खेलते। साधारणतया वे जुगल से बाजी जीत भी लिया करते, पर जब भी कभी मैच होता जुगल सदैव उनसे बाजी मार ले जाता।

इस टूर्नामेण्ट के लिए सचदेव ने बड़ी प्रेक्टिस की थी। जुगल की भी मान-प्रतिष्ठा का प्रश्न था। जीतनेवाले के लिए कप भी रखा गया था। सारे कृष्णनगर-वासी पुरुष, स्त्रियाँ और बच्चे दो

हिस्सों में बट गये थे। आपस में शर्तें लग गयी थीं। एक पार्टी जुगल को बढ़ावा देती और दूसरी सचदेव को। एक एक प्वाइण्ट पर 'सेड' 'सेड' के नारे बुलन्द होते। दो बाजियाँ हो चुकीं थीं। एक सचदेव ने जीती थी और दूसरी जुगल ने। कड़ा मुकाबिला था। दोनों खिलाड़ी चट्टान से दृढ़ बने धैर्य और स्थिरता के साथ खेल रहे थे। दोनों ओर के समर्थकों में बेहद जोश था। बात बात पर झगड़ा भी हो जाता था।

जुगल कृष्णनगर के संस्थापक का पुत्र था। देखने वालों में उसके रिश्तेदार भी थे। यों भी कृष्णनगर के अधिकाँश निवासियों की सहानुभूति उसके साथ थी और वे चाहते थे कि उसकी इज्जत बनी रहे, लेकिन सचदेव ने जैसे जीतने की प्रतिज्ञा कर ली थी। एक एक प्वाइण्ट पर वे जानतोड़ कर लड़ रहे थे, ज्यों ज्यों बाजी समाप्ति के करीब पहुँचती जाती, जुगल के समर्थक उतावले होते जाते। उन्हें अम्पायर से असन्तोष था। उनके विचार में वह सचदेव की हिमायत कर रहा था और उनका अनुरोध था कि अम्पायर बदल दिया जाये। अम्पायर भी वहीं का रहने वाला था, इस झगड़े में वह बौखला गया था और वह स्वयं भी चाहता था कि उसे इस मुसीबत से छुटकारा मिले।

चौधरी साहब स्वयं मैच पर उपस्थिति थे। एक एक प्वाइण्ट पर उनके चेहरे का रङ्ग उतरता चढ़ता था। वे स्वयं भी अम्पायर से असन्तुष्ट थे। आखिर उन्होंने खुद अम्पायर होना स्वीकार कर लिया।

अम्पायर के बदलते ही खेल में और भी तेजी आ गयी शटल,

ऐसा मालूम होता था, जैसे जमीन से लगती ही नहीं। पूरे विश्वास के साथ जुगल ने कहा "बस"! और वह तेजी से जीतने लगा। ऐसा शॉट मारता कि शटल धरती में धँसती हुई प्रतीत होती। शॉट पर शॉट और 'प्लेड'पर 'प्लेड'......कि एक बार नारा बुलन्द हुआ। 'फाऊल' अम्पायर ने कहा 'नो', ! सचदेव ने आपत्ति की कि शटल नेट को पार करके आयी है। दूसरे दर्शकों ने भी उसका समथन किया, पर चौधरी साहब अपने फ़ैसले पर अड़े रहे। जुगल ने कहा यह प्वाइण्ट सचदेव जीको दे दिया जाय, पर चौधरी साहब न माने।

सचदेव ने अम्पायर के निर्णय के सामने सिर झुका दिया। खेल फिर से शुरू हुआ। अन्तिम प्वाइण्ट थे और सचदेव हार रहे थे। इस फ़ैसले से उन्हें निराशा तो हुई पर उनकी भवें तन गयीं, ओंठ भिंच गये और वे जम कर खेलने लगे। जुगल के समर्थकों ने बहुतेरा शोर मचाया, पर वे प्वाइण्ट जीतने लगे। हिमायतियों के शोर मचाने पर भी जुगल न सम्हला। ऐसा मालूम होता था जैसे वह उत्साह से खेल ही नहीं रहा। उसका जोश न जाने कहाँ उड़ गया था। बाजी खत्म हो गयी। सचदेव को लोगों ने कन्धों पर उठा लिया।

•

जुगल ने सचदेव जी से हाथ मिलाया, उनको आलिङ्गन किया और कहा—"आप बहुत अच्छा खेले।" फिर अपने पिता के पास जाकर धीरे से उसने कहा—"मुझे खेद है, मैं जीत न सका, पर वह शटल नेट में से होकर ही गयी थी और प्वाइण्ट मेरा न था—मैं जीत जाता तो मुझे तनिक भी खुशी न होती।"

———

चोरी चोरी

थाने के अहाते में तेजी से चलती हुई एक तन्वी पुलिस इंसपेक्टर के कमरे की ओर बढ़ी, उसकी सुन्दर साड़ी उसके बालों से सरक गयी थी और हवा से फरफरा रही थी। उसकी चाल, गति की तीव्रता के बावजूद, मस्त थी। वह सुन्दर थी और उसके माथे की बिन्दी दर्पण में सूरज के प्रतिबिम्ब-सी चमक रही थी।

वह सीधी सब-इंसपेक्टर के कमरे में चली गयी और नमस्कार करते हुए, कुछ घबराये हुए पर यथा-सम्भव संयत स्वर में बोली—

"आज मेरे मकान में दिन दिहाड़े चोरी हो गयी है।"

सब-इंसपेक्टर साहब चन्द विश्वस्त सिपाहियों के साथ बैठे गप्पें हाँक रहे थे। उन्होंने अपनी नोकदार मूंछों पर हाथ फेरा और अपनी तीक्ष्ण-दृष्टि से तन्वी की आकृति को परखा। किन्तु उस दृष्टि की तीक्ष्णता से बेपरवाह तन्वी कहती गयी—

"मेरा स्वभाव है इंसपेक्टर साहब, मैं ग़रीब जर्नलिस्ट हूँ। उसकी खुला छोड़ कर चली जाती हूँ। मेरे 'हब्बी' ने उन चीज़ों को छिपा लिए मुझे कई बार कोसा भी है, पर अच्छी हो या घर का दरवाजा आदत है। मैं इसके हाथों लाचार हूँ। और आज इस रुपये पड़े थे। का फल भोग रही हूँ।" में बाँधी

उसने एक लम्बी साँस ली। साड़ी को सिर के ऊपर सदिया। लिया और एक बार अपने आस-पास दृष्टि डाली। वह सिपाहियाव की उपस्थिति से किसी प्रकार अप्रकृतिस्थ नहीं हुई, हाँ, उनकी भूखी निगाहों को अपने मुख पर जमा देख कर उसके मस्तक पर अनायास कुछ लकीरें अवश्य पड़ गयीं।

सब-इंसपेक्टर ने, जो एक टक उसके मुख को देखता हुआ उसकी बातें सुन रहा था, उसकी देह पर छिछलती सी एक दृष्टि डाली। वह सुन्दर, सुघड़ और सुसंस्कृत थी। उसका स्लीव-लेस-ब्लाऊज़ और साड़ी सीधी-साधी होने पर भी कीमती थी। कंधों तक नंगी, हाथी दाँत-सी श्वेत बाहों पर उसने कोई आभूषण न पहन रखा था। उसके हाथ की कलाई पर मात्र एक छोटी सी बहु-मूल्य सुनहरी घड़ी थी—जो इतनी छोटी थी कि दूर से सोने में जड़ा हुआ बड़ा सा हीरा दिखायी देती थी। सब-इंसपेक्टर उसकी ओर निर्निमेष देखते हुए उसकी बात सुन रहा था।

युवती ने फिर कहना आरम्भ किया, ""आज मैं स्वभावानुसार दुरवाजा खुला छोड़ गयी। मेरे कमरे में मेज़ पर मेरा सुन्दर बहु-मूल्य लॉकेट और कर्ण-फूल पड़े थे। मैं पड़ोस में सहेली के यहाँ गयी थी। बातों में देर हो गयी। लौटी तो मेज़ पर किसी चीज़ का निशान न था। न केवल यह, बल्कि मेज़ की दराज़ से चोर ने मेरी

हब्बी = husband का संक्षिप्त = पति

रिस्ट-वाच और दस-दस के पाँच नोट भी उठा लिये। वहीं खूँटी पर मेरा रेशमी-गाऊन टँगा था। वह भी गुम है। मुझे रुपये और गहने का दुख नहीं, पर घड़ी मेरी दिवंगत सहेली की अन्तिम निशानी है। आप किसी जासूस को चोर का पता लगाने के लिए कहिए। मैं उसे अच्छा पुरस्कार दूँगी।

यह कह कर वह जल्दी से चलने लगी थी कि अनायास कुछ ख्याल आ जाने से मुड़ी। "आप श्री कैलाश नाथ को जानते हैं उसने कहा—"प्रसिद्ध जर्नलिस्ट—मैं उन्हीं की पत्नी हूँ।"

"हाँ, हाँ, उनसे हमारा भली-भाँति परिचय है।" थानेदार ने कहा "आप चिन्ता न करें, मैं इस केस को स्वयं अपने हाथ में लूँगा।" यह कहते हुए थानेदार तन्वी को थाने के दरवाजे तक छोड़ आया। "आदाब" कहते कहते उसने उसे फिर विश्वास दिलाया कि वह चोर का पता लगाने में स्वयं दिलचस्पी लेगा।

युवती चली गयी तो सब-इंस्पेक्टर ने अन्दर आकर सिपाही से नगर के चोरों की सूची लाने के लिए कहा। सिपाही ने फ़ाइलें लाकर मेज पर रख दीं। अभी सब-इंसपेक्टर ने पहली फ़ाइल ही ही को खोला था कि कीमती सूट में आवृत, मुस्कराते हुए एक युवक ने कमरे में प्रवेश किया।

"इस दिलचस्पी के लिए शत-शत धन्यवाद थानेदार साहब, जो आप इस चोरी के सम्बन्ध में ले रहे हैं, पर आप कष्ट न कीजिए क्योंकि असल चोर मैं हूँ।"

थानेदार ने सिर उठाया और श्री कैलाश नाथ को समक्ष खड़े देख कर ठहाका मार कर हँस दिया।

"अमला की यह बड़ी बुरी आदत है," श्री कैलाश नाथ ने कहना आरम्भ किया, "दरवाजा खुला छोड़ कर चली जाती है। वह

सम्पन्न माता-पिता की बेटी है, पर मैं तो ग़रीब जर्नलिस्ट हूँ। उसकी इस आदत को सुधारने के लिए मैंने स्वयं ही उन चीजों को छिपा दिया है। आज सहसा मैं दफ़्तर से आया तो घर का दरवाज़ा चौपट खुला था और मेज पर गहने और दराज़ में रुपये पड़े थे। जल्दी से मैंने सब चीजें उठायीं, वहीं लटकते हुए गाऊन में बाँधीं और उन्हें ड्योढ़ी के एक ताक में कूड़े-कबाड़े के नीचे छिपा दिया। घंटा भर घर में छिपा, श्रीमती जी की प्रतीक्षा करता रहा, तब जाकर आप वापस आयीं। इतने में कोई चाहता तो सारे घर का सफ़ाया कर देता। बहरहाल में उसे कुछ क्षण परेशान करके स्वयं ही उसे बता दूँगा।"

यह कह कर उन्होंने सब-इंसपेक्टर से हाथ मिलाया और चल दिये।

कैलाश नाथ घर के निकट पहुँचे तो उनका मन हँस रहा था। चाहते थे जोर से ठहाका मार कर हँस दें। उन्होंने छिप कर अमला की परेशानी और घबराहट देखी थी। अब सोचते थे कि जब उसके सामने जायँगे और वह उन्हें चोरी के सम्बन्ध में सूचना देगी तो कैसे उसे डाँटेंगे और फिर परेशान करके बता देंगे......कभी सोचते कि यदि उसने न बताया तो किस प्रकार, किस बहाने से उसे लॉकेट अथवा कर्ण-फूलों की याद दिलायँगे......कभी सोचते अचानक उससे १०० रुपया माँगेंगे......फिर ख्याल आता नहीं यह बहाना ठीक नहीं......फिर सोचते आज सैर को चलने का प्रस्ताव करेंगे और कहेंगे कि आज तो वही लॉकेट और कर्ण-फूल पहनो जो सुबह पहने थे......फिर ख्याल आता कि नहीं इससे वह झट ताड़

जायेगी......फिर सोचते पल भर को उससे घड़ी माँगेंगे। इस ख्याल के आते ही वे बड़े प्रसन्न हुए। उसकी सहेली वाली घड़ी बड़ी थी और कभी कभी वे स्वयं भी पहन लिया करते थे। इसी तरह भाँति भाँति के मते पकाते हुए उन्होंने अपने घर में प्रवेश किया। अम्ला उन्हें ड्योढ़ी ही में मिली। उसकी आँखें सदा की भाँति मुस्करा रही थीं। दुःख अथवा घबराहट का वहाँ लेश भी न था। कैलाश नाथ बड़े सकपकाये। उनके मुख पर फैली हुई हँसी सिमट गयी। ड्राइंगरूम में वे जा बैठे। अमला चाय ले आयी। परन्तु कैलाश नाथ के लिए चाय पीना कठिन हो गया। किस प्रकार उससे गहनों के सम्बन्ध में पूछें, यही चिन्ता उनके सिर पर सवार हो गयी। आखिर चाय पी चुकने के बाद वे बड़ी बेपरवाही से उठे। कलाई की घड़ी उतार कर उन्होंने अमला के हाथ में देते हुए बड़े सामान्य रूप से कहा, "ज़रा अपने वाली दूसरी घड़ी देना, यह तो खराब हो गयी है, मुझे एक मीटिङ्ग में जाना है।"

अमला हँसी। अपनी कलाई आगे करते हुए उसने कहा, "आप यह ले जाइए। वह घड़ी तो लीला की कलाई को सुशोभित कर रही होगी। उसे अपनी ननद के विवाह पर जाना था, वह सुबह मुझसे मेरे कर्ण-फूल, अँगूठी, लॉकेट, मेरा गाऊन, घड़ी और कुछ रुपये ले गयी है।"

कैलाश नाथ ने चाहा—गर्दन से पकड़ उसे ड्योढ़ी में ले जायँ और बोलें कि देखो इस ताक में! पर वे चुप रहे। उन्होंने अपनी आकृति से कुछ भी प्रकट न होने दिया। अमला की वही छोटी सी घड़ी लेकर उसे अन्दर की जेब में रखा और चले गये।

बाहर निकल कर उन्होंने अमला की इस चालाकी पर ठहाका मारना चाहा, पर चाहने पर भी वे हँस न सके। 'तो वह इस

सफ़ाई से भूठ बोल सकती है'—उन्हें सहसा ख्याल आया और उनके मन-आकाश से ठहाकों के सभी तारे सन्देह और भ्रम की धुँधयाली में लोप हो गये। मीटिंग की ओर जाने के बदले वे लीला के घर गये, परन्तु लीला वास्तव में अपनी ननद के विवाह में सम्मिलित होने चली गयी थी। तब उन्होंने सोचा कि जाकर अमला को सभी चीजें दिखायें,। फिर सोचने लगे कि यदि उसने कहा कि मैं नहीं जानती, मैंने तो लीला को दी थीं, वह रख गयी होगी और आपने उठा ली होंगीं तो फिर? नहीं, ऐसा नहीं! लीला को आने दो, उसके सामने उसे शरमिंदा करूँगा।

और वे बिना मीटिंग में सम्मिलित हुए खीजे-चिढ़े वापस आ गये।

इधर उनकी अनुपस्थिति में अमला ने फिर एक बार घर का कोना-कोना देख डाला। वह पहली बार अपने पति के सामने भूठ बोली थी और इस बात का उसे बड़ा खेद था। क्यों न उसने साफ़ बात कह दी। एक भूठ को बोलने के लिए उसे और दस भूठ बोलने पड़ेंगे। उसने सोचा—अब जब वे आयेंगे तो साफ़ साफ़ उनसे सब बात कह देगी। परन्तु जब कैलाश नाथ ने फिर घर में प्रवेश किया तो उसका सारा निश्चय हवा हो गया। वे जरूर उसे उसकी बेपरवाही के लिए डाँटेंगे और यह उसे स्वीकार न था। और क्षण भर के लिए वह परेशानी और घबराहट उसकी आकृति से हट गयी और उसकी जगह एक सहज-सरल-मुस्कान ने ले ली।

उस मुस्कान को देख कर कैलाश नाथ का जी जल गया, पर वे चुप बने रहे।

रात को पति-पत्नी में से कोई न सो सका। अमला को अपनी चीज़ों के जाने का भी दुःख था और अपने पति से झूठ बोलने का भी, जिस प्रकार भटका हुआ राही फिर मार्ग पाने को आतुर हो उठता है, उसी प्रकार वह भी फिर से, वही क्षण लाना चाहती थी, जब कैलाश नाथ ने घड़ी के सम्बन्ध में पूछा था।

रहे कैलाश नाथ, सो वे सारी रात अपनी पत्नी के झूठ पर विचार करते रहे। मस्तिष्क की नसें उनकी तनी हुई थीं। लीला के आने तक वे प्रतीक्षा करेंगे तो पागल हो जायँगे—उन्होंने सोचा। प्रातः ही वे उसका झूठ प्रमाणित कर देंगे।

प्रातः जब अमला अपनी सहज-सरल-मुस्कान ओंठों पर लिये कैलाश नाथ के पास आयी तो अपने संगी का विकृत चेहरा देख कर वह चिन्तित हो उठी।

"तबीयत कुछ ठीक नहीं क्या, साढ़े-आठ बज रहे हैं और अभी तक आप उठे नहीं ?"

अमला की आँखों में उसकी स्वभाविक मुस्कान चमक उठी।

तब कैलाश नाथ के मन में न जाने क्या आयी कि बिना अपनी पत्नी की बात का कोई उत्तर दिये, बिना हाथ-मुँह धोये और चाय का प्याला, जो उनकी पत्नी लायी थी, बिना पिये, उसे कलाई से पकड़ कर ड्योढ़ी में ले गये।

"आओ अमला तुम्हें एक विचित्र वस्तु दिखायें। ज़रा ताक के इस पर्दे को हटाओ।"

अमला ने टाट का पर्दा उठाया। कैलाश नाथ के हृदय की गति तीव्र हो गयी। परन्तु अचानक उन्हें लगा जैसे उनका हृदय बैठ जायेगा। वहाँ न गाऊन का निशान था न गहनों और रुपयों का।

तेज तेज चलते हुए श्री कैलाश नाथ ने सब-इंसपेक्टर के कमरे में प्रवेश किया। उनका सिर नंगा था। शरीर पर केवल एक कमीज और पतलून थी और बाल बिखरे हुए थे।

इंसपेक्टर साहब, गजब हो गया," दरवाजे में दाखिल होते ही उन्होंने कहा, "वे गहने तो कोई वहाँ से चुरा कर ले गया।"

थानेदार और सिपाहियों ने एक ठहाका मारा।

"कब" ?

"आज सुबह जब मैं अपनी पत्नी को ड्योढ़ी में ले गया, जहाँ सीढ़ियों के नीचे ताक की पुरानी टूटी-फूटी चीजों में मैंने उन्हें छिपा रखा था, तो देखा कि वहाँ उनका निशान तक नहीं। मुझ से वास्तव में गलती हो गयी। मुझे उनको उस जगह न छिपाना चाहिए था। गली के किसी छोकरे के हाथ ही न लग गयी हों। आप किसी को नियुक्त कर इसका पता लगायँ। मैं यथा-शक्ति आप की सेवा करूँगा।"

यह कह कर उन्होंने थानेदार से छुट्टी ली—"मैंने तो अभी मुँह-हाथ भी नहीं धोया"—खिसियानी सी हँसी हँसे और चले गये।

सिपाहियों ने फिर एक ठहाका मारा। थानेदार ने सी० आई० डी० के योग्य सिपाही अली हसन को बुलाया और उसे सारी परिस्थिति समझा कर गोविन्द गली पर उसकी ड्यूटी लगा दी।

अभी अली हसन कमरे से बाहर भी न हुआ था कि अमला तेज तेज चलती हुई आयी।

"इस दिलचस्पी के लिए धन्यवाद इंस्पेक्टर साहब जो आप इस चोरी के सम्बन्ध में ले रहे हैं।" उसने कहा, "अब की चोर मैं हूँ। बड़ी परेशानी थी। ढूढ ढूँढ़ कर हार गयी। मिल ही न रहे थे गहने।

सुबह ड्योढ़ी में गयी तो यों ही मैंने ताक में झाँका। गाऊन का ज़रा सा टुकड़ कूड़े-कबाड़े के नीचे नज़र आ गया। इन की मति देखिए, रेशमी गाऊन कूड़े-कबाड़े में छिपा दिया। मैं इन्हें कुछ क्षण परेशान करके बता दूँगी।"

और थानेदार को नमस्कार कर वह चली गयी।

सिपाहियों ने उस सुबह तीसरा क़हक़हा लगाया।

मोह-मुक्त हो !

मेरठ के डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस ठाकुर जे० सिंह अपने बँगले के बरामदे में अपनी पत्नी के साथ बैठे बरसाती शाम का आनन्द ले रहे थे। आकाश पर गहरी घटा दिन भर अनवरत बरसने पर भी घनी बनी थी। कचहरी और उनके बँगले के मध्य, दो सड़कों के बीचोंबीच, बहने वाला चौड़ा पक्का नाला, नदी की भाँति, लबालब भरा बह रहा था। नाले के इस ओर बनी हुई सड़क पर कभी कभी कोई भीगी हुई साइकिल-रिक्शा खन से निकल जाती थी। ठंडी हवा के परस से बँगले के पेड़-पौधों पर टिकी हुई बूंदनियाँ मोतियों सी झर पड़ती थीं। बँगले का लॉन पानी का छोटा सा तालाब दिखायी दे रहा था, जिसमें उनके पड़ोसी मिस्टर सरन के बच्चे उन्मुक्त उछल-कूद रहे थे।

जाने क्यों, उन उछल-कूद मचाते बच्चों को देखते देखते पति-

पत्नी का मन एक विचित्र उदासी से भर गया। डिप्टी साहब को धन-वैभव, पद और प्रतिष्ठा सभी प्राप्त थे परन्तु, यद्यपि उनके विवाह को १५ वर्ष बीत गये थे, उनकी पत्नी की गोद बच्चे से खाली थी।

उन खेलते हुए बच्चों को देखते देखते मिसेज़ सिंह ने एक लम्बी साँस ली और कुर्सी को अपने पति की ओर तनिक खिसका कर कहा—"मिसेज़ सरन कहती थीं, आजकल छिपी टैंक पर एक बड़े पहुँचे हुए महात्मा आये हुए हैं। उनकी धूनी से एक चुटकी भर राख ने सहस्रों की मनोकामना पूरी कर दी है।"

डिप्टी साहब चुप बैठे रहे।

उनकी चुप्पी से कुछ प्रोत्साहन पाकर उनकी पत्नी ने फिर कहा:—

"हम लोग पढ़े-लिखे हैं, बस यही बात हमारे मार्ग का काँटा है। मिसेज़ सरन के विवाह को दस वर्ष हो गये थे, उनके बच्चा न हुआ था। तब एक सन्त महात्मा ने वरदान दिया और देखिए अब उनके आँगन में बाग लगा हुआ है।

डिप्टी साहब यद्यपि स्वयं इसी कारण से उदास थे, परन्तु उनकी पत्नी ने इस समस्या का जो हल बताया उसे सुन कर वे अनायास ठहाका मार कर हँस दिये।

पत्नी खिन्न हो कर उठी।

उसे रोक कर हँसते हुए डिप्टी साहब ने कहा, "देखो, तुम व्यर्थ नाराज़ होती हो। राख की चुटकी से कभी किसी के बच्चा हुआ है? साधुओं के वरदान से जिनके बच्चे हो जाते हैं, उन कुछेक की बात तुम सुन लेती हो, पर वे लाखों जो इस वरदान के बावजूद निराश रहते हैं, उनकी बात कोई नहीं जानता। मैंने अपनी दानाई

से बड़े बड़े चतुर चोर डाकू पकड़े हैं। कड़े से कड़े षड्यंत्रों का पता लगाया है। मेरे रौबदाब और कार्य-पटुता की धाक डिवीजन भर में है, तो क्या तुम चाहती हो कि मैं अब उपहास का पात्र बनूँ।"

पत्नी ने उनकी बात का कुछ उत्तर नहीं दिया। वह अन्दर जाने को उठी। डिप्टी साहब भी उठे। परन्तु तभी उन्हें गेरुवे रंग की चादर ओढ़े एक साधु बँगले के फाटक से अपनी ओर आता दिखायी दिया।

दोनों वहीं के वहीं खड़े रहे। लंगोट और भगवी चादर के अतिरिक्त उस साधु के शरीर पर कुछ न था। लम्बी लम्बी घुँघराली जटाएँ एक दूसरी से उलझी थीं, पतले छरहरे शरीर पर वे काली भीगी जटाएँ बड़ी सुन्दर लगती थीं। साधु की बड़ी बड़ी आँखों में सरलता से मिली कुछ ऐसी लाली, कुछ ऐसी मस्ती, कुछ ऐसा आकर्षण था कि दोनों पति-पत्नी अपलक उसे देखते रह गये।

और जब वह अपनी आँखों की उस गहराई में उनको डुबाता हुआ निस्संकोच सा बरामदे की सीढ़ियाँ चढ़ आया तो उनके हाथ आप से आप मस्तक पर चले गये।

"तुम्हारी कामना पूर्ण हो"! हाथ उठा कर उन्हें आशीर्वाद देते हुए साधु बे-झिझक उनके पास से होता हुआ अन्दर ड्राइंग रूम की ओर बढ़ा।

मंत्र-मुग्ध से डिप्टी साहब और उनकी पत्नी भी उसके पीछे चले।

साधु जा कर डिप्टी साहब की कुर्सी पर बैठ गया। वे सामने बैठे। उनकी पत्नी हाथ बाँधे खड़ी रहीं।

सहज-भाव से साधु ने कहा, "आप के यहाँ मेरी याद हुई और मैं आ गया।"

डिप्टी साहब यह सुन कर चकित से साधु की ओर देखते रह गये। मेज पर डिप्टी साहब का सरकारी कागजों का बक्स था। सरल-भाव से साधु ने पूछा, "इसमें क्या है?"

"सरकारी कागज़-पत्र हैं महाराज" डिप्टी साहब ने कहा।

"वन में पेड़ों के पत्र तो देखे हैं?" साधु ने अतीव भोलेपन से कहा, "पर ये सरकारी पत्र कैसे हैं। जरा देखें तो।"

डिप्टी साहब ने बक्स खोल दिया।

"अच्छा, यह सरकारी पत्र हैं। इनमें हरियाली का तो नाम नहीं," साधु हँसा।

मिसेज सिंह ने बड़े श्रद्धा-भाव से मुस्कराते हुए कहा, "सन्त जी सीधे वनों से आये हैं?"

"आपके यहाँ मेरी याद हुई, मैं पहुँच गया!" सहज-भाव से साधु ने कहा और कुछ और पत्र बाहर निकाले। वहीं बक्स में एक और खाना था। साधु ने पूछा, "इसमें क्या है भक्त?"

डिप्टी साहब ने वह खाना भी खोल दिया। पाँच सौ रुपए के नोट उन्होंने कुछ ही देर पहले उसमें रखे थे।

उसी सरल-भाव से नोट निकाल कर साधु से कहा, "यह कैसे पत्र हैं भक्त?"

"महाराज यह नोट हैं।"

"नोट!"

साधु को किसी प्राचीन युग का निवासी समझ कर डिप्टीयाइन ने कहा, "महाराज इस युग में यही धन है।"

"अच्छा यह धन है। तो क्या मैं यह ले लूँ?"

पति-पत्नी दोनों मौन रहे। साधु स्वयं हँस कर बोला, "पर सन्यासी का कंचन-कामिनी से क्या काम!" और उसने वे नोट

ख़ाने में रख कर उसे बन्द कर दिया। फिर डिप्टीयाइन की ओर देख कर बोला—"गत जन्म के एक पाप के कारण तुम्हारी कोख साधु को सूनी दिखायी देती है, परन्तु चिन्ता न करना। शीघ्र ही तुम्हारी कोख हरी होगी। तुम्हारे पति ने पिछले जन्म में जो पुण्य कर्म किये हैं, उसने तुम्हारे पाप को मिटा दिया है। तुम्हें समय पा कर पुत्र-रत्न प्राप्त होगा।"

यह कहते कहते उसने फिर ख़ाना खोल लिया और बोला, "मैं सोचता हूँ, यदि मैं ये पत्र ले लूँ !"

डिप्टीयाइन को उस समय पाँच सौ रुपये पाँच सौ ठीकरों से भी कम लगे। गद्गद भाव से उन्होंने कहा, "महाराज आप ले लीजिए।"

परन्तु साधु फिर हँसा, "मैं इन्हें लेकर क्या करूँगा !"

और उसने स्वयं ख़ाना बन्द कर दिया।

डिप्टी साहब को विश्वास हो गया। साधु की वृत्ति धन में नहीं। उन्होंने आश्वास्त हो कर खीसें निपोरीं, "आप ले लीजिए महाराज !"

साधु ने फिर ख़ाना खोल लिया,और बोला, "अच्छा मैं ले ही लेता हूँ, किसी निर्धन-भक्त के काम आ जायेंगे। इन्हें मेरी चादर में बाँध दीजिए।"

डिप्टी साहब झिझके। फिर उन्होंने समझा साधु आज़मा रहा है। वे इन्कार भी कैसे करते। स्वयं ही तो उन्होंने नोट लेने को कहा था, पाँच सौ के नोट उसकी चादर में बाँध दिये।

"मोह मुक्त हो !" साधु ने अपनी आँखें डिप्टी साहब की आँखोंमें डाल कर कहा। फिर उनकी पत्नी की ओर मुड़ा, "तुम्हारी कामना पूर्ण हो," उसने कहा; चादर के नोटों वाले छोर को

बेपरवाही से कंधे पर डाल लिया और जैसे आया था वैसे चला गया।

यद्यपि डिप्टी साहब ने होश आते ही अपनी पत्नी के "न" "न" करने पर भी आदमी दौड़ाये, पर उसका पता न चला। डिप्टीयाइन कई महीने तक दुराशा को पालती रहीं, पर जब एक के बाद एक महीना आया और चला गया और साधु की बात सच न हुई और एक दिन जल कर डिप्टी साहब ने अपनी पत्नी को ताना दिया कि अपनी मूर्खता से उसने उन्हें भी मूर्ख बनाया और उनकी चिर-अर्जित दानाई की ख्याति पर पानी फेर दिया तो वह उबल पड़ी :

"आपने मन में खोट रख कर रुपये दिये थे, कामना क्या पूरी होती। साधु ने कहा था 'मोह-मुक्त हो।' क्या आप मोह-मुक्त हुए ?"

माया

"यह भी कोई बात है"—लाला चन्द्रभान बोले, "मैं एक युवती से केवल दस मिनट के लिए मिला, लेकिन आज तक भी उसकी याद को दिल से नहीं भुला सका, कौन कह सकता है कि मैं उससे प्रेम नहीं करता ? तो फिर यह कहाँ आवश्यक है कि मुहब्बत तभी बढ़ेगी, जब मेल-जोल बढ़ेगा। उन थोड़े से क्षणों की स्मृति को मैं आज भी निर्धन के धन की भाँति अपने सीने में छिपाये हुए हूँ और कौन जानता है कि वह भी ऐसा न करती होगी!"

बसन्त बोले, "केवल दस मिनट ?"

"बल्कि इससे भी कुछ कम!" लाला जी ने कहा, "यह १९२९ ई० के दिसम्बर की बात है। उन दिनों लाहौर में काँग्रेस का अधिवेशन होने जा रहा था। खूब चहल-पहल रहती थी। तुम्हें याद होगा, अधिवेशन के दो-तीन दिन पहले वर्षा हुई थी। बस, उसी

दिन का यह ज़िक्र है। मेरी कार मिन्टों पार्क वाली सड़क पर हवा से बातें करती हुई जा रही थी कि पश्चिम से गहरे काले बादल घिर आये और क्षण भर में ज़ोर का मेंह बरसने लगा। मैं सीट पर पीछे की ओर लेटा हुआ न जाने क्या सोच रहा था कि एकदम झट से कार रुक गयी, मैं आगे की ओर गिरा, तनिक बेज़ारी से ड्राइवर की ओर देखते हुए मैंने कहा, "क्या बात है ड्राइवर ?"

इससे पहले कि वह उत्तर दे, मेरी बायीं ओर की खिड़की के पास एक सुन्दर युवती आ खड़ी हुई। मैंने जल्दी से शीशा उतारा शायद ड्राइवर ने उसी के इशारे पर कार खड़ी कर दी थी।

"क्या आप मुझे काँग्रेस-नगर तक पहुँचाने का कष्ट करेंगे ?" उसने कहा, "वर्षा होने लगी है और यहाँ कहीं सिर छिपाने को भी जगह नहीं, यदि आप उधर ही जा रहे हों तो मुझे भी साथ ले चलिए, कृपा होगी।"

मैंने उत्तर देने के बदले दरवाजा खोल दिया। वह निस्संकोच मेरी बगल में आ बैठी और शीशा चढ़ाते हुए बोली—"आपने बड़ी कृपा की, वर्षा आयी भी तो झपाटे के साथ !"

मुझे जाना तो माल पर था, पर मैंने कहा, "कोई बात नहीं, मैं भी उधर ही जा रहा हूँ।" वह मुस्कायी—मीठी, मादक मुसकान ! मैंने उसकी ओर देखा, यद्यपि आँख भर कर न देख सका, परन्तु इतना अवश्य मालूम हो गया कि वह किसी उच्च घराने की लड़की है, मोटरों में बैठना जानती है, काफ़ी पढ़ी हुई और सुशिक्षित है और काँग्रेस देखने आयी है, अभी रंजीत सिंह की समाधि देखने गयी थी, उसकी सहेलियाँ तो वहीं रह गयीं, लेकिन वह कार्य-वश लौट आयी और यहाँ तक ही पहुँची थी कि वर्षा आ गयी।

मैंने उसे काँग्रेस-नगर के दरवाज़े पर उतार दिया। अब वर्षा

नहीं हो रही थी, झपाटा ही तो था जो कुछ क्षण के लिए आया और चला गया। मैं भी उसके पीछे उतर गया। उसने कहा, "मैं किस प्रकार आपको धन्यवाद दूँ? आप कार न खड़ी करते तो मेरा क्या हाल होता!"

मैंने जरा हँस कर कहा, "नहीं, नहीं, कोई ऐसी बात नहीं, मुझे भी तो इधर ही आना था।"

"मैं आपका यह एहसान कभी न भूलूँगी" और 'नमस्ते' कह कर वह तेजी से चली गयी। मैं खोया सा कार में आ बैठा। कुछ क्षण बेसुध-सा बैठा रहा पर जब कार चलने लगी तो मैंने देखा जहाँ वह बैठी थी, वहाँ कोने में एक सुन्दर रूमाल पड़ा है। "ठहरो!", मैंने चीख कर ड्राइवर से कहा, और खट से दरवाजा खोल कर उतरा, किन्तु वह दिखायी न दी। नजरों से ओझल हो गयी थी। कुछ क्षण मैं चुपचाप खड़ा सोचता रहा। फिर रूमाल को सावधानी से तह करके, आहिस्ता से दोनों हाथों में दबाये वापस आकर अपनी सीट पर बैठ गया। ड्राइवर ने दरवाजा बन्द किया और जाकर कार स्टार्ट कर दी। तब एकान्त में, मेरे दोनों हाथों में, नरमी से दबा हुआ रूमाल धीरे धीरे मेरे ओंठों से आ लगा। कार तेजी से चलने लगी, काँग्रेस-नगर, कोलाहल, चहल-पहल, भीड़-भाड़ सब दूर होते गये, मोटर, गाड़ियाँ, ताँगे, छकड़े, वृक्ष, उनके परे बने हुए मकान सब तेजी से गुजरते गये, और मेरे मकान के सामने आकर कार खट से रुकी और मैं अपनी इस तन्मयता से जागा।"

"यद्यपि इस घटना को आज सात वर्ष हो गये हैं," लाला चन्द्रभान ने लम्बी साँस छोड़ कर कहा, "पर मैं उसकी याद अपने दिल से नहीं भुला सका। आज तक मैं महसूस करता रहा हूँ कि

मैं उस लड़की से प्रेम करने लगा था।"

मैंने पूछा, "तो फिर तुम उससे नहीं मिले?"

"जितने दिन काँग्रेस रही, मैं वहाँ जाता रहा, पर कदाचित् उसने फिर वह साड़ी ही नहीं पहनी या मैं चूँकि उसे पहली बार अच्छी तरह देखने का साहस न कर सका था, इसलिए यदि वह कहीं होगी भी तो मैं उसे पहचान नहीं सका।"

मैं हँसा। वसन्त बोले, "तुमने रूमाल की बात कही तो मुझे एक घटना याद आ गयी।"

हम उत्सुकता से कुर्सियों पर तनिक आगे को झुक गये। नौकर से मैंने ट्रे और चाय के खाली कप इत्यादि उठा ले जाने को कहा।

दिसम्बर का महीना था। काफ़ी सर्दी पड़ने लगी थी। उस दिन आकाश पर बादल भी गहरे छाये हुए थे। सामने खिड़कियों के शीशों से दूर तक छायी हुई काली घटा साफ़ दिखायी दे रही थी कदाचित् बाहर वायु भी चल रही थी। ठंडी और तीर की भाँति चुभ जाने वाली! परन्तु कमरा गर्म था, अँगीठी में आग जल रही थी।

वसन्त बोले—"मेरी कथा सीधी-सी है, न तो उसका प्रारम्भ ही इतना रोमैंटिक हुआ है, न अन्त। तुम सब जानते ही हो कि मैं शुरू से ही काँग्रेसी हूँ, आज तो चाहे मैं प्रान्तीय धारा-सभा के लिए उम्मीदवार हूँ, पर लाहौर-काँग्रेस के अवसर पर एक तुच्छ स्वयं-सेवक था। हमारी ड्यूटियाँ बदलती रहती थीं और कई बार ऐसा अवसर आता था कि स्वयं-सेविकाओं की और हमारी ड्यूटियाँ एक ही जगह लग जाती थीं। लेडी-वालेंटियरों में मुझे

एक से ज़रा दिलचस्पी हो गयी, गोरी, सुकुमार और चंचल-सी वह लड़की, मेरी आँखों में खुब गयी और मैं उससे बातें करने को अधीर हो उठा। दिन में कई बार हमारा सामना होता और वह एक बार मेरी ओर देख कर तेजी से निकल जाती, पर बात करने का अवसर न मिलता। जब काँग्रेस के अधिवेशन की कार्रवाई बाक़ायदा आरम्भ हुई तो मैंने प्रयास करके वहाँ ही ड्यूटी लेना शुरू कर दिया, जहाँ वह होती। एक दिन बातें करने का अवसर भी मिल गया। विषय-निर्धारणी-समिति की बैठक हो रही थी, पंडाल में केवल स्वयं-सेविकाओं की ही ड्यूटियाँ थीं। अन्दर किसी वालेंटियर को भी न जाने दिया जाता था। उसकी ड्यूटी अन्दर के गेट पर थी। कार्रवाई आरम्भ हो गयी, पर मुझे अन्दर जाने का कोई रास्ता न मिला। मैं बाहर खड़ा कितनी ही देर तक सोचता रहा। मेरे देखते देखते एक स्काउट पानी का गिलास लेकर अन्दर गया और पानी पिला कर आ गया। स्काउटों का काम नेताओं के भोजनालय तक ही परिमित था और वे स्काउट कमिश्नर के मातहत काम करते थे, काँग्रेसी स्वयं-सेवकों से उनका कोई सम्बन्ध न था। उसे पंडाल के अन्दर जाते और फिर आते देख कर मुझे भी तरकीब सूझ गयी। मैं भोजनालय से छोटी सी बाल्टी और गिलास ले आया, नल से उसमें थोड़ा सा पानी भर लिया और दूर से भागता हुआ आया, गेट पर स्वयं-सेविकाओं की कप्तान स्वयं थीं। उनका ध्यान दूसरी ओर था। मैं तेजी से उनके पास से गुजरा, उन्होंने रोका, मैंने यों ही एक ओर इशारा करते हुए कहा "वे पानी माँग रहे हैं," और बिना रुके बढ़ गया। दिखाने के लिए एक दो विज़टरों को पानी पिलाने लगा। कप्तान महोदया दूसरे आने वालों को चेक करने में व्यस्त हो गयीं।

इस बीच में उन देवी जी को भी प्यास लगी। उन्होंने मुसकरा कर पानी माँगा। मैंने गिलास भर कर दे दिया। पीकर उन्होंने कहा—"धन्यवाद !" मेरे चेहरे पर लाली दौड़ गयी और मैं उनकी ओर देखता रह गया। इन्टरवल में लोग बाहर जाने लगे। गेट-पास कम हो गये, कप्तान महोदया चिल्लायीं, "कृपया कुछ पास लाइए।" मैं भाग कर उन देवी जी के पास गया और कुछ हकलाते हुए मैंने गेट-पास माँगे।

वे मुसकरा दी और धीरे से पास मेरी ओर बढ़ा दिये। पास लेते समय मेरा हाथ उसके हाथ से छू गया। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे एक निमिष के लिए उसने पास अपने हाथ में रोक रखे हों। मैं एक स्वर्गीय आनन्द से विभोर होकर पास ले आया। धन्यवाद देना भी भूल गया। पास गेट पर देकर मैं फिर उसके पास गया और तनिक समीप जाकर मैंने धीरे से कहा—"कप्तान महोदया, आपको शत-शत धन्यवाद देती हैं।" वह हँस दी और मैं भी मुस्कराहट न रोक सका। धीरे से मैंने फिर कहा—"और मैं भी।"

"आप के धन्यवाद की जरूरत नहीं।" उसने मुँह फेर कर कहा। हम दोनों मुस्करा दिये।

इस प्रकार हमारा परिचय हुआ। और फिर हम में घनिष्ठता होती गयी, दिन भर में हम किसी न किसी भाँति बातें करने का समय निकाल ही लेते। कई बार हम एकान्त में मिले। उन दिनों की स्मृति आज भी दिल में एक टीस सी पैदा कर देती है। अधिवेशन के एक सप्ताह को गुजरते देर न लगी। मालूम भी न हुआ और दिन बीत गये। आखिर विदायी का दिन आ गया। उसे अपने नगर को जाना था। और मुझे अपने नगर। हम दोनों दूर रावी के किनारे मिले। सर्दियों में सूखी रावी जैसे अपना सुहाग लुटा कर वैधव्य के दुःख

में लेटी पड़ी थी। संध्या का समय था। मैंने कहा, "रानी, तुम अपना पूरा नाम और अता पता तो बताओ, और नहीं तो अपनी कोई निशानी ही देती जाओ!"

वह विषाद से मुसकरायी। उसने कहा, "कुमार, भूल जाओ, जीवन नश्वर है तो फिर प्रेम ही क्यों अमर रहे? यही क्यों स्थायी हो? अता-पता! यह भी झूठी बातें हैं। कौन अता-पता लेकर आया है और कौन अपना पता बताकर जायगा। समझ लेना, जीवन की बहती हुई सरिता एक निमिष के लिए रुकी और फिर अपने प्रवाह में बहने लगी। यह कह कर उसने मुझे एक रूमाल दिया। उस पर अँगरेजी अक्षरों में लिखा था "फॉरगेट" (Forget) दूर स्वयं-सेविकाओं के कैम्प से सीटी की आवाज़ आयी। उसके हिलते हुए अधरों से निकला "भूल जाओ"! और वह 'वन्दे!' कह कर चली गयी। मैं वहीं खड़ा रहा। जब वह नज़रों से ओझल हो गयी तो मैंने धड़कते हुए दिल को रोक कर रूमाल को चूम लिया और फिर आँखों से टपकते हुए आँसुओं की दो बूँदों को पोंछ डाला।

यद्यपि उसने कहा था "भूल जाओ" परन्तु क्या मैं भूल सका हूँ? यह कह कर वसन्त कुमार एक सूखी हँसी हँसे। लाला चन्द्रभान ने कहा—"वाह यार, भला मेरा 'रोमाँस' इस 'ट्रेजेडी' के सामने क्या ठहरेगा।"

शर्मा जी पलंग पर कम्बल लिये बड़े ध्यान से कहानी सुन रहे थे। उनके मुख से ऐसा प्रतीत होता था जैसे वे भी कुछ कहना चाहते हैं पर कह नहीं पाते।

मैंने जरा हँसते हुए कहा, "क्यों शर्मा जी, आपके पास भी कोई रूमाल की कहानी है?"

कुछ सकुचाते और कुछ मुस्कराते हुए शर्मा जी ने कहा, "भाई कुछ समझो, मेरे साथ भी एक ऐसी ही घटना हुई और वह भी उसी अधिवेशन में और चाहे तुम सत्य न मानो पर उससे भी रूमाल का कुछ सम्बन्ध है।

शर्मा जी और प्रेम! हम सब जरा चौकन्ने होकर उनकी बात सुनने लगे। अँगीठी को तनिक चारपाई के नीचे सरका कर कंधों तक ओढ़ कर शर्मा जी कहने लगे :—

"तुम जानते हो, हमारे लिए तो इस लीडरी ने जीवन नीरस बना रखा है। लोग लीडरों को तो पत्थर की मूर्ति देखना चाहते हैं। उनसे ऐसे चरित्र की आशा रखी जाती है जो देवताओं को भी दुर्लभ हो। पब्लिक-स्टेज पर आने और सफलता पाकर उसे बनाये रखने के लिए दिल को ताला लगा कर रखना आवश्यक है और मैंने ऐसा किया भी है। इतनी आयु हो गयी, पर मैंने इसे काबू में रखा है। मैंने इसे पत्थर बना लिया है, फिर भी ऐसे अवसर आ जाते हैं जब यह मोम हो जाता है और अपने संयम को भूल जाता है।"

काँग्रेस का मुख्य अधिवेशन हो रहा था और मैं स्वागतकारिणी समिति के सदस्यों में बैठा था। मैंने देखा कि एक लड़की एक-दो बार आयी और कभी इस नेता कभी उस नेता के लिए कुछ लायी। मैं उसकी चपलता, उसकी चंचलता, उसकी शोखी को देख कर कुछ मुग्ध सा हो गया। वह शायद स्वयं-सेविका थी और दूसरों की भाँति अपने काम में व्यस्त थी। परन्तु उसे क्या मालूम कि उसकी यह व्यस्तता दूसरों को कितना निमग्न किये देती है। जब वह चौथी बार आयी

तो मैंने उसे बुलाया और उसे किसी स्वयं-सेवक से पानी लाने के लिए कहने की प्रार्थना की। वह किसी दूसरे से कहने के बदले स्वयं पानी ले आयी। मैंने पानी पीते-पीते उससे उसके नाम, केम्प इत्यादि के सम्बन्ध में सब बातें पूछ लीं। वह गिलास लेकर मुस्कराती हुई चली गयी। मैंने देखा कि उसकी मुस्कराहट स्वाभाविक थी और वह अनजाने में ही दूसरों को लुभा रही थी। इसके बाद भी उस स्वयं-सेविका से मेरा साक्षात्कार हुआ। जहाँ भी वह मिली उसने मुझे मुस्कराकर नमस्कार किया। जिस रात पंडित जवाहर लाल ने पूर्ण स्वतंत्रता के आदर्श की घोषणा की, उसके दूसरे दिन कमान महोदया ने हमें सब कैम्प दिखाये। हम उसके खैमे में भी गये। उस समय वह अपना अटैचीकेस खोल कर कुछ ढूँढ रही थी और उसके काढ़े हुए कुछ रूमाल दरी पर बिखर गये थे। हमारे दाखिल होते ही उसने नमस्कार किया। मैंने पूछा, "ये रूमाल तुम्हारे ही निकाले हुए हैं ?"

"जी" ! उसने सिर हिलाते हुए कहा।

मैंने एक रूमाल उठा लिया, उसके एक कोने में लिखा हुआ था 'माया' मैंने उसे तह करके जेब में रखते हुए कहा—"यह तो हमें दे दो !"

"आप ले लीजिए।"

और हम बाहर आ गये। मेरे साथी नेता ने मेरे कंधे को थप-थपाते हुए कहा, "क्यों भई !" पर मैं उस समय किसी राजनीतिक विषय पर किसी दूसरे महानुभाव से बड़े जोशोखरोश से बातें कर रहा था।

घर आकर मैंने उसे फिर खोला, उस समय पहली बार मैंने चाहा—काश मैं लीडर न होता !

शर्मा जी की कहानी के बाद कुछ क्षण के लिए कमरे में निस्तब्धता छा गयी। आखिर मैंने इस मौन को तोड़ते हुए कहा, "तो उसका नाम 'माया' था?"

"देख लो, साफ़ लिखा है" शर्मा जी ने रूमाल निकाल कर दिखाया।

एक क्षणिक आवेश के अधीन लाला चन्द्रभान और वसन्त कुमार ने भी रूमाल निकाले। उन दोनों के कोनों पर भी बारीक सा 'मा' बना हुआ था।

उन तीनों नेताओं ने कनखियों से एक दूसरे को देखा और फिर मेरी ओर देख कर मुस्करा दिये।

नहूसत

नवम्बर के महीने की धूप हो और इतवार के बाद सोमवार की छुट्टी हो तो बस यही जी चाहता है कि घर से निकल जायें, कहीं गप-शप उड़ायें, ताश खेलें, शिकार पर जायें, मतलब यह कि रात को जब सोयें तो फिर दूसरे दिन दोपहर तक बस सोते ही रहें। खाँ साहब की दोनाली बन्दूक़ इस मामले में सदैव हमारी सहायक रही है। यह और बात है कि श्रीमती जी उसे अपनी सौत से कम नहीं समझतीं और प्रायः जब जब इतवार को शिकार करने में और सोमवार को सोने में हम ने गँवाया है, तब तब श्रीमती जी का विरोध अनशन के रूप में प्रकट हुआ है और इसी सिलसिले में कई बार नन्हें को पिता के पापों का प्रायश्चित्त भी करना पड़ा है। बहरहाल इस बार 'जुमितुलविदा' सोमवार को आयी तो हम ने शनि की शाम को ही खाँ साहब से कह दिया, "कल दोनाली बस

तैयार रहें और शिकार किया जाये तीतर और खरगोश का।"

ख़ाँ साहब बोले, "तुम तो मियाँ ब्राह्मण होकर भी धर्म-कर्म सब छोड़ बैठे हो, पर हमें तो कुछ आक़बत* की फ़िक्र करने दो, रोज़े हैं........"

हम ने बात काट कर कहा, "देखिए ख़ाँ साहब, रोज़े तो जब चाहे रखे जा सकते हैं, पर छुट्टी इस तरह बाक़ी साल में फिर शायद न आये। चाहो तो कोई शिकार तुम न लेना और इतनी ही आक़बत की फ़िक्र है तो भाई चाहे शिकार करना भी तुम नहीं, पर चलना अवश्य, नहीं यह क़र्की तो हमें समय से बहुत पहले ख़त्म कर देगी।"

ख़ाँ साहब बुद्धिमान् आदमी हैं। मान गये। तब हम एक-दो दूसरे दोस्तों को लेकर जा पंडित दयाल चन्द के पीछे पड़े। पंडित जी कभी हमारे साथ शिकार पर न गये थे, पर फ़ैसला हम ने पहले ही कर लिया था कि चाहे घसीटना ही क्यों न पड़े, ले जाया उन्हें ज़रूर जाय! पंडित दयाल चन्द साथ न हुए तो आउटिङ्ग का मज़ा क्या ख़ाक आयेगा। उनके ठहाके और कहानियाँ शिकार के आनन्द को द्विगुन कर देंगी।

पंडित दयाल चन्द अभी तक अपने कमरे ही में थे। हम पहुँचे तब वे फ़ाइलों और काग़ज़ों का एक पुलन्दा घर पर काम करने के विचार से तैयार कर रहे थे।

हमने कहा, "देखो भाई, कल हमारा इरादा शिकार को जाने का है। लाहौर से बाहर इस बार हम नहीं जायेंगे। यहीं दरया-पार सुना है तीतर और ख़रगोश बहुत होते हैं। बस, उन पर ही इस बार संतोष किया जायेगा।"

---

* आक़बत = परलोक

पुलन्दे को मेज़ पर रखकर पहले तो पंडित दयाल चन्द ने एक ठहाका लगाया फिर बोले, "मुझे ले जाओगे तो बस फिर संतोष ही हाथ आयेगा, शिकार नहीं।"

"क्या मतलब है तुम्हारा ?" हमने पूछा।

"मैं कहता हूँ, मुझे ले जाओगे तो मिल चुके तीतर और खरगोश। शिकार के बदले में स्वयं ही शिकार होकर न आओ तो ग़नीमत है।"

और फिर वहीं बैठे बैठे पंडित जी ने अपने शिकार पर जाने के सम्बन्ध में जो कहानियाँ सुनायीं उन सब का अभिप्राय यह था कि शिकार के मामले में वे ऐसे मनहूस साबित हुए हैं कि जो कोई भी कभी उन्हें शिकार पर ले गया है, वह परेशान ही हुआ है और कुछ पाने के बदले खोकर ही आया है।—बचपन में चिड़ीमारों की एक टोली के पीछे-पीछे वे शिकार देखने के शौक में चले गये। वे बेचारे सारा दिन खेतों की खाक छानते रहे, कई मील का चक्कर उन्होंने लगाया और जहाँ पहले वे कई 'ढो'[1] और 'तुरमत्तियाँ'[2] मार लाते थे, वहाँ उन्हें अपने शिकारी पक्षियों के लिए 'तामा'[3] भी नसीब न हुआ। और तो और, आते हुए अपना एक बाज़ भी खो आये। ठहाके पर ठहाका लगाते हुए पंडित जी ने बताया कि दिन भर के थके-माँदे वे एक गाँव के समीप पानी के छप्पर पर ठहरे, जहाँ एक 'बगुले' महात्मा उस स्थान को शान्तिपूर्ण जान, अन्त और अनन्त की गुत्थी सुलझाने में निमग्न थे। चिड़ीमार तो तंग आये हुए थे ही, उन्होंने सोचा कि चलो आज बगुले पर ही बाज़ छोड़ा जाये। दूसरे, जो कुछ अधिक धर्म-भीरु थे, सोचने लगे कि बगुला हराम है या हलाल। पर तीसरे ने यह कह कर, कि हलाल हो, चाहे

१—फ़ाख्ता की एक क़िस्म, २—गरुड़, ३—बाज़ आदि को खिलाने के लिए गोश्त।

हराम, हमें तो खाना नहीं, कम से कम बाज़ और शिकरों के लिए तो कुछ चाहिए ही, इस झगड़े को मिटा दिया और सब से अच्छा बाज़ उन बगुले महात्मा पर छोड़ा गया। पर वे सर्वज्ञ जैसे सब कुछ पहले ही समझ गये। इधर बाज उनकी ओर लपका और उधर वे उस स्थान को कोलाहलपूर्ण हुआ जान फुर्र से उड़े और फिर ऐसा मालूम हुआ कि अनन्त-शान्ति की तलाश में वे उड़े ही चले गये और ऐसा अच्छा गुरु पा, उस मूढ़ बाज़ ने भी वापस लौटना उचित नहीं समझा।

फिर पंडित जी एक बार एक सेटलियर के साथ शिकार को गये तो वे सेटलियर साहब, जिन्हें अपनी निशानाबाज़ी पर नाज़ था, दिन भर में एक पड़कुलिया भी न मार सके और दो रुपये के कारतूस ख़राब करके आती बेर कीचड़ में लथ-पथ हो गये। हुआ यों कि सारे दिन की अपनी निराशा से जल कर शाम के धुँधलके में उन्होंने चलते-चलते एक उड़ते हुए लमढींग पर ही गोली चला दी। लमढींग ने ऐसी झपकी ली मानो गोली उस के लग ही गयी हो। दरया में दो दिन पहले बाढ़ आयी थी और किनारे के खेत दलदल बन रहे थे। अपनी सफलता के जोश में वे उधर को बढ़े। तब अँधकार में लमढींग तो क्या मिलता, एक जगह कीचड़ में जो फिसले तो स्वयं ही लमढींग बने पाये गये।

एक ठहाका लगाकर पंडित दयालचन्द्र अपनी नहूसत की एक और घटना बयान करने लगे थे—तहसीलदार के साथ अपने शिकार पर जाने की, पर उन्हें बीच ही में रोक कर हम सब ने उन्हें जता दिया कि उन्हें छोड़, यदि उन की सात पुश्तों में यह नहूसत चली आती हो, तब भी उन्हें छोड़ने के हम नहीं।

बोले, "पछताओगे! और यह कहकर उन्होंने पुलन्दा उठा लिया।

इतवार की सुबह को ज्यों ही हम उठे तो देखा कि श्रीमती जी शीघ्र-शीघ्र रसोई बनाने में व्यस्त हैं। तब उस नेक पतिव्रता नारी के प्रति हमारे हृदय में श्रद्धा और अनुराग का समुद्र उमड़ आया—बेचारी को हमारा कितना ख्याल है। आज इतवार है और कल छुट्टी। उसे ध्यान रहा होगा कि आज ये बाहर अवश्य जायेंगे इसलिए बेचारी शीघ्र-शीघ्र खाना बनाने में लगी है। एक स्नेहभरी दृष्टि उस पर डाल कर हम उठे। शौचादि से निवृत्त हो झट तौलिया, उठा गुसलखाने में चले गये और जब बड़े मजे से अपने गायक न होने का समस्त क्रोध 'कदीं आउँदा कदी नहीं आउँदा'* पर निकाल, बालों को झाड़ते हुए, इस गीत का दूसरा बन्द गाते-गाते बाहर निकलने वाले ही थे कि श्रीमती जी की आवाज कान में पड़ी—"मैं कहती हूँ आज आप गुसलखाने में ही रह जायँगे क्या?"

हम ने दरवाजा खोलकर सिर नवाते हुए और सर्दी के कारण तनिक काँपते हुए कहा, "नहीं जनाब हम तो आप की सेवा में उपस्थित हैं।"

तब मुस्करा कर देवी जी ने कहा, "अच्छा तो फिर जल्दी कीजिये। आज तो आप को मुझे नुमाइश दिखाने भी ले जाना है न। मैंने तो देखो, सब काम बिलकुल ठीक समय पर कर लिया है।"

तौलिया हमारे हाथ से गिर गया।

श्रीमती जी अपनी झोंक में कहती गयीं, "और बात यह है कि खाना भी आकर बनाना है और फिर आप जानते हैं देर भी तो वहाँ लग जाती है।"

हमारा काँपना भी बन्द हो गया।

वे कहती गयीं, "आज शाम को 'हीर सियाल' का मैटिनीशो

---

*कभी (प्रियतम) आता है और कभी नहीं आता—एक पंजाबी गाना

भी मैं देखना चाहती हूँ। पिछले इतवार आप ने वादा किया था या नहीं ?"

और हम सोचने लगे—किसी महान्-आत्मा ने ठीक ही कहा है कि नारी जैसा स्वार्थी जीव संसार भर में नहीं है। इसकी नस नस में स्वार्थ भरा पड़ा है। पतिव्रता स्त्रियाँ शायद सतयुग में होती होंगी; पर कलियुग में......सर्वथा असम्भव है। और तौलिया उठा कर हम गहरी सोच में निमग्न बाल बनाने और इस नयी उलझन को सुलझाने के लिए अपने कमरे में चले गये।

अभी बाल बनाकर हम कपड़े पहन ही रहे थे और कोई तरकीब भी हमारे दिमाग़ में न आयी थी कि पत्नी महोदया की डाँट पड़ी—"खाना परोस दिया है, जल्दी आ जाओ !"

चुपचाप हम रसोई घर में जा बैठे। खाना उन्होंने परोस दिया। हम खाने लगे, पर मस्तिष्क हमारा उसी उलझन को सुलझाने में लगा रहा। तब अपने उल्लास में श्रीमती जी उन चीज़ों के नाम गिनवाने लगीं जो उन्हें नुमाइश में खरीदनी थीं। वे सोल्लास नाम पर नाम गिनाये जा रही थीं और हम दिल ही दिल में पंडित दयाल चन्द को गाली पर गाली दे रहे थे कि नाहक़ उस नहूसत चन्द को साथ चलने के लिए कह दिया। शिकार में तो जो होता सो होता, पर यह तो पहले ही से रुकावट पड़नी शुरू हो गयी। तभी श्रीमती जी ने अपनी गुरगाबी का ज़िक्र किया। इसके साथ ही मन ही मन में हम उछल पड़े। तरकीब हमें सूझ गयी। अत्यन्त सौम्य बन कर हम ने कहा, "अगर कुछ ग़म खाओ तो गुरगाबियाँ तो बस ऐसी बनवा दें कि सारे कृष्णनगर की स्त्रियाँ बस तुम्हारी ओर ही ताका करें।"

श्रीमती जी की उत्सुकता बढ़ी।

हम ने कहा, "बस, ग़म यह खाना है कि नुमाइश के प्रोग्राम को कल पर स्थगित कर दो। कल छुट्टी है, दोनों ही काम हो जायँगे।"

अब के श्रीमती जी ने कुछ सशंक नेत्रों से हमारी ओर देखा और पूछा, "कैसे ?"

कुछ नहीं—बेपरवाही से हम ने खाना खाते-खाते कहा, "ख़ाँ साहब आज गीदड़ों का शिकार करने जा रहे हैं। मैं सोचता हूँ, मैं भी चला जाऊँ तो एक खाल मैं ले लूँगा........।"

बीच ही में टोक कर श्रीमती जी ने कहा, "न, मुझे नहीं चाहिए गुरगाबी। आप टालिए मत। मैं नहीं मानने की। नुमाइश पर तो आपको चलना ही होगा।

जैसे कुछ हुआ ही नहीं, ऐसे भाव से हम ने कहा, "तुम्हारी मर्ज़ी। "और चुपचाप फिर खाना खाने लगे। कुछ देर बाद, जैसे अपने ही से बातें करते हुए हमने कहा—"गीदड़ की खाल के जूते भी कैसे बनते हैं। पारसाल ख़ाँ साहब ने अपनी बीवी के लिए बनवाये थे। ऐसे सुन्दर और देर-पा कि आज तक वैसे ही जूते बनवा देने के लिए उनकी सहेलियाँ उन्हें तंग करती हैं।"

श्रीमती जी तब भी चुप रहीं। तभी बाहर से ख़ाँ साहब ने आवाज़ दी। वे शायद अपनी दोनाली लिये नौकर के साथ आ गये थे।

कुल्ला करके हमने कहा, "ख़ाँ साहब तो आ गये, कहो, 'न' कर दूँ। ऐसा अवसर फिर महीनों हाथ न आयेगा। गुरगाबी के साथ एक स्लिपर भी बनवा लेना।"

श्रीमती जी फिर चुप रहीं। उनके मौन को नीम-रज़ा समझ, उनकी ओर बिना देखे हमने कहा, "गीदड़ की खाल होती भी तो

काफ़ी है। एक गुरगाबी और एक स्लिपर तुम्हारा बन जायगा। नन्हें और नन्हीं के भी जूते बन जायेंगे। मेरा क्या है, मैं फिर बनवा लूँगा। नुमाइश कल देखने चलेंगे और सिनेमा—अगर जल्दी वापस आ गये—तो आज ही चले चलेंगे।"

यह कह कर और बिना उनका उत्तर सुने हम बैठक में आ गये और बैठक में आये कि टोपी सिर पर रख कर बाहर। घर से ज़रा दूर पहुँचे तो हमने सुख की साँस ली और ख़ाँ साहब से कहा—"देखो भाई, अगर ख़ैर चाहते हो तो इस महा-नहूसत दयाल चन्द को यहीं रहने दो।"

ख़ाँ साहब नहीं माने। आदमी वे बड़े ज़िद्दी हैं। पहले तो शीघ्र किसी बात का फ़ैसला नहीं करते, पर जब कर लेते हैं तो फिर उन्हें उससे हटाना आसान काम नहीं। शनि को ही जब पंडित दयालचंद को तैयार करके दूसरा प्रोग्राम बनाने के लिए हम उनके घर पहुँचे थे, पंडित दयालचंद का नाम सुनकर उन्होंने कहा था—"यह किस गावदी को तैयार कर लिया।"

शिकार की भी एक फ़िलासफ़ी है। ऐसे लोगों में, जो स्वयं गोश्त नहीं खाते, शिकार नहीं खेलते और खेलने वाले को बुराभला कहते रहते हैं, अधिकांश ऐसे होते हैं जो दिल ही दिल में शिकार खेलते देखना बड़ा पसन्द करते हैं। पं० दयालचन्द उन्हीं में से थे। ऐसे लोग यदि शिकार में साथ चले जायँ तो उस दिन नाकामी ही रहती है। इसी ख्याल से ख़ाँ साहब ने कहा, "वह तो तुम जैसा नहीं, शिकार उसकी सूरत देख कर उड़ जायेगा।"

तब हमने उन्हें समझाया था कि दयालचन्द साथ होगा तो

हँसी-दिल्लगी रहेगी। गोश्त चाहे वह न खाता हो और शिकार भी चाहे वह न करता हो पर सैर को पुरलुत्फ़ तो बना सकता है। और तब वे मान गये थे। इसी लिए अब जब हमने इन पंडित साहब की नहूसत की कहानी कही और सुबह-सुबह ही हमारे घर में जंग के जो बादल उमड़ते-उमड़ते हमारी बुद्धिमत्ता से छटे थे, उनका ज़िक्र किया और कहा कि भाई जिस व्यक्ति को साथ ले जाने के प्रस्ताव पर ही इतना संकट उपस्थित हो सकता है, यदि वह साथ चला गया तो जाने क्या गुज़रे ? तो ख़ाँ साहब ने कहा—"हटाओ जी इन वहमों को—यह जो तुमने अपनी बुद्धिमत्ता से इस संकट को टाल दिया है तो यह तो सब ठीक हुआ है और फिर तुम पंडित की बातों में आ गये। वह चाहे तो बीस कहानियाँ गढ़ कर सुना दे।"

ख़ैर, हम पंडित दयालचन्द के घर पहुँचे और चाहे आनाकानी उन्होंने बहुत की और लगे हाथों अपनी नहूसत की तीसरी कहानी भी सुना डाली, पर हमने उन्हें घसीट ही लिया। ख़ाँ साहब बोले—"ये अपनी कहानियाँ तुम रास्ते में सुनाते चलना। अब सीधी तरह चल दो।"

तब अनिच्छापूर्वक कपड़े बदल कर, घर से निकलते हुए पंडित दयालचन्द ने कहा, "तुम मानते नहीं। मैंने कई बार आज़-माया है। वैसे मुझे पास बैठाकर अगर कोई दाव लगाये तो जीत उसका साथ देती है पर शिकार के मामले में......।"

तब ख़ाँ साहब ने कड़क कर कहा, "अब अपनी बकवास बन्द करो।" और गोकुलचन्द से बोले, "कोई गीत छेड़ो यार!" और फिर हँसते हुए उन्होंने पंडित दयालचन्द से कहा—तुम अगर नहूसत हो तो हम महा-नहूसत हैं। साँप को साँप काटे तो ज़हर

किसे चढ़ें। तुम्हारी इस नहूसत को हम अपनी महा-नहूसत से काट देंगे। तभी गोकुलचन्द ने गाना शुरू किया—अपना वही पुराना गीत—

एक अजब परकार बनी है
उनकी दो टाँगन से

सरकंडों के जङ्गल को पार करके हम रावी पार पहुँचे। गर्मियों में जवान फनियर की भाँति फुँकारें मारनेवाला दरिया जैसे अब घायल होकर पड़ा था। ख़ून जैसे उसका सब निचुड़ गया था और लोग उसे पाँवों से रौंदते चले जाते थे। एक ओर किनारे पर जरा गहरे पानी में धोबी कपड़े धो रहे थे और मध्य में जहाँ रेत उभर आयी थी और पानी हल्का हो गया था, उनके छोटे-छोटे बच्चे चादरों से मछलियाँ पकड़ रहे थे।

रावी में कहीं पानी गहरा था और कहीं छिछला। जिस स्थान से बिना ग़ोता खाये या तैरे पार जाया जा सकता था वहाँ सरकंडे गाड़ दिये गये थे। वहीं से हमने अपने बूट और जुराबों को हाथ में लेकर रावी पार किया और दूसरे किनारे पर पहुँच, पैर साफ़ कर, फिर बूट डालने लगे। ख़ाँ साहब सब से पहले तैयार हो गये थे इसलिए वे बन्दूक़ उठाये इधर-उधर घूमने लगे।

किनारे पर एक कमसिन चरवाहा अपनी धुन में अलगोज़े बजा रहा था। ख़ाँ साहब ने उससे पूछा—"क्यों भाई इधर ख़रगोश वग़ैरा होते हैं?"

वह अपने अलगोज़े बजाने में मस्त था। जाने उसने उनकी

बात सुनी भी या नहीं। बोला—"जी हाँ।"

"किधर?"

कुछ चिढ़ कर यों ही उसने एक ओर हाथ बढ़ा दिया। तब ख़ाँ साहब के साथ हम संगियाँ, बेगम कोट, फतेहपुर से होते हुए लम्बानों के गाँवों की ख़ाक छाना किये। पर खरगोश तो क्या एक छछून्दर तक भी दिखायी न दी और तीतर जिनका शिकार करने के शौक़ ने हमें छोटे-छोटे पक्षियों को गोली का निशाना बनाने से रोक रखा था, इस प्रकार इस प्रदेश को वीरान बना कर छोड़ गये मालूम होते थे, जिस प्रकार नेपोलियन के आक्रमण पर रूस वाले देश को वीरान बना कर चले गये थे।

कोई चार बजे के लगभग हम पंडित दयालचन्द को जी भर गालियाँ सुनाते वापस लौटे और रावी के किनारे आकर सुस्ताने के लिए बैठ गये।

दिन के इस तरह व्यर्थ में नष्ट होने का सब से अधिक दुःख मुझे था। रह-रह कर तबीअत झुँझला उठती थी—श्रीमती जी को भी नाराज किया और धूल फाँकने के सिवा कुछ हाथ भी न आया। घुटनों तक मिट्टी चढ़ गयी थी, ओठों पर पपड़ियाँ जम गयी थीं और चेहरे की यह हालत हो गयी थी कि आध सेर तेल की मालिश कर दो तो पता न चले।

जलकर मैंने पंडित दयालचन्द से कहा—"तुममें और बीसियों 'गुण' देखे थे, पर जिसका आज आभास मिला वह सब से बाज़ी ले गया।"

हमारी इस झुँझलाहट पर एक लंबा क़हक़हा लगाकर पंडित दयालचन्द ने कहा—"समझ लो सस्ते छूटे। नहीं तो मैं साथ आ जाऊँ तो शिकारी पल्ले से कुछ दे बैठता है।

ख़ाँ साहब बहुत घबरा रहे थे; एक तो रोज़े से, दूसरे असफलता की चिड़चिड़ाहट। उन्होंने कहा—"उठो अब घर चल कर ही बैठना। हमें तो जाकर रोज़ा भी खोलना है"—और यह कह कर वे पानी में घुसे। टाँगे तो हमारी बस इतनी थक चुकी थीं कि चलने का विरोध किया चाहती थीं, पर ख़ाँ साहब के पीछे हमको भी चलना पड़ा। ख़ैरियत भी इसी में थी, क्योंकि उन्हें लानेवालों में सब से अधिक हिस्सा तो हमारा ही था।

रावी-पार कर, सरकंडों के जंगल से होते हुए हम शहर की ओर जा रहे थे कि सहसा गोकुलचन्द चिल्ला उठे—"गीदड़!"

सब ने मुड़कर उधर ही देखा। किनारे के सरकंडों के झुण्ड में एक गीदड़-सा जानवर दिखायी दिया। दूर होने के कारण निर्णय न हो सका कि क्या है, पर इतना फ़ैसला हो गया कि गीदड़ नहीं तो जंगली बिल्ला ज़रूर है। और ज़रा और पीछे मुड़ कर देखा तो गीदड़ ही-सी शक्ल दिखायी दी। बस, सूखे धान हरे हो गये। ख़ाँ साहब को अपनी भूख, रोज़ा सब-कुछ भूल गया। "गोली लाओ"—यह कह कर उन्होंने मेरी ओर हाथ बढ़ाया। तब एक ६ और एक ४ नम्बर का कारतूस पेटी से निकाल कर मैंने उनके हवाले किया। कारतूस बन्दूक़ में भरते-भरते वे बढ़े। हम भी उनके पीछे चले। तभी वह गीदड़ शायद हमारे इस तरह मुड़ने का तात्पर्य समझ गया। इसलिए वह एक बार हमारी ओर देख कर फिर उस झुण्ड में ग़ायब हो गया।

ख़ाँ साहब बोले—"इतनी जल्दी कहीं बहुत दूर नहीं जा सकता और फिर निश्चय करने के लिए गोकुलचन्द की ओर मुड़कर उन्होंने पूछा—"गीदड़ ही था न?"

पर गोकुलचन्द से पहले हम सब बोल उठे—"हाँ, गीदड़ ही तो था।"

पंडित दयालचन्द ने—जिनकी आँखें और भी लालायित हो उठी थीं—गम्भीर होकर कहा—शाम होने आयी है न, यही समय तो गीदड़ों के निकलने का होता है। यहाँ तो नगर का सामीप्य होने के कारण उन्हें बाहर निकलने में कुछ देर हो जाती है, पर उधर हमारे गाँवों में तो तीन बजे से ही गीदड़ों की 'हुआँ', 'हुआँ' सुनायी देने लगती है।

तब सरकंडों में काफी दूर चलकर इधर-उधर देखते हुए खाँ साहब ने झल्ला कर कहा—कमबख्त कहीं नज़र भी आये और उन्होंने आदेश दिया कि दायरे की शक्ल में विभिन्न दिशाओं में हम फैल कर शोर मचायें। इधर होगा तो ज़रूर किसी तरफ़ निकलेगा।

तब गोकुलचन्द और पंडित झंडालाल चक्कर काट कर आगे को बढ़े, दयालचन्द पीछे को चले, हमने दायीं दिशा पकड़ी और खाँ साहब बन्दूक़ सम्हाले जैसे चार आँखों से इधर-उधर देखते आगे को बढ़े।

अभी हम बहुत दूर न गये थे कि तेज़ तेज़ चलते हुए पं० दयालचन्द आये और खाँ साहब को साथ ले गये। हम भी मुड़े।

तब पंडित दयाल चन्द ने चुपचाप एक ओर अँगुली से संकेत किया। देखा—सामने दरिया-किनारे के सरकंडों में हमारी ओर को पीठ किये कोई जानवर खड़ा है। धीरे से खाँ साहब को वहीं रोककर उन्होंने कहा—"अब दूर मत बढ़ो—फिर भाग जायगा।" खाँ साहब ने वहीं घुटना टेक कर निशान साधा—'ठज'—'ठज'—दो फ़ायर हुए और पंडित दयालचन्द ने उछल कर कहा—"वह मारा!"

पर इससे पहले कि ख़ाँ साहब उठकर खड़े होते या हम गीदड़ को उठा लाने के लिए लपकते, नीचे रावी से कई लम्बे तगड़े जवान लड़के वहाँ आ खड़े हुए और बढ़कर उन्होंने ख़ाँ साहब को पकड़ लिया।

"इसे क्यों मारा आपने ?" एक ने कर्कश स्वर से पूछा।"

तभी एक नन्हीं-सी बच्ची कीचड़ से लथपथ हाथ लिये, मरे हुए गीदड़ को देख देख कर रोने लगी।

उन लड़कों की आँखों में खून उतर रहा था। पंडित दयालचन्द' ने आगे बढ़कर कहा—"तो क्या वह गीदड़ तुम्हारा पालतू था ?"

"गीदड़ ! अन्धे हो।"

और जैसे घसीटते हुए वे ख़ाँ साहब को वहाँ ले गये। हम सब ने देखा—धरती पर एक बड़ा सुन्दर और बलिष्ठ कुत्ता मरा पड़ा है। ज़बान उसकी बाहर निकल आयी है, पुतलियाँ अन्दर धँस गयी हैं और रक्त की धारा किनारे पर नीचे की ओर बह रही है।

तब जैसे चीख़ कर ख़ाँ साहब ने दयालचन्द से कहा—"यह गीदड़ है ?"

गोकुलचन्द भी तब तक आ गये थे। उन्होंने कहा, "मैंने जो गीदड़ देखा था वह शायद भाग गया।"

पंडित दयालचन्द ने सिर्फ़ ख़ून ऐसी आँखों से उनकी ओर देखा।

तब हमने आगे बढ़कर उन लोगों से कहा, "देखो भाई तुमसे हमें कोई बैर तो है नहीं।"

झंडालाल बोले, "अब ग़लती तो सब से हो जाती है भाई। जान-बूझ कर मारा हो तो बात है।"

वे सब धोबी थे और कुत्ता शायद उनके बड़े काम का था। उन्होंने खाँ साहब को न छोड़ा।

तब हमें भी जोश आ गया, "तो जाओ, जाकर मामला चला दो।"

इस पर उनमें से एक ने हमारी ओर आँखें तरेर कर देखा और किनारे पर कपड़े धोते हुए अपने साथियों को आवाज़ दे दी।

बात बढ़ते देखकर खाँ साहब ने हमें पास बुलाकर कान में पूछा, "कुछ रुपये तुम्हारे पास हैं।"

हमने जेबें टटोलीं। चार रुपये निकले। एक अपने पास से डालकर खाँ साहब ने कहा—देखो भाई, ग़लती हो गयी। फाँसी तो तुम हमें दे न दोगे—यह लो।"

खाँ साहब को छोड़कर धोबी ने रुपये ले लिये और व्यंग्य से हँसकर उसने कहा—"तो बेटे की तरह पाले हुए कुत्ते का मोल पाँच रुपये हुआ।" अन्त को बहुत झगड़ने के बाद, जिसके दौरान में कई बार ऐसा भी मालूम हुआ कि हम सब आपस में गुत्थमगुत्था हो जायेंगे, खाँ साहब ने नौकर को भेजकर घर से पाँच रुपये और मँगाये और पीछा छुड़ाया।

जब चले तो खाँ साहब बहुत खिन्न थे। मुँह उनका लटक गया था और माथे पर तेवर पड़े हुए थे। तभी पंडित दयाल चन्द का ठहाका फ़िज़ा में गूंज उठा। दिल ही दिल में तो यद्यपि हम भी हँस रहे थे पर पंडित दयाल चन्द का साथ हम न दे सके। हाँ क्रोध हमें उनकी इस जले पर नमक छिड़कने की-सी हँसी पर अवश्य आया। झल्लाकर हमने बन्दूक़ खाँ साहब के हाथ से ले ली। और उन्होंने भी इस

तरह दे दी जैसे वे सहर्ष इस बला से मुक्ति पाने को तैयार थे। बन्दूक में कारतूस भर हमने खाँ साहब की खिन्नता को कुछ दूर करने के लिए कहा, "आप भी क्या इस गावदी की बातों पर यक़ीन कर बैठे। देखिए आपके सामने हम अभी शिकार करेंगे। हम कहते हैं, कुछ न कुछ शिकार किये बिना घर नहीं जायँगे।" और हमने गोकुलचन्द से कहा कि 'दिलदार कमन्दावाले दा' गीत ज़रा सुना दो।

पश्चिम में सूर्य्य अस्त हो रहा था और उसकी सुनहरी किरणें सरकंडों के मध्य उगे हुए हरे हरे मैना*को गहरा लाल बना रही थीं। गोकुलचन्द ने अभी पहला बन्द भी न गाया होगा कि हमने उसके मुँह पर हाथ रख दिया—सामने सरकंडों की कटी हुई झाड़ी के पीछे कोई चीज़ सूर्य्य की सुनहरी किरणों से चमक रही थी।

"साँप है," धीरे से हमने कहा और घुटने टेक कर निशाना साधते हुए बोले, "कुछ भी हो, हमें तो कुफ़्र तोड़ना है। साँप ही सही। दयालचन्द भी क्या कहेगा......।"

सब वहीं रुक गये। गोकुलचन्द ने कहा, "इधर के साँप होते भी हैं बड़े विषैले, न हो, किसी हकीम को दे देना, दवाई में डाल लेगा।"

दयाल चन्द ने कहा, "शायद कौड़ियाला है। चमक कैसे रहा है।"

हमने हाथ से इशारा किया कि बकवास मत करो और यह कह फिर निशाना साधने लगे। ऐन ठीक निशाना साध कर हम घोड़ा दबाने ही लगे थे कि वह श्वेत चमकती हुई चीज़ उठ खड़ी हुई और हमने देखा कि साँप के बदले अपनी घुटी हुई और तेल की

---

*एक प्रकार की घास

मालिश के कारण चमकती हुई खोपड़ी को लेकर हाथ में लोटा थामे और कान में यज्ञोपवीत लटकाये एक साधु महात्मा खड़े हैं।

हाथ हमारा जहाँ था वहीं रह गया और अभी जो दुर्घटना होने जा रही थी उसकी और उसके परिणाम की कल्पना-मात्र से शरीर के रोंगटे खड़े हो गये।

तब सबका ठहाका हवा में गूँज उठा। और ख़ाँ साहब भी अपने दस रुपये के ग़म को भुलाकर उस हँसी में गुम हो गये।

खिन्न होते हुए हमने कारतूस बन्दूक से निकाल कर पेटी में रखे और उसे नौकर के हवाले करते हुए खिसियानी सी हँसी के साथ कहा, "अब जैसे हो चल दो, नहीं तो कुछ भी आज हो सकता है।" और फिर ख़ाँ साहब की ओर देखकर कहा, "हमने आपसे कहा था न कि इस नहूसत चन्द को मत ले चलो।"

दयालचन्द ने इस पर ज़ोर से ठहाका मारा! यदि दृष्टि के अजगर सा मुँह होता तो जिस प्रकार हम सब ने उसकी ओर देखा, इस में सन्देह नहीं कि हम उसे समूचा निगल जाते!

गुड़ की अँदरखी

दम्मो—मेरी पत्नी—ने कहा, "अनन्त भाई के इतने पत्र आये हैं, इतना अनुरोध है उनका, क्यों नहीं कुछ दिन के लिए वहाँ हो आते। कुकू का स्वस्थ्य भी ठीक नहीं रहता और आप का रंग भी पीला पड़ गया है।"

फ़ाइल के पन्नों को देखते देखते मैंने कहा, "तुम ही क्यों न कुकू को लेकर सात आठ दिन को वहाँ हो आओ। मेरा जाना तो कदाचित न हो सके। कुकू का स्वास्थ्य भी सुधर जायगा और तुम्हारा मन भी बहल जायगा।

पत्नी चुप हो गयी, मुझे उसकी यह चुप्पी कुछ अखर सी गयी। फ़ाइल परे सरका मैं उसके पास गया। उसकी ठोड़ी छू, मुस्कराने का यत्न कर मैं बोला, "चुप क्यों हो गयीं। आखिर इसमें कौन सी बुराई है। अनन्त से हमारा कौन पर्दा है। कितनी बार तुम उसके

साथ अकेली सिनेमा-थीएटर, सैर-तमाशे गयी हो। मैं बहु-धँधी आदमी हूँ। मुझे चुनने में तुमने बड़ी भूल की।"

और दम्मो मान गयी कि वह कुकू को लेकर अकेली ही चली जायगी।

वास्तव में जब मुझे उससे अकेले कोई काम लेना होता तो मैं उसे सदा यही ताना देता कि उसे मुझ जैसे व्यस्त आदमी को न चुनना चाहिए था। और वह चाहे दूसरी सौ बातें सुन ले, यह सुनना उसे पसन्द न था। कदाचित् इससे उसके अहम को ठेस पहुँचती। वह कभी इस बात को स्वीकार न करती कि मेरे साथ विवाह करने में उसने किसी प्रकार की भूल की।

पहाड़ पर जाने की मुझे इच्छा न हो, यह बात न थी। दुर्भाग्य से मुझे पहाड़ पर जाने का अवकाश ही कभी नहीं मिला। जब भी मित्र श्रीनगर, कश्मीर, शिमला, मसूरी अथवा नैनीताल से आते और वहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य, पिकनिकों, हास-हुलास का जिक्र करते तो मैं सदैव यह निश्चय करता कि इस बार अमुक पहाड़ पर अवश्य कुछ दिनों के लिए जाऊँगा। सर्दियाँ भर दम्मो के साथ प्रोग्राम बनाता, किन्तु जब अवसर आता तो कोई न कोई ऐसा काम हाथ में होता जिससे छुट्टी न मिलती। मेरे कारण मेरी पत्नी और बच्ची भी गर्मियों में जलती-झुलसती रहतीं।

अनन्त उन्हीं दिनों कांगड़े में प्रोबेशन पर तहसीलदार लगा था। वह मेरा घनिष्ट मित्र था, पंजाबी भाषा में जिसे 'लंगोटिया यार' कहते हैं। वर्षों हम साथ साथ खेले और पढ़े। कांगड़ा जाते ही उसने पत्र पर पत्र लिख कर मुझे परेशान कर दिया कि मैं बीवी तथा बच्ची समेत वहाँ की सैर करूँ।

कांगड़ा पहाड़ों में कोई बड़ा पहाड़ नहीं, पर पंजाब के तपते-

जलते मैदानों के नरक में तो उसकी कल्पना स्वर्ग से कम नहीं। दम्मो कुकू को लेकर चन्द दिनों के लिए वहाँ चले जाने को तैयार हो गयी थी और मैं प्रसन्न था कि मेरी पत्नी और बच्ची, चन्द दिन के लिए ही सही, इस प्रलय की गर्मी से मुक्ति पा लेंगी।

परन्तु न जाने क्या हुआ कि ठीक चलने के समय कुकू मचल गयी कि मैं तो पापा जी के बिना न जाऊँगी और दम्मो भी मुझ से चलने के लिए अनुरोध करने लगी।

बच्ची कुछ इतनी दुर्बल हो गयी थी और दम्मो का इतना अनुरोध था और अनन्त के इतने पत्र आ चुके थे कि मैं चलने को तैयार हो गया। कुछ इसलिए भी कि उस समय हाथ में कोई ऐसा महत्व का काम न था, जिससे छुट्टी पाना अखर सके।

कांगड़ा पहुँचे तो अनन्त ने हमारी बड़ी आवभगत की। वहाँ हमारे अकस्मात् जा पहुँचने से उसे जो अपार प्रसन्नता हुई, उसका प्रतिबिम्ब उसके उल्लसित मुख पर अनायास झलक उठा। किन्तु सहसा एक ऐसी बात हो गयी जिसने मेरी सैर का का आनन्द धूल में मिला दिया।

हम खाने पर बैठे थे। खाना भी वैसा था जिसे लखनऊ वाले 'पुर-तकल्लुफ़' कहते हैं। कई प्रकार के स्वादिष्ट व्यजंन परोसे गये थे। हमें भूख भी बड़ी जोरों की लगी थी। रस ले लेकर हम खा रहे थे कि इतने में एक व्यक्ति थाली जितनी बड़ी गुड़ की मसालेदार अँदरखी लाया—पिस्ता, बादाम, गोला, छोहारा, अदरख, सोंठ

आदि अनेक पदार्थ उसमें पड़े हुए थे। देखकर अनायास मुँह में पानी भर आता था।

मेरा जी हुआ कि उसमें से आधी अँदरखी अनन्त से माँग लूँ, मैंने अपनी इच्छा को बरबस रोक लिया। तभी मुझे माँ की बात याद आ गयी। चलते समय उन्होंने कहा था कि वहाँ गुड़ की अँदरखियाँ बड़ी अच्छी होती हैं, मिले तो ले आना। यह ध्यान आते ही मैंने कहा, "भई अनन्त, हमारा आधा हिस्सा हमें अवश्य मिल जाय।"

बड़ा लम्बा सा मुँह बना कर उसने कहा, "बात यह है कि डिप्टी साहब इधर दौरे पर आने वाले हैं। मैं डाली के साथ यह अँदरखी उन्हें देना चाहता हूँ।"

मैं मन ही मन हँसा। न देने का यह अच्छा बहाना है। भला गुड़ भी ऐसी कौन सी चीज़ है जो डिप्टी कमिश्नर को भेंट की जाय। मैं इतनी दूर से इससे मिलने आया हूँ। इसका पुराना मित्र हूँ। क्या मेरी मैत्री का मूल्य एक अँदरखी से भी कम है। और मैंने चाहा कि परीक्षा करूँ मेरी मैत्री का उसके निकट कितना महत्व है.........हँसने की चेष्टा करते हुए बोला, "आधी अँदरखी तो तुम्हें हमको देना ही पड़ेगा।"

मेरी हँसी में मेरा आहत-गर्व जैसे छटपटा रहा था।

पर अनन्त अपने हठ पर अड़ा रहा। "तुमको और बनवा कर भेज दूँगा," उसने कहा और अँदरखी अन्दर भिजवा दी।

मैं मर्माहत सा बैठा रह गया। सम्भव था कि अपने इस अपमान पर मैं उसी समय उठ कर चल देता पर तभी सोमदत्त आ गया। सोमदत्त धर्मशाला में वकील है। हँसोड़ और प्रसन्न-वदन ! अपनी लच्छेदार बातों और हँसी-ठठोली से उसने स्थिति

का तनाव कम कर दिया और हम गयी रात तक हँसते-हँसाते रहे।

दूसरे दिन हम सोमदत्त के साथ ही धर्मशाला चल दिये। चार दिन धर्मशाला गुजार कर हम कांगड़ा आ गये। सोम और उसकी पत्नी भी हमारे साथ आये। फिर तीन दिन वहाँ खूब हा-हू मची। वे सात दिन हमने बड़े आनन्द से बिताये। भागसूनाथ गये। तितियानी के पानी में हमने स्नान किया। घाटियों में उतरे और चोटियों पर चढ़े। किन्तु इस समस्त आमोद-प्रमोद में मेरे मन के किसी अज्ञात कोने में मेरा आहत-गर्व निरन्तर कचोके लेता रहा। मन की बार बार उभर आने वाली खिन्नता को मैंने बड़ी कठिनाई से दबाया—मात्र इस विचार से कि कहीं मेरे कारण दम्मो और कुकू सैर के आनन्द से वंचित न रह जायँ।

सातवें दिन हम चलने को तैयार हो गये। अनन्त और सोम तो चाहते थे कि हम और एक सप्ताह वहीं रहें। दम्मो की भी सलाह थी, पर मैं नहीं रुका। हम सब तैयार हो गये।

जब हम चलने लगे तो अनन्त ने अन्दर से वही गुड़ की औंदरखी मँगायी और उसे दो बराबर के हिस्सों में काट कर, एक भाग मुझे देते हुए कहा, "यह रहा उमेश तुम्हारा हिस्सा।"

मैंने हँसते हुए उसे ले लिया पर मेरी हँसी में खिन्नता की मात्रा पहले से अधिक हो गयी। अनन्त से मैं नजर न मिला सका। क्षण भर मेरी दृष्टि उसकी दृष्टि से मिली, फिर झुक गयी। मुझे लगा जैसे उसकी निगाहें कह रही हैं, "जरा जरा से दाव पर यदि तुम मित्रता को लगाओगे तो कभी न कभी उसे अवश्य गँवा बैठोगे।"

क्लर्कों के मज़ाक

पंडित रामअवतार नहर विभाग के क्लर्कों की पार्टी की जान थे। आप में हँसी-दिल्लगी करने और दूसरों की हँसी-दिल्लगी को सहने की शक्ति पराकाष्ठा को पहुँची हुई थी। किसी ज़िन्दादिल के बिना पार्टी पार्टी ही कहाँ कही जा सकती है? रस के बिना ईख को ईख कौन कहेगा? हमारी पार्टी भी शुष्क और नीरस लोगों का गिरोह न थी। इसमें अधिकाश व्यक्ति—जिन्दगी जिन्दादिली का नाम है—इसी मत के अनुयायी थे। पंडित रामअवतार इस टोली के नायक थे—लम्बे-चौड़े छः फ़ुट तीन इंच के जवान! पगड़ी बाँधते तो किसी रियासत के राजा मालूम होते। किन्तु यारों के लिये वे महज विनोद के समान थे। सब उनकी हँसी उड़ाने में मस्त, सब उनको ज़क पहुँचाने के दरपै! और वे ऐसे कि किसी की बात का ठीक उत्तर दे रहे हैं; किसी के व्यंग को सुना-अन-

सुना कर रहे हैं और किसी के तीक्ष्ण-प्रहार पर एक ठहाका छोड़ रहे हैं। और वह ठहाका—वह भी एक हथियार से कम न था। जब वे निरुत्तर होकर बात का रुख पलटना चाहते तो ठहाका मार देते। वह भी साधारण ठहाका नहीं। उनका ठहाका अपनी विशेषतायें रखता था। उसका भी एक छोटा सा इतिहास है।

पंडित रामअवतार का ठहाका सारे सिविल सेक्रेटरियेट में प्रख्यात था। वे ग्रामोफोन के रिकार्ड की भाँति जब एक बार हँसते तो हँसते ही चले जाते। ऐसा लगता मानो उन्हें चाबी मिल गयी हो और कभी समाप्त न होगी। हँसते समय उनकी आखें चढ़ जातीं और मुँह इस तरह खुल जाता कि कंठ तक दिखायी देता। सिर को वे ऊपर उठा लेते। प्राय: हँसते समय उनकी पगड़ी धरती पर गिर कर इस अशिष्ठता के विरुद्ध भारी प्रॉटेस्ट करती।

यारों को इसमें भी दिल्लगी की सूझती। एक-बार का जिक्र है—वे इस प्रकार जब हँसने लगे तो लाला जी ने उनके मुँह में ईसबगोल फेंक दिया। बीज इस भाँति उनके तालू और कंठ के साथ चिपटे कि सन्ध्या तक वे उन्हें नीचे उतारने का प्रयास करते रहे, पर वे नहीं उतरे। उन्होंने दो-चार बार पानी भी पिया। पर नीचे खिसकने के बदले वे और फूल गये। फिर उन्होंने इस बदमजाकी पर जो दार्शनिक भाषण लाला जी को पिलाया वह सुनने से ही सम्बन्ध रखता था।

वास्तव में पंडित रामअवतार को 'दर्शन' का भी दौरा होता था। ऐसा ही दौरा उनको तब हुआ जब 'प्रास्पेक्ट-हिल' की एक पार्टी में ठहाका लगाते समय उनके मुँह में रंग फेंक दिया गया था और ज्यों ज्यों वे पानी पीकर कुल्ले करते गये, दाँत और मुँह नीले होते गये। उस वक्त इस तरह के भोंडे मजाक के विरुद्ध उन्होंने

जो भाषण दिया वह आज तक मुझे स्मरण है। उसमें पंडित जी ने फ़तवा दिया कि उनके सब मित्र हास्य-रस के नियमों से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। उनके इन भाषणों का उनके मित्रों पर उतना ही प्रभाव पड़ता , जितना तूती की आवाज़ का नक्क़ारखाने में, क्योंकि ज्योंही वे फिर इसी प्रकार मुँह खोले, सिर ऊपर को उठाये, आँखें बन्द किये हँसे, यारों ने फिर किसी न किसी वस्तु से उनके ठहाके का स्वागत किया।

एक बार का ज़िक्र है कि लाला जी, जो पंडित रामअवतार के घनिष्ठ मित्र होते हुए भी सब शरारतों के बानी होते थे, महता जानकीनाथ के साथ कार्य-वश स्टेशन को जा रहे थे। मार्ग में एक कुली ने, जो खुशबूदार आमों का टोकरा उठाये हुए था, उनके हाथ में काग़ज़ का एक पुर्जा दिया कि वे उन महाशय का पता बता दें जिनका नाम उस पर लिखा था। पुर्जा देखते ही लाला जी की आँखें मुस्करा उठीं। हँसते हुए बोले—"हम तो उधर ही जा रहे थे"। फिर जानकीनाथ की ओर देखकर कहने लगे :—

"लो पंडित जी, कष्ट से बच गये। यह आपके आम आ रहे हैं। आप इस काग़ज़ पर हस्ताक्षर कर दीजिए और आमों का टोकरा ले जाइए। आप के मित्र ने आपको स्टेशन पर आने का कष्ट न देकर, आम स्वयं ही आपके घर भेज दिये। आप कह भी तो आये थे कि यदि मैं समय पर न पहुँचूँ तो कृपा कर मेरे घर भिजवा देना। चलो इस कष्ट से बच गये, नहीं पूरा घंटा नष्ट हो जाता।"

जानकीनाथ को चुपचाप खड़े देखकर आँख का इशारा करते हुए लाला जी फिर बोले—"तो फिर अब खड़े काहे हो? मैं तो जाता हूँ माल-रोड को। उन वकील साहब से मिल आऊँगा। अब तुम जानो और तुम्हारे आम।"

महता जानकीनाथ जो ऐसे मामलों में लाला जी के दायें हाथ थे, झट सब मामला समझ गये। आँखों-आँखों में सब कुछ तय हो गया। उन्होंने काग़ज़ पर हस्ताक्षर किये और कुली से अपने साथ आने को कहा।

लाला जी ने माल रोड को मुड़ते हुए हँस कर कहा—"क्यों न हो भाई! स्टेशन के बाबू मित्र हों और इतना भी आराम न रहे।"—यह कह कर वे मानों उछलते हुए माल-रोड की ओर चल दिये।

पंडित रामअवतार बड़ी मुद्दत से इस बात का ज़िक्र कर रहे थे कि सहारनपुर से उनके साले साहब बढ़िया आमों का एक टोकरा भेज रहे हैं। पर दुर्भाग्य देखिए कि जब आम आये तब उनको उनकी सुगन्ध भी न मिली, क्योंकि लाला जी के पहुँचते ही महता साहब के मकान में सब मित्रों को निमन्त्रण दिया गया और मज़े से दावत उड़ायी गयी। जब आम समाप्त हो चुके तब पंडित जी भी बड़े घबराये हुए पहुँच गये। जिस समय निमन्त्रण दिया गया, वे घर पर नहीं थे। आते ही इधर-उधर देखे बिना बोले—यार बुरा हुआ। किसी ने आमों को मार्ग में ही हथिया लिया। मुझे कुछ काम था, इसलिए बिल्टी स्टेशन पर देकर काम से चला गया। अपने घर का पता देकर माल बाबू से कह आया था कि टोकरा मेरे घर पहुँचा देना। जब घर आया, मालूम हुआ कि कुली आया नहीं। काफ़ी प्रतीक्षा की, फिर भागा-भागा स्टेशन पर पहुँचा। मालूम हुआ, रास्ते में ही किसी ने हस्ताक्षर करके टोकरा ले लिया।

एक साहब बोले, "यानी आपने हस्ताक्षर भी किये और आपको आम भी न मिले। कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि नींद ही में आपने हस्ताक्षर कर दिये हों और आपको ऊँघते देखकर कुली टोकरा अपने साथ ही लेता गया हो।"

इस पर फिर एक ठहाका पड़ा। दूसरे साहब ने कहा, "चलिए यह अनिवार्य सैर हो गयी। दस मील का चक्कर पड़ गया होगा। आप बाहर निकलने से जो घबराते हैं उसी की यह सजा परमात्मा ने आपको दी है।"

सब फिर हँसने लगे। इतनी देर में पंडित जी मामला कुछ कुछ भाँप गये। उन्हें महता साहब पर संदेह था। उनकी लेखनी वे भली भाँति पहचानते थे। महता साहब नीचा सिर किये हुए आम की गुठली को ऐसा चूस रहे थे जैसे उन्हें कुछ खबर न हो। महता साहब से दृष्टि हटा कर जब पंडित जी ने लाला जी की ओर देखा तो उन्होंने चुपके से महता साहब की ओर संकेत कर दिया। जानकीनाथ ने भी देख लिया, मुस्करा दिये और उस टोकरे की ओर इशारा करके जिसमें गुठलियाँ और छिलके पड़े थे, कहने लगे, "उठा ले जाओ।"

उसी समय लाला जी उठे, "भाग्यवान हो रामअवतार!" उन्होंने कहा "समय पर ही पहुँच गये। यह एक आम बच गया है लो, स्वाद तो चक्खो!" और यह कहते हुए उन्हों ने आम की फाँकें करनी शुरू कीं और जैसे बेखुदी में एक एक फाँक सब को बाँटने लगे। जब गुठली हाथ में रह गयी तब बोले, "ओहो! सब बँट गया, मैं तुमसे बातें करने ही में मग्न रहा। अच्छा यह गुठली ही देख लो, हिस्सा तो यह मेरा होता है पर, खैर, तुम्हारे लिए कब कौन सी कुर्बानी नहीं की और

फिर गूदा तो सारा इसी में है ।"

पंडित जी लहू के घूँट भर रहे थे। क्रोध से उनकी आँखों में पानी भर आया। एक चोरी दूसरे सीना जोरी! आम का स्वाद चखने को जी तो चाहा, पर जैसे चोरों से लुटा हुआ निराश व्यक्ति क्रोध में शेष पैसे भी उनके सामने फेंक देता है कि यह भी ले जाओ, उसी प्रकार क्रोध से पंडित जी ने कहा, "इसे तुम्हीं रक्खो, इतनी बड़ी कुर्बानी काहे को करते हो!"

"तुम्हारे भाग्य में इन सुगन्धित, स्वादिष्ट आमों का स्वाद चखना लिखा ही नहीं" यह कहते हुए लाला जी ने गुठली को चूसना आरम्भ कर दिया ।

उस समय फिर पंडित जी का दार्शनिक भाषण आरम्भ हुआ। दावत की वास्तविकता खुलने पर यारों ने ख़ूब ठहाके लगाये। वे सब अभी तक यही समझे हुए थे कि बच्चे की वर्ष-गाँठ पर महता साहब ने यह पार्टी दी है ।

पंडित जी के क्रोध का सब नज़ला लाला जी पर गिरा। लाला जी ने झट उठकर पंडित जी के कान में कुछ कहा, जिससे वे कुछ शान्त से दिखायी देने लगे और महता साहब को बदले की धमकी देते हुए लाला जी के साथ चले गये।

यहाँ से इस नाटक का दूसरा अंक आरम्भ होता है। लाला जी ने पंडित जी के सिर की सौगंध खाकर उन्हें यह विश्वास दिला दिया कि सब बदमाशी महता जानकीनाथ की थी। वे बोले, "तुमने देखा नहीं हस्ताक्षर महता ही के थे। मैं तो जैसे दूसरे गये, वैसे निमन्त्रण पाने पर चला गया।"

पंडित जी महता साहब की लेखनी पहचानते थे, इसीलिए लाला जी की बातों में उन्हें सत्य की गंध आयी। इसके साथ ही लाला जी ने महता साहब को बुरा-भला कह कर उनसे बदला ले देने का विश्वास भी पंडित राम अवतार को दिला दिया।

इसके पश्चात् एक दिन सन्ध्या समय लाला जी ने पंडित राम अवतार के कान में कहा, "लो भाई, तुम्हारा बदला लेने का समय आ गया है।"

"कैसे?"

"आज महता ने मुझे बताया है कि उसके एक मित्र देहरादून से उस के नाम आम भेज रहे हैं। उसने मुझे बिल्टी भी दिखायी है। बस, वह आम मँगाये, मैं उसे अपने कमरे में बुलाकर बातों में लगा रक्खूँ, तुम उसके कमरे से टोकरा उठवाओ और 'ब्राह्मण को नाऊ' बन जाओ।"

पंडित राम अवतार की आँखें चमक उठीं। लाला जी के हाथ पर हाथ मारते हुए हर्ष के उन्माद में उन्होंने कहा—'टिट फ़ॉर टैट!'※ और इतना लम्बा ठहाका लगाया कि पहले कभी न लगाया होगा। लाला जी की ओर से उनके हृदय पर जो घाव लगे थे वे सब भर गये। प्रसन्नता से बोले, " ऐसे टोकरा उड़े कि बच्चा जी के देवताओं को भी पता न लगे।"

लाला जी ने कहा, "बस, बत्ती गुल और पगड़ी गायब! वह हमारे कमरे में और आमों का टोकरा तुम्हारे के घर में!"

बात तय हो गयी कि लाला जी महता को अपने कमरे में बुला लेंगे और पंडित राम अवतार उनके कमरे से टोकरा उठवाकर घर ले जायँगे। इस शर्त पर कि से कम कम एक-चौथाई आम लाला जी

※—जैसे को तैसा।

के घर पर अवश्य भेजे जायँ।

उस दिन के बाद रोज पंडित राम अवतार दफ़्तर में लाला जी के कान में कुछ पूछने लगे। एक दिन लाला जी ने बताया कि टोकरा आ गया है और महता साहब के कमरे में पड़ा है। तुम 'हातो' का प्रबन्ध कर लाओ। तब मैं महता को अपने कमरे में बुला लूँगा। पंडित जी कमरे से निकलते समय इतने प्रसन्न थे, मानो उनके हाथ कोई निधि आ गयी हो। दफ़्तर के बाहर एक हातो भी जाता हुआ मिल गया। उसे वहाँ खड़े रहने का आदेश देकर उन्होंने लाला जी को सूचना दी कि कुली का प्रबन्ध हो गया है और फिर अपने कमरे में जाकर गम्भीरता से बैठ गये। मन में तो लड्डू फूट रहे थे, काम में कैसे जी लगता? बेसब्री उन्हें महता जी के कमरे के सामने ले आयी।

वे अभी काम कर रहे थे। पंडित जी ने इधर-उधर निगाह दौड़ायी। कोने में एक टोकरा रक्खा था। दिल की खुशी को दिल ही में दबाते हुए वे फिर अपने कमरे में जा बैठे। उन्हें एक एक पल एक एक वर्ष के समान बीत रहा था। फिर महता साहब के कमरे की ओर गये। वे अभी बैठे काम कर रहे थे। पंडित जी दिल ही दिल में लाला जी को गालियाँ देने लगे। ये मेरा मज़ाक उड़ा रहे हैं और कुछ नहीं। मुझे उल्लू बनाना चाहते हैं। उसी समय उन्होंने देखा, लाला जी का चपरासी आया और महता साहब उसके साथ हो लिये। चोर की दाढ़ी में तिनका। पंडित जी कन्नी कतरा गये। उनसे आँख न मिला सके।

जब महता साहब निकल गये तो पंडित जी भाग कर कुली को बुला लाये। उसका नम्बर लिया, धड़कते हुए दिल के साथ टोकरा उठवाया अपना पता दिया और उसे रवाना करके अपने कमरे में

जा बैठे। ऐसे चुप, जैसे साँप सूँघ गया हो। पूरी तरह गम्भीर बने बैठे थे, पर मन का आह्लाद चेहरे पर फूटा पड़ता था। दिल में बीसियों मनसूबे बाँधे जा रहे थे—क्यों न अभी सिर-दर्द का बहाना करके खिसक जायें और देहरादूनी आमों का स्वाद चक्खें। नहीं यह ठीक नहीं। कोई सिर हो जायगा, यह महता भी खूब याद रक्खेगा। चला था राम अवतार से मज़ाक करने। मेरा टोकरा तो खैर आध मन ही का था। यह तो एक मन से कम का न होगा। आम भी अच्छे मालूम होते हैं। क्यों न हों! देहरादूनी हैं।

इसी तरह की बीसियों कल्पनाओं में उलझे पंडित राम अवतार प्रकट रूप में बड़ी तन्मयता से काम में लगे हुए थे। जब महता साहब ने बिलकुल समीप आकर उनकी ठोढ़ी पकड़कर मुँह ऊपर उठाया और बोले, "वाह, कैसे काम में लगे हुए हो जैसे यहीं शहीद हो जाओगे?" तो और भी गम्भीर होकर पंडित जी ने कहा, "नहीं, नहीं। आओ आओ बैठो! योंही आज ज़रा काम ज़्यादा है।" यह कहकर उन्होंने महता साहब को कुर्सी दी।

उनकी इस धूर्त्तता पर जलकर महता ने कहा, "मियाँ, सीधे हाथों टोकरा वापस कर दो। इन उड़नघाइयों से काम न चलेगा।"

पंडित जी ने ऐसा मुँह बनाया, जैसे कोई समझ में न आने-वाली बात सुन रहे हों। आँखें फैलाकर और मुँह को तनिक-सा खोलकर चकित से बोले, "क्या कहा? टोकरा! कैसा टोकरा? किसका टोकरा?"

"मेरा आमों का टोकरा। और किसका? पक्का एक मन देहरादूनी आम थे। यों आसानी से हज़म न होंगे।"

पंडित जी ने स्वर में तनिक सहानुभूति लाने का प्रयास करते हुए कहा, "किसने उठा लिया तुम्हारा टोकरा, ज़रा बैठो। कुल ठीक

तरह बताओ तो कुछ पता चले। मुझे तो कुछ खबर ही नहीं कि बात क्या है ?" यह कहते हुए उन्हों ने कुर्सी महता साहब के आगे खिसका दी।

महता ने खड़े खड़े ही कहा, "बात यह है कि आज देहरादून से पक्का मन भर आम आये थे। मैं घर भिजवाने को था कि लाला जी ने मुझे बुलवा भेजा। एक जरूरी काम था। वापस आया तब आम नदारद !"

यह कहते हुए महता साहब ने कुछ ऐसा निराशा भरा मुँह बनाया कि पंडित जी अपनी हँसी न रोक सके, ठहाका छोड़कर बोले, "तुम्हारे साथ ऐसा ही होना चाहिए था। भगवान ने मेरा बदला चुका दिया ?"

महता साहब जैसे गिड़गिड़ाते हुए बोले, "परमात्मा की सौगन्ध, उसमें मेरा तनिक भी दोष न था। सब शरारत लाला जी की थी। मैं तो एक टूल[1] भर था।"

पंडित राम अवतार को अचानक एक बात सूझी। गम्भीर होकर बोले—"बताऊँ ? यह भी लाला जी ही की शरारत है। मुझ से कसम ले लो। तुम्हारे आमों के आने का पता भी नहीं।"

"अच्छा उनसे पूछ देखता हूँ।" यह कहते हुए महता साहब मुँह लटकाये तेजी से बाहर निकल गये। जब बाहर बरामदे में उनके पैरों की चाप दूर होते होते बिलकुल बन्द हो गयी, तब पंडित राम अवतार ने एक लम्बा क़हक़हा लगाया और कुर्सी में धँस गये। दिल ही दिल में उन्होंने कहा, "अब मालूम होगा बच्चा जी को, किस तरह दूसरे की चीज उड़ायी जाती है।"

शाम को मित्रों ने बहुतेरा जोर दिया कि बड़े शिमले तक हो

---

१ टूल = साधन = औजार

आयें, पर पंडित जी ने एक न सुनी। उनके मन में तो आमों को देखने की, उनका स्वाद चखने की लालसा थी। कहने लगे, "आज घर में तबीयत खराब है, नौकर के हाथ कहला भेजा है कि जल्दी आना, सो भाई जा रहा हूँ। मन तो तुम्हारे ही साथ रहेगा, पर क्या किया जाय? मजबूरी है।"

और यों पीछा छुड़ा कर पंडित जी सरपट घर की ओर इस तरह भागे, जैसे त्योहार की शाम को स्कूल से छुट्टी मिलने पर मिठाई के लालच में लड़के भागते हैं।

घर जाते ही बड़े रोब से उन्हों ने पत्नी से पूछा, "आमों का टोकरा भेजा था मैंने।"

"पड़ा है। मैं ने छुआ भी नहीं।"

"तो उठो! कैंची दो। जरा खोलकर देखें।"

पत्नी जल्दी से उठी। मशीन के खाने में देखा, पर कैंची वहाँ न थी। और जगह भी देखा, पर कैंची दुर्भाग्य से न मिली। डरते हुए बोली, "मैंने बहुतेरा ढूँढा है। कैंची नहीं मिलती। पता नहीं, किसके घर चली गयी।"

भूखे सिंह की तरह पंडित जी गरजे, "तुम्हें कुछ मालूम भी होता है। जो चीज माँगो, नहीं मिलती। उठो चाकू दो।"

पत्नी को भी डाँट का उत्तर देने का अवसर मिल गया, बोलीं, "चाकू आपने कब लाकर दिया? बीस बार तो कह चुकी हूँ, एक चाकू ला दो। पर यहाँ तो एक निगोड़ी सुई तक कभी लाकर न दी, फिर चाकू की तो बात ही दूसरी है। वह द्राँती पड़ी है। उससे काट लो।"

पंडित जी मानो खून के ही घूँट भरकर रह गये। ऐसे बढ़िया देहरादूनी आमों का टोकरा, ऐसी अच्छी तरह सिया हुआ और

काटा जाय मैली पुरानी दराँती से! दौड़कर पड़ोस से चाकू माँग लाये और बड़ी सावधानी से पार्सल की रस्सियाँ काटने लगे। कभी कभी पत्नी की ओर गर्व से देख भी लेते थे। मानो कह रहे हों, तुम्हारे पीहर से भी आम आया करते थे, इनको देखोगी तो आँखें खुली रह जायँगी।

पंडित जी की वृद्धा माता भी पास आ बैठीं। उत्सुकता की नीरवता छा गयी।

पत्नी ने खड़े खड़े कहा, "दुर्गन्ध सी आ रही है। कदाचित् सड़ गये हैं।"

पंडित जी ने अन्तिम रस्सी काटते हुए कहा, "तुम्हारी नाक सड़ गयी है। देहरादूनी आम हैं, देहरादूनी।"

और जब पार्सल खुला तो दिमाग़ भन्ना गया। कमरे में सड़ाँद फैल गयी। ऊपर दो आने पँसेरी वाले आम थे और नीचे वह सब कुछ था जो महता साहब ने जमादार को चार आने देकर भर-वाया था!

पत्नी ने नाक पर हाथ रखा और "देख लिये तुम्हारे देहरादूनी आम!" कहती हुई दूसरे कमरे में चली गयी।

पंडित जी महता साहब और लाला जी को हज़ारों गालियाँ सुनाते और शून्य ही में अपना दार्शनिक भाषण झाड़ते मकान से बाहर निकल आये ताकि किसी को दस-बारह आने देकर दुर्गन्ध के उस पुलंदे को बाहर फिंकवायें।

कहना न होगा कि महता साहब और लाला जी के अतिरिक्त शेष सब मित्र-मंडली अपनी निर्दोषता दिखाने और जले पर नमक छिड़कने को उपस्थित थी।

झटके

१७ नम्बर में शादी हो रही थी।

३ नम्बर में हंस की माँ और दूसरी स्त्रियों में धीरे-धीरे बातें हो रही थीं।

"दरवाज़े तो बन्द हैं।

"तुम्हें कैसे मालूम हुआ?"

"१६ नम्बरवाली गोतों की माँ ने दीवार पर चढ़कर देखा, तुम्हारा हंस भी तो वहीं है।"

"मेरा हंस!"

"गोतो की माँ कह रही थी कि वही भाई की हैसियत से कन्यादान कर रहा है।"

"वह कन्यादान कर रहा है—मेरा हंस?"

"गोतो की माँ......"

"नहीं-नहीं मेरा हंस कैसे हो सकता है? गोतो की माँ को तो

बेपर की उड़ाने के सिवा कोई काम नहीं। हंस यदि कन्यादान करता तो मुझे क्या इस शादी का पता भी न चलता? मेरा बेटा तो मुझ से कोई बात छिपाता ही नहीं, और फिर वह क्यों इस पाप के काम में......"

"मैं पूछती हूँ, हंस की माँ यह लड़की है कौन? मुहल्ले में तो चार दिन से तरह-तरह की बातें हो रही हैं। लाज-शर्म तो इसमें नाम को भी नहीं। कल दफ्तर को जाते समय उसने बटुआ माँगा तो नंगे सिर ही बाहर सड़क तक दौड़ी आयी। शादी तो आज हो रही है, ये तो कई दिनों से इकट्ठे उठते-बैठते और हँसते-खेलते हैं।"

"कई दिनों से, इन्हें तो आपस मिलते-जुलते साल हो गया है। मैं सोचती हूँ, उसकी माँ आपत्ति नहीं करती।"

"माँओं को आजकल के लड़के क्या जानते हैं!"

"मेरा लड़का हो न ऐसा निर्लज्ज, मैं तो उसका मुँह तक न देखूँ।"

"अब सब कोई एक जैसे थोड़ा ही होते हैं। मेरा हंस करे तो मेरी इच्छा के विरुद्ध कोई बात!"

"इसका कोई आगा-पीछा नहीं क्या?"

"माँ-बाप नहीं, लेकिन मामे, चचे, ताये और दूसरे निकट-सम्बन्धी हैं।"

"तो क्या उन सब को छोड़ कर आ गयी है?"

"और क्या, सौ रुपया पाती है, उनकी यह क्या परवाह करती है?"

"सौ रुपया! कहाँ काम करती है?"

"कहते हैं मिन्टगुमरी में हेडमिस्ट्रेस है।"

"मिन्टगुमरी में ! तो इतनी दूर कैसे आ गयी ?"

"ऐसी 'फिरनिकलियों' के लिए दूर क्या और नजदीक क्या !"

"राम-राम ! लड़के, लड़कियों के घर तो ब्याहने जाया करते थे, पर लड़की लड़के के घर शादी को आती आज ही सुनी।'

"तभी तो आजकल की लड़कियाँ आसमान में थेगली लगाती हैं। जिनकी उस्तानियाँ ऐसी 'चलित्तरी' हों वे स्वयं कैसे न हवा से बातें करेंगी ?"

"हमने सुना है कि उसकी पहली पत्नी भी जीवित है।"

"अरे बहन, अभी फ़रवरी में तो विवाह हुआ है, उसके तो लड़का-लड़की भी पैदा होनेवाला है।"

"कैसी हृदयहीन है ? इसे दया नहीं आयी जो अपने ही जैसी एक लड़की के गले पर छुरी चलाने को तैयार हो गयी ? अब उसका क्या बनेगा ?"

"छोड़ देगा और क्या ?"

"मेरे सरदार जी भी एक दिन मुझे कहते थे—मैं तुम्हें छोड़-कर दूसरी शादी कर लूँगा।"

"ऐसा भी क्या अँधेर है ? दूसरी शादी कर लेगा ! हँस रहा होगा। उसकी आदत जो है, नहीं सब क्या उस जैसे लफ़ंगे हो जायेंगे ? मेरा हंस भी अपनी शादी पर ऐसी बातें करता था, पर छोड़ना तो दूर रहा, मजाल है जो मेरी बहू के कानों में इन बातों की भनक तक पड़ी हो। उधर बहू ब्याह कर लाया। और इधर रोने लगा—मेरी जिन्दगी तुमने खराब कर दी है। तुम ही उसे देखकर आयी थीं। क्या वह मेरे योग्य है—इतनी बड़ी, इतनी मोटी, इतनी ऊँची, इतनी फूहड़, हँसती है तो चेहरे पर दसियों कोन बन जाती हैं। और तो और उसके पिता तक कहने लगे—मैं हंस

की दूसरी शादी कर दूँगा। लेकिन मैं माँ होकर कैसे सहन कर लेती ? मेरे आगे लड़की नहीं क्या और मेरा बेटा ऐसा आज्ञाकारी है कि 'कुसका' तक नहीं। और अब तो परमात्मा की कृपा से उसके घर बाल-बच्चा भी होनेवाला है।"

"मैं तो सुनती हूँ, हंस की मर्जी ही से हो रही है यह शादी। गोतो की माँ ही कहती थी कि एक दिन दोनों बातें कर रहे थे—हंस उसे समझा रहा था कि मेरी जिन्दगी तो बर्बाद हुई, तुम क्यों अपना जीवन तबाह करते हो ? और फिर उस समय जब कि तुम्हें ऐसी योग्य और समझदार पत्नी मिलती है।"

"योग्य—यही योग्यता है न कि सौत पर चढ़ी आ रही है ?"

"कब कहती थी गोतो की माँ ? मैं पूछूँगी न जाकर, कब हंस ने ये बातें कहीं। हमसे तो उसे न जाने कैसा वैर है ? ऐसी बातें उड़ायगी जिनका सान होगा, न गुमान। मैं कहती हूँ, यदि हंस की मर्जी ही से होती तो मुझे इस शादी का पता ही न चलता। मेरे सामने तो वह सदैव उसे कोसता रहा। इतने दिनों से यह लड़की आयी हुई है, कहो तो एक दिन को भी मेरे घर में इसने पैर रखा हो। मैंने साफ़-साफ़ कह दिया था—मेरे घर न आये। मैं इस पापिन का मुँह नहीं देखना चाहती। अब जाकर बैठने का क्या है, दफ़्तर में इकट्ठे काम करते हैं, शादी के वक्त वहाँ जा बैठा होगा, गोतो की माँ तो......

"पर मैं कहती हूँ वह तो पहली पत्नी के होते हुए शादी करने चढ़ दौड़ा है। संसार में ऐसे आदमी भी हैं जिन्होंने पहली पत्नी की मृत्यु के बाद आजीवन शादी नहीं की।"

"सात नम्बर के सेठ ही को देख लो।"

"हाँ, सात नम्बर के सेठ को देख लो। चालीस वर्ष की कोई

उम्र होती है, पर पत्नी के मरने के बाद, मजाल है जो शादी का नाम भी लिया हो।'

७ नम्बर के वही सेठ साहब अपने बरामदे में बैठे हुए चन्द मित्रों से गर्ज-गर्जकर कह रहे थे—

"यह मुहल्ला है या कंजरखाना—हम एक पल के लिए भी यह सब सहन नहीं कर सकते, मुहल्ले की बहू-बेटियों पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा?"

"मैं कहता हूँ इसे झख ही मारनी थी तो कहीं मन्दिर में जाकर मार लेता, यह क्या हुआ कि एक लड़की को भरे मुहल्ले में अन्दर डालकर उससे शादी रचा ली। मैं कल ही जाकर रायसाहब से कहूँगा, इसे तत्काल निकाल बाहर करें।"

"सुनते हैं, रायसाहब के लड़के से इसकी मैत्री है।"

"फिर क्या हुआ? मैं कहता हूँ न निकालें रायसाहब। ऐसा ठीक करूँगा इसे कि तीस हजारी छोड़, दिल्ली से भाग जायगा। यह किसी व्यक्तिविशेष का प्रश्न नहीं, यह सारे समाज का प्रश्न है। चार गुण्डे पीछे लगा दूँ तो होश ठिकाने आ जायँ।"

"होश—मैं कहता हूँ, वे इसकी इस ज़रा-सी बीवी को उठाकर ले जायें।"

"हाँ और क्या।"

"मैं कहता हूँ सेठ जी, आप तो इसके सामने रहते हैं। आपने इसे समझाया नहीं?"

"हमसे यह बात ही कब करता है। दो महीने हो गये इसे यहाँ आये हुए, कभी हमसे तो राम-राम भी नहीं हुई। अपने आप को न जाने क्या समझता है? हम तो इसके लिए जैसे मूर्ख हैं।

अक्लमन्द बना फिरता है साला, यह कहाँ की अक्लमन्दी है ?"

"आखिर इसकी पहली बीवी में दोष क्या था ?"

"पहली नहीं दूसरी कहो। पहली को तो मरे हुए आज कई वर्ष हो गये। उससे तो एक लड़का है, पाँच-छः वर्ष का।"

"खैर दूसरी ही सही। आखिर उसमें दोष क्या है ?"

"यही तो मैं कहता हूँ—पत्नी में कोई दोष हो, वह बाँझ हो, लूली हो, लँगड़ी हो, उस पर फ़ालिज गिर पड़ा हो, उसका अंग भंग हो गया हो तो आदमी दूसरी शादी कर ले। इसकी दूसरी पत्नी में तो कोई दोष ही नहीं। गोतो की माँ ने इसकी माँ से पूछा था। कहती थी, बड़ी नेक और भली लड़की है। खाना बनाना, सीना-पिरोना सब जानती है।"

"इसकी माँ तो दूर रही, इसने स्वयं एक दिन मुझ से कहा था—औसत आदमी की नज़र से देखने पर उसमें कोई दोष नहीं। मैट्रिक तक पढ़ी, घर के काम-काज में दक्ष, भली लड़की है, पर मेरा उसका निर्वाह नहीं हो सकता। किसी प्रकार का मानसिक या बौद्धिक सम्बन्ध हम में असम्भव था। कोई क्लर्क उसे पाकर अपने आपको धन्य मानता।"

"क्लर्कों को तो जैसे यह आदमी ही नहीं ख्याल करता, अपने आपको न जाने क्या समझता है ?"

"अजी यह मानसिक और बौद्धिक सम्बन्ध की बातें तो सब ढकोसले हैं। पूछे कोई इससे कि यदि तुझे तेरे जैसी संगिनी न मिलती थी तो तूने शादी ही क्यों की। अपना बच्चा था उसका पालन-पोषण करता, आखिर विवाह का उद्देश्य ही क्या है ? संतान-वृद्धि। जो व्यक्ति संतान के होते हुए भी विवाह करे उस-सा मूर्ख कोई नहीं। जब मेरी पत्नी का देहांत हुआ, मेरा लड़का केवल

आठ वर्ष का था। उस वक्त मेरी उम्र भी कोई ज्यादा न थी। यही बत्तीस-पैंतीस की होगी मित्रों और सगे-सम्बन्धियों ने जोर भी दिया, पर मैंने एकदम इनकार कर दिया। अपने इस बच्चे को पाला, पढ़ाया और किसी योग्य बनाया। अरे उस समय की बात तो दूर रही, अभी परसों लाला रामनारायण मुझ पर जोर दे रहे थे—सेठ, अब भी आराम से रहना चाहो तो विवाह कर लो। मैंने साफ़ कह दिया कि मैं आराम से हूँ, मैं सुखी हूँ। मैं यह पाप न करूँगा, मैं यह गुनाह न करूँगा। मैं यह......"

और नम्बर २१ में सरदार जसवंतसिंह अपनी बीवी से कह रहे थे:—

"आखिर बुरा क्या कर रहा है? उस हरामजादे सेठ की बात करती हो। मुहल्ला उससे तंग है। कोई लड़की, कोई बहू, कोई स्त्री गुज़रे, वह घुटनों से ऊँचा साफ़ा बाँधे सिर पर हाथ फेरता-फेरता, नंगे बदन दरवाज़े में आ खड़ा होता है। और वह उसका बेटा, वह क्या करता है? मुहल्ले भर की बातें सूँघने के सिवा उसे काम ही क्या है? ये लोग मानसिक व्यभिचार करते हैं...अमुक की लड़की सुबह छत पर जाकर बाल छटकाती है...अमुक की पत्नी घूँघट नहीं निकालती...अमुक की माँ इतनी पतली धोती बाँधती है कि सब कुछ दिखायी देता है...इन सब बातों का ज़िक्र कर के आनन्द पाने के सिवा ये और करते क्या हैं? भूखे और नदीदे कहीं के। मैं कहता हूं इन सब बातों की अपेक्षा क्या यह अच्छा न था कि वह धर्म का अवतार सेठ, चुपचाप दूसरी शादी करके घर बसाता और मैं पूछता हूँ कि हम ही कौन-सा बड़ा तीर मार रहे हैं? इस सारी बकबक-झकझाख से क्या यह अच्छा न था कि मैं दूसरा विवाह

कर लेता। तुम क्या सुख पाती हो मेरे साथ ? कौन-सा सुख देती हो मुझे ? और वह कौन-सा सुख है जो हमें अब मिल रहा है और तब न मिलता ? तंग करती हो, तंग होती हो, रोती हो, रुलाती हो, पिटती हो, पिटाती हो—मैं स्वयं सोचता हूँ कि इस सारी झूठी जिन्दगी को खत्म करके दूसरी शादी कर लूँ..."

और नम्बर १० में नगेन्द्र रामरत्न से कह रहा था:—

"मैं कहता हूँ, इसमें कौन-सा सुर्खाब का पर लगा हुआ है कि लड़कियाँ इस पर मरती है.? हमें तो कोई साली नहीं पूछती, और विडम्बना देखो मेरी पत्नी यही समझती है कि दुनिया-जहान की लड़कियाँ मुझ पर जान दिये दे रही हैं। एक दिन कहने लगी, मैं तो सुबह-शाम परमात्मा से यही प्रार्थना करती हूँ कि आप बिल्कुल गंजे हो जायँ, ताकि मैं और केवल मैं ही आप से प्रेम कर सकूँ !"

"भगवान बचायें ऐसे प्रेम से !"

"और क्या !"

"मैं कहता हूँ यार इसके पास तो कई लड़कियों के पत्र आते हैं। मैं ने स्वयं अपनी आँखों से देखे हैं !"

"यही तो मैं कहता हूँ, हमें तो कोई कम्बख्त खत नहीं लिखती।'

"भई, बात यह है कि वह कवि है।"

"तो हम क्या इतनी देर से घास छीलते रहे हैं। मेरी कविताओं को पढ़कर तो किसी ने पत्र नहीं लिखा। इतनी दूर से भाग आना और शादी के लिए तैयार हो जाना तो दूसरी बात है।"

"यही तो मैं भी सोचता हूँ। आखिर इसमें कोई न कोई गुण तो है ही। यूसुफ़ तो वह है नहीं कि लड़कियाँ इसके सौन्दर्य पर मरती हों। पति की हैसियत से वह अत्यन्त अनुचित किस्म का

आदमी है। जिस व्यक्ति की पहली पत्नी को मरे हुए सात-आठ वर्ष हो गये हों और पाँच-छै वर्ष का लड़का मौजूद हो, दूसरी बीवी जीवित हो और उसके लड़का-लड़की होनेवाला हो, उससे यदि कोई लड़की विवाह करने को तैयार हो जाय तो उस व्यक्ति में कोई न कोई गुण तो होगा ही। फिर तुर्रा यह कि लड़की कुरूप नहीं, अपढ़ या गँवार नहीं, अच्छी भली सूरत रखती है, एम ए०, बी० टी० है, हेडमिस्ट्रेस है और सौ रुपया वेतन पाती है। वास्तव में, बात यह है कि इसे लड़कियों की सहानुभूति प्राप्त करने का गुण याद है। रेडियो स्टेशन पर ही देख लो, वह कितनी जल्दी स्त्रियों की सहानुभूति प्राप्त कर लेता है। यही सहानुभूति बाद को प्रेम बन जाती है।"

"इस नपुंसक से व्यक्ति से किस तरह उन्हें प्रेम हो जाता है, मैं इसी पर हैरान हूँ। हम तो आज तक यही सुनते आये हैं कि 'स्त्रियाँ सौन्दर्य्य और शक्ति पर मरती हैं।' हम तो व्यर्थ ही डंड पेल पेलकर मरा किये।' मेरा विचार है कि आजकल की लड़कियों में दम खम ही नहीं। नर पुरुष से वे कन्नी कतराती हैं। मैं पूछता हूँ यार, वह निर्मला कैसी है? मेरा जी चाहता है कि किसी को बाँहों में लेकर इतना भींचूँ कि उसका दम निकल जाय।"

"तुम भी बस वह हो। अरे निर्मला में क्या रखा है, हड्डियाँ हैं, मांस का नाम तक नहीं।"

"पर मिल जाय तो बुरा क्या है?"

"मिल ही जायगी, इसका कौन ठिकाना है? भई, इन आजकल की लड़कियों का कुछ पता नहीं चलता, सरसरी नजर से देखने पर मालूम होता है कि पलक झपकते ही गोद में आ गिरेंगी। लेकिन पास जाने पर उतनी ही दूर दिखायी देती हैं और फिर मेरा अनुभव तो यह भी है कि जो लड़की एक के घर जाती हो, जरूरी नहीं कि

वह हरेक के जाने को तैयार हो जाय !"

"पसन्द तो मैं भी उसे नहीं करता, चिचुड़ी सी हड्डी जैसी तो है, लेकिन......मैं चाहता हूँ कि अपनी सब कविताओं को उठाकर पुर्जे पुर्जे कर आग में झोंक दूँ !"

"तुम्हारी कविताएँ तो अच्छे-अच्छे मर्मज्ञ नहीं समझ सकते, फिर ये लड़कियाँ क्या समझेंगी ?"

"निर्मला तो एम० ए० है।"

"एम० ए० होने से तो कोई कविता का रस लेना नहीं सीख लेता, ये सब वैसी हल्की चीजें चाहती हैं, जैसी कि वह लिखता है...आदर्शहीन और निरर्थक प्रेम से ओत-प्रोत ?"

"मैं कहता हूँ यार, सुल्ताना कैसी है।"

"कौन सुल्ताना ?'

'वही जो स्टेशन पर गाने आती है।"

"कोई इतनी सुन्दर तो नहीं पर शरीर उसका सदैव आमन्त्रण देता है।......पर वह तो महँगी वेश्या है।"

"लेकिन यार गजब का गदराया शरीर है उसका।"

"और गला कैसा पाया है कम्बख्त ने ?"

"और गोलमोल गलगोथने गाल।"

"और आँखें—बड़ी-बड़ी मुस्कराती।"

"वाणी में जादू, बातें करती है तो मन्त्र फूँकती है।"

"और चाल, पग-पग पर प्रलय जगाती है।"

"मैं तो आज वहाँ जाऊँगा। चलो, उठो, नावेल्टी में पिक्चर देखेंगे। कारोनेशन से कुछ पिये-पिलायेंगे और फिर उधर चलेंगे। जल्दी उठो......मेरा जी चाहता है, किसी बाहों में लेकर इतना भींचूँ कि उसका दम निकल जाय।"

उपकरण—१

संख्या	स्थान	रचना-काल
१ तकल्लुफ़	रसूलाबाद (इलाहाबाद)	१९४८
२ आ लड़ाई आ मेरे आँगन में से जा !	पंचगनी	१६४७
३ चपत—पहली बार	लाहौर	१९३४
दूसरी बार	,,	१९३६
४ जब सन्तराम ने बेलना उठाया	पंचगनी	१९४७
५ लिरेंजाइटिस	इलाहाबाद	१९४८
६ रसपान—पहली बार	लाहौर	१९३४
दूसरी बार	,,	१९३६
तीसरी बार	पंचगनी	१९४८
७ वीतरागी	मलाड (बम्बई)	१९४६
८ पछतावा	लाहौर	१९३२
९ फ़तूर	,,	१९३९
१० डा० वेदव्यास और उनकी दूसरी पत्नी—पहली बार	,,	१९३८
दूसरी बार	दिल्ली	१९४३
तीसरी बार	पंचगनी	१९४८
११ दलदल	इलाहाबाद	१९४८
१२ हमारा पहला त्याग-पत्र		
पहली बार	लाहौर	१९३१
दूसरी बार	पंचगनी	१९४८

१३ अभाव—पहली बार	लाहौर	१९३१
दूसरी बार	पंचगनी	१९४८
१४ तख्त महल—पहली बार	प्रीत-नगर	१९३९
दूसरी बार	इलाहाबाद	१९४८
१५ छिद्रान्वेषी	पंचगनी	१९४७
१६ चारा काटने की मशीन	इलाहाबाद	१९४८
१७ रोब दाब	लाहौर	१९३८
१८ गली का नाम	लाहौर	१९३६
१९ मिस्टर घटपांडे	पंचगनी	१९४७-४८
२० ज्ञानी	इलाहाबाद	१९४८
२१ मनुष्य यह	लाहौर	१९३७
२२ आर्टिस्ट	लाहौर	१९३३
२३ पुनर्मूषक—पहली बार	लाहौर	१९३३
दूसरी बार	पंचगनी	१९४७
२४ केवल जाति के लिए	लाहौर	१९३३
२५ तमाशा	इलाहाबाद	१९४८
२६ सम्वाददाता	लाहौर	१९३३
२७ चैत्र शुक्ल तृतीया—		
पहली बार	लाहौर	१९३३
दूसरी बार	इलाहाबाद	१९४८
२८ नमक ज्यादा है	लाहौर	१९३२
२९ नहूसत	लाहौर	१९३८
३० अक्ल	पंचगनी	१९४७
३१ नेता	लाहौर	१९३१
३२ झाँकी	लाहौर	१९३४

३३ आँखों देखी बातें	लाहौर	१९३८
३४ स्पोर्ट्समैन	दिल्ली	१९४१
३५ चोरी चोरी	लाहौर	१९३२
३६ माया	लाहौर	१९३५
३७ मोह-मुक्त हो !	इलाहाबाद	१९४८
३८ क्रोकों के मज़ाक	शिमला	१९३४
३९ गुड़ की अँदरखी	लाहौर	१९३६
४० प्रचार मंत्री—पहली बार	लाहौर	१९३४
दूसरी बार	बम्बई	१९४६
४१ गिलट	लाहौर	१९३३
४२ झटके	दिल्ली	१९४१

उपकरण—२

१९३१

अभाव ; हमारा पहला त्याग-पत्र ; नेता

१९३२

पछतावा , नमक ज्यादा है ; चोरी चोरी

१९३३

सम्वाद दाता ; आर्टिस्ट ; गिलट ; केवल जाति के लिए
पुनर्मूपक ; चैत्र-शुक्ल-तृतीया;

१९३४

चपत ; रसपान ; झाँकी ; क्रोकों के मज़ाक ; प्रचार-मंत्री

१९३५

माया

१९३६

गली का नाम ; गुड़ की अँदरखी

१९३७

मनुष्य यह

१९३८

डा० वेद्व्यास और उनकी दूसरी पत्नी ; रोबदाब ;
नहूसत ; आँखों देखी बातें

१९३९

फतूर ; तख्त महल

१९४१

स्पोर्ट्स मैन ; झटके

१९४६

वीतरागी

१९४७

अस्त्र ; छिद्रान्वेषी , जब सन्तराम ने बेलना उठाया ,
आ लड़ाई आ मेरे आँगन में से जा !

१९४८

मिस्टर घट पांडे; चारा काटने की मशीन; ज्ञानी; मोह मुक्त;
तमाशा ; दलदल ; लिरेंजाइटिस ; तकल्लुफ ।